भूमिका

नाटककार श्रीहर्ष—नागानन्द की प्रस्तावना से यह बात भली भांति विदित हो जाती है कि इस नाटक के रचयिता 'श्रीहर्षदेव' हैं। यह कोई महाराजा थे और इनके अधीन एक खासा सामन्तचक्र था, जिसके आगे यह नाटक खेल कर दिखाया भी गया था। किंतु यह हर्षदेव कौन हैं, किस समय हुए और किस वंश से सम्वंध रखते हैं—इस विषय में निर्णय करने के लिए जब हम इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, तो श्रीहर्ष नाम के हमें पाँच व्यक्ति मिलते हैं। वे हैं प्रथम—'काव्यप्रदीप' के निर्माता गोविन्द ठक्कुर के छोटे भाई, द्वितीय—प्रसिद्ध महाकाव्य 'नैषधचरित' के निर्माता, तृतीय—काश्मीर के एक नृपति जिनकी महारानी के मनोविनोदार्थ सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' रचा था, चतुर्थ—धारा नगरी के राजा मुंज के पिता तथा भोज के दादा, और पंचम—स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) के महाराज, जिनके जीवन के सम्वन्ध में प्रसिद्ध कवि बाण भट्ट ने अपना 'हर्षचरित' लिखा है। प्रश्न उठता है कि इन पांचों में से किसे नागानन्द के कर्तृत्व का श्रेय है? किंतु इन पांचों के सम्बन्ध में हमारे पास ऐतिहासिक काल-क्रम के कुछ ऐसे प्रमाण मौजूद हैं, जिनसे हम अच्छी तरह निर्णय कर सकते हैं कि इनमें पाँचवाँ व्यक्ति—थानेश्वर के महाराजा—ही प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता हैं, पूर्ववर्ती चार नहीं।

नागानन्द के अतिरिक्त श्रीहर्ष के नाम से दो और नाटिकायें—'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली'—भी निर्मित हैं, जिन तीनों का स्पष्ट उल्लेख हमें धनंजय-कृत 'दशरूपक' में हुआ मिलता है। धनंजय राजा मुंज की राजसभा के पंडित थे और क्योंकि मुंज का देहावसान काल ९९५ (ई.) था, इसलिए धनंजय का स्थिति-काल इससे पूर्व होना स्वाभाविक ही है। आनन्दवर्धनाचार्य ने भी अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में नागानन्द और रत्नावली का नाम उल्लेख किया है और आनन्दवर्धनाचार्य काश्मीर-महीपाल श्री अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई.) के राज्यकाल में हुए थे। काश्मीर के एक और महाराज श्री जयापीड़ के मन्त्री दामोदर गुप्त ने अपने ग्रंथ 'कुट्टनीमत'

श्रीहर्षप्रणीत

नागानन्द नाटक

अन्वय, पदार्थ, व्याख्या, आलोचनात्मक टिप्पण, हिन्दी अनुवाद तथा छात्रोपयोगी विशेष सामग्री सहित

●

सम्पादक

संसारचन्द्र एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत)

अध्यक्ष हिन्दी-संस्कृत-विभाग

सनातनधर्म कालेज, अम्बाला छावनी

●

प्रकाशक

भारत भारती लिमिटिड,

दिल्ली

सन् १९५२ प्रथम संस्करण मूल्य ३)

भूमिका

नाटककार श्रीहर्ष—नागानन्द की प्रस्तावना से यह बात भली भांति विदित हो जाती है कि इस नाटक के रचयिता 'श्रीहर्षदेव' हैं। यह कोई महाराजा थे और इनके अधीन एक खासा सामन्तचक्र था, जिसके आगे यह नाटक खेल कर दिखाया भी गया था। किंतु यह हर्षदेव कौन हैं, किस समय हुए और किस वंश से सम्वंन्ध रखते हैं—इस विषय में निर्णय करने के लिए जब हम इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, तो श्रीहर्ष नाम के हमें पाँच व्यक्ति मिलते हैं। वे हैं प्रथम—'काव्यप्रदीप' के निर्माता गोविन्द ठक्कुर के छोटे भाई, द्वितीय—प्रसिद्ध महाकाव्य 'नैषधचरित' के निर्माता, तृतीय—काश्मीर के एक नृपति जिनकी महारानी के मनोविनोदार्थ सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' रचा था, चतुर्थ—धारा नगरी के राजा मुंज के पिता तथा भोज के दादा, और पंचम—स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) के महाराज, जिनके जीवन के सम्वन्ध में प्रसिद्ध कवि वाण भट्ट ने अपना 'हर्षचरित' लिखा है। प्रश्न उठता है कि इन पांचों में से किसे नागानन्द के कर्तृत्व का श्रेय है ? किंतु इन पांचों के सम्वन्ध में हमारे पास ऐतिहासिक काल-क्रम के कुछ ऐसे प्रमाण मौजूद हैं, जिनसे हम अच्छी तरह निर्णय कर सकते हैं कि इनमें पाँचवाँ व्यक्ति—थानेश्वर के महाराजा—ही प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता हैं, पूर्ववर्ती चार नहीं।

नागानन्द के अतिरिक्त श्रीहर्ष के नाम से दो और नाटिकायें—'प्रियदर्शिका' और 'रत्नावली'—भी निर्मित हैं, जिन तीनों का स्पष्ट उल्लेख हमें धनंजय-कृत 'दशरूपक' में हुआ मिलता है। धनंजय राजा मुंज की राजसभा के पंडित थे और क्योंकि मुंज का देहावसान काल ९९५ (ई.) था, इसलिए धनंजय का स्थिति-काल इससे पूर्व होना स्वाभाविक ही है। आनन्दवर्धनाचार्य ने भी अपने ग्रंथ 'ध्वन्यालोक' में नागानन्द और रत्नावली का नाम उल्लेख किया है और आनन्दवर्धनाचार्य काश्मीर-महीपाल श्री अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई.) के राज्यकाल में हुए थे। काश्मीर के एक और महाराज श्री जयापीड़ के मन्त्री दामोदर गुप्त ने अपने ग्रंथ 'कुट्टनीमत'

में रत्नावली का एक[1] सारा का सारा श्लोक उद्धृत कर रखा है और इन-का स्थितिकाल आठवीं शताब्दी (ई०) का अन्तिम भाग माना गया है। इससे सिद्ध है कि नागानन्द, प्रियदर्शिका और रत्नावली का रचयिता आठवीं शताब्दी (ई०) के पूर्व का ही है, बाद का नहीं।

काव्यप्रदीप-कार के छोटे भाई श्रीहर्ष का स्थितिकाल १५ वीं शताब्दी (ई०) का मध्य भाग है। नैषधचरित के रचयिता श्रीहर्ष राजा नहीं थे, प्रत्युत कन्नौज के राजा के आश्रयवर्ती कवि थे, जैसा कि उन्होंने अपने नैषधचरित के अन्तिम श्लोक 'ताम्वूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जे-श्वरात्' में स्वयं स्वीकार भी किया है। इसके अतिरिक्त इनका स्थिति काल १२वीं शताब्दी (ई०) का अन्तिम भाग माना जाता है। काश्मीर के राजा श्रीहर्ष का स्थिति-काल सन् १०८९-११०१ है। मुंज के पिता श्रीहर्ष सन् ६७४ के कुछ पूर्व ही रहे होंगे, क्योंकि, जैसा हम पीछे वता आये हैं—सन् ९७४-९९५ तो मुंज का ही राज्यकाल रहा है। इस कालक्रम के तर्क के आधार पर हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि पूर्ववर्ती चार हर्ष नागानन्द के निर्माता हो ही नहीं सकते, क्योंकि वे सब के सब ८ वीं शताब्दी (ई०) के बहुत परवर्ती हैं और यह नाटक ८ वीं शताब्दी (ई०) के पूर्व का वना हुआ है। विल्सन महोदय ने पता नहीं किस भ्रमवश काश्मीर के राजा श्रीहर्ष को रत्नावली का निर्माता माना है।

थानेश्वर के महाराजा श्रीहर्ष ही नागानन्द के कर्ता हैं—इस सम्वन्ध में हमारे पास एक अकाटच प्रमाण और भी है और वह है चीनी यात्री इत्सिग द्वारा चीनी भाषा में सन् ६९१ में प्रकाशित 'Records of Buddhistic Religion' में दिये हुए निज भारतयात्रा वर्णन में निम्न-लिखित संदर्भ:—

"King [2]Siladitya Versified the story of the Bodhisattva Jimuta Vahan (E.T. Cloud-borne) who surrendered himself

---

१. उदयनगान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ् निशानाथम्।
परिपांडुना मुखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी ॥

२. शीलादित्य सम्राट् श्रीहर्षदेव की उपाधि थी जैसा कि ह्यूएन-सांग ने भी कहा है।

in place of a Naga. This Version was set to music (lit-string and pipe). He had performed it by a band accompanied by dancing and acting and thus popularised it in his tune." (Page 163-164, Translated by Takakusu).

अर्थात् सम्राट् शीलादित्य (श्रीहर्ष) ने एक नाग के स्थान में अपने को समर्पण कर देने वाले बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की कहानी को पद्यबद्ध किया; इसे संगीत के रूप में लाकर नृत्य और अभिनय के साथ प्रदर्शित करवाके अपने समय में लोकप्रिय बनाया।

चीनी परिव्राजक इत्सिंग अपने धर्म-ग्रंथों के अध्ययनार्थ श्रीहर्ष के निधन के बाद सन् ६७१ में भारत आया था और १० वर्ष तक नालन्दा विश्वविद्यालय में अध्ययन करता रहा।

श्रीहर्ष की नाटकत्रयी—हम पीछे कह आये हैं कि नागानन्द के अतिरिक्त दो और ग्रंथ—प्रियदर्शिका और रत्नावली—भी श्रीहर्ष के नाम से निर्मित हुए मिलते हैं। ये तीनों के तीनों एक ही कलाकार की कृतियां हैं—इस बात को सिद्ध करने के लिए हमारे पास पर्याप्त अन्तरङ्ग प्रमाण हैं। सर्वप्रथम, इन तीनों में 'अलमतिविस्तरेण' से लेकर 'श्रीहर्ष' इत्यादि श्लोक तक प्रस्तावना अक्षरशः एक ही मिलती है; दूसरे, नागानन्द के दो पद्य—"व्यक्ति-व्यंञ्जनधातुना" (I १५) और "अन्तःपुराणां विहितव्यवस्थः" (IV १) ज्यों के त्यों प्रियदर्शिका में भी आये हुए हैं; तीसरे, बहुत-से शब्दप्रयोग जैसे—भो वयस्य प्रेक्षस्व, प्रेक्षस्व, वयस्य सम्यगुपलक्षितम्, सखि अतोऽपि मे सन्तापोऽधिकतरम् बाधते, दास्याः पुत्रि हताश, लघु इत्यादि तीनों में समान मिलते हैं, साथ ही कुछ गद्य भाग भी एक से हैं 'यथा—'कन्यका निर्दोषदर्शना भवन्ति' (नागा० I) तथा 'निर्दोषदर्शना - कन्यका खल्वियम्' (प्रिय० II) अये मध्यमध्यास्ते नभस्तलस्य भगवान् सहस्रदीधितिः' (नागा० I) तथा 'अये कथं नभोमध्यमास्ते भगवान् सहस्रदीधितिः (प्रिय० II) 'भो वयस्य प्रच्छादयानेन कदलीपत्रेणेमां चित्रगतां कन्यकाम्' (नागा० II) तथा 'भो वयस्य प्रच्छादयैतच्चित्र-फलकमनेन कदलीपत्रेण (रत्ना० II) एवं 'अद्य स्वामिपादा द्रष्टव्या इति यत्सत्यमनुपमं कमपि सुखातिशयमनुभवामि (प्रिय० II) तथा अद्य खलु

चिरात् स्वामिनं द्रक्ष्यामीति यत्सत्यमानन्दातिशयेन किमप्यवस्थान्तर-मनुभवामि (रत्ना० IV) इत्यादि। इन समान गद्य-पद्यों तथा प्रयोगों के अतिरिक्त वस्तु, भाव और विचार भी तीनों में मिलते जुलते हैं। प्रियदर्शिका तथा रत्नावली में तो वस्तु और विचारों की एकता बहुत ही अधिक प्राप्त होती है। दोनों के दोनों चार-चार अंकों की नाटिकाएं हैं, दोनों की प्रारम्भिक प्रार्थना में शिव और गौरी की स्तुति है, दोनों का विषय वत्स-राज की प्रणय-कथा है, दोनों में नायिकायें प्रेम की एक-सी अभिव्यक्ति कर के उसके लिए संकटों को झेलती हैं; दोनों में षड्यंत्रों की रचना विदूषक और नायिका की सखी द्वारा होती है और भेद खुलने पर दोनों के दोनों रानी के कोप-भाजन वन कर वन्दी बनाये जाते हैं; दोनों में राजा नायिका की रक्षा करता है और पूरा पूरा परिचय मिल जाने पर अन्ततोगत्वा नायिका राजा को दी जाती है; दोनों में उपवन के वृक्षों तथा युद्धदृश्यों का एक-जैसा ही वर्णन आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे ग्रंथकार को प्रियदर्शिका वनाकर मन में कुछ असंतोष-सा रहा हो कि यह अच्छा नहीं बना और इसी कसर को मिटाने के लिए उसने उसी ढांचे पर रत्नावली का निर्माण किया हो? वास्तव में प्रियदर्शिका की अपेक्षा रत्नावली में पर्याप्त सुधार देख पड़ता है और वह कला की एक उत्कृष्ट चीज है। विचारों की एकता के लिए नमूने के तौर पर थोड़ा-सा रत्नावली और नागानन्द को भी मिलाइए यथा—"न्याय्ये वर्त्मनि योजिताः प्रकृतयः" इत्यादि (नागा० I) तथा "राज्यं निर्जितशत्रुयोग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः" इत्यादि (रत्ना० I) "दृष्टा दृष्टिमधो ददाति" इत्यादि (नागा० III) तथा "प्रणयविशदां दृष्टिं वक्त्रे न ददाति शंकया" इत्यादि (रत्ना० III)। विचार-साम्य के अतिरिक्त तीनों ग्रंथों की भाषा और शैली भी एक-सी ही है और यह एक ऐसी वात है कि जो तीनों का एककर्तृत्व माने विना वन नहीं सकती, क्योंकि प्रत्येक कलाकार—चाहे वह गद्यकार हो, पद्यकार हो अथवा नाटककार हो—अपनी एक विशिष्ट शैली रखता है, और साथ ही उसके कुछ ऐसे सिद्धांत और विचार भी हुआ करते हैं, जिन्हें स्वभावतः वह अपनी विभिन्न कृतियों में पुनः पुनः समान रूप से अभिव्यक्त किये विना नहीं रह सकता। भाव, भाषा और शैली की यह एकता ही ग्रंथों में कर्तृत्व का निर्धारण करने की सर्वोत्तम

कसौटी मानी जाती है और इस कसौटी पर कसे जाने पर उपरोक्त तीनों ही ग्रंथों का एक ही कर्ता सिद्ध होता है विभिन्न कर्ता नहीं।

तीनों के अभिन्नकर्तृत्व पर सन्देह और उसका निराकरण—कुछ ऐसे भी समालोचक हैं,जो इस बात पर संदेह प्रकट करते हैं कि इन तीनों रचनाओं का एक ही कर्ता है। वे कहते हैं कि प्रियदर्शिका और रत्नावली तो एक ही कलाकार की नाटिकायें हैं, किंतु नागानन्द किसी और का ही बनाया हुआ है। मैक्डानल महोदय भी यही मानते हैं। उनका तर्क यह है कि नागानन्द में वौद्धधर्म की छाप है, क्योंकि सर्वप्रथम 'नान्दी' में ही भगवान् वुद्ध की स्तुति है; दूसरे, इसमें वौद्ध धर्म के प्रधान सिद्धांत अहिंसा पर बल दिया गया है, इसलिये इसका रचयिता कोई वौद्ध है। इसके विपरीत प्रियदर्शिका और रत्नावली में सारा का सारा वातावरण हिंदू-धर्म का है; दोनों की 'नान्दी' में शिव और गौरी की ही प्रार्थना है, इसलिये इनका कर्ता कोई हिंदू है, किंतु नागानन्द के सूक्ष्म परीक्षण पर उपरोक्त तर्क एकदम गिर जाता है, क्योंकि प्रारम्भिक प्रार्थना वुद्ध-परक होने पर भी नागानन्द में वर्णाश्रम धर्म के प्रति कहीं अश्रद्धा नहीं देख पड़ती है। हिंदू देवताओं के लिये 'वंद्याः खलु देवताः' लिखा हुआ है। नायक का पिता हिंदू मर्यादानुसार राज्य-भार पुत्र को सौंप कर 'वानप्रस्थाश्रम' अपनाये हुए अग्निहोत्री के रूप में प्रतिपादित है। पुत्र के मरने पर अपना अग्निसंस्कार करने के लिए उसे 'आहिताग्नि' की अपेक्षा वताई गई है और नायिका की सती होने की तैय्यारी एवं अन्त में हिंदू देवी गौरी माता द्वारा अमृत छिड़क कर नायक का पुनर्जीवन किया जाना—इत्यादि वातें हिंदू धर्म से ही सम्बन्ध रखती हैं, वौद्ध धर्म से नहीं। वास्तव में देखा जाय तो नागानन्द में वौद्धधर्म और हिंदू-धर्म दोनों का सम्मिश्रण है। इससे प्रतीत होता है कि इसका रचयिता धार्मिक कट्टरता से परे होकर दोनों धर्मों में समन्वय करना चाहता था। महाराज श्रीहर्षवर्धन की धार्मिक सहिष्णुता इतिहास-प्रसिद्ध है। जीवन के उत्तरार्ध में उनका वौद्ध धर्म की ओर झुकाव हो ही गया था यद्यपि हिंदू-धर्म का भी वे पूरा-पूरा आदर करते थे। इसका कारण नागानन्द में वौद्ध धर्म की छाप होने पर भी इसका रचयिता वही है जो प्रियदर्शिका और रत्नावली का रचयिता है, भिन्न नहीं। इन तीनों के अभिन्नकर्तृत्व पर शैली आदि के साम्य का तर्क

हम पीछे दे ही आये हैं।

इन नाटकों में धावक या बाण की कर्तृता का निराकरण---कुछ विद्वानों का मत है कि श्रीहर्ष ने अपनी राज-सभा के धावक-नामक कवि से ये तीन नाटक लिखवाये और उसे धन देकर खरीद के अपने नाम से प्रचलित कराया है। इस मत का बीज प्रसिद्ध साहित्य-ग्रंथ काव्यप्रकाश है, जिसके प्रारम्भ में ग्रन्थकार मम्मट महोदय ने काव्य-कला के फलों का निर्देश करते हुए धन-प्राप्ति को भी काव्य का अन्यतम फल मानने में यह पंक्ति लिखी है—"श्रीहर्षादेः धावकादीनामिव धनम्"। इसकी 'उद्योत' टीका में इस तरह व्याख्या की गई है—"धावकः तन्नामा कविः। स हि श्रीहर्ष-नाम्ना रत्नावलीनाम्नीं नाटिकां कृत्वा वहु धनं लब्धवान् इति प्रसिद्धिः" अर्थात् धावक नाम का कोई कवि था, उसने श्रीहर्ष के नाम से रत्नावली नाम की नाटिका बनाकर बहुत धन प्राप्त किया यह प्रसिद्ध ही है। कहीं-कहीं काव्य-प्रकाश की उपरोक्त पंक्ति पर ऐसा भी पाठ-भेद पाया जाता है—"श्रीहर्षादेर्बाणादीनामिव धनम्"। इसी के आधार पर डाक्टर हॉल तथा बुहलर महोदयों ने तो यह माना है कि बाण कवि ही इन तीनों नाटक-ग्रंथों का असली रचयिता है किंतु कॉवेल महोदय कहते हैं कि रत्नावली का रचयिता तो बाण है, और नागानन्द का धावक और प्रियदर्शिका के प्रणेता का पता ही नहीं चलता कि कौन है। हम पीछे बता चुके हैं कि ये तीनों ग्रंथ कर्तृत्व के लिये जहाँ भी जावेंगे साथ ही साथ जायेंगे, पृथक् पृथक् नहीं। पिस्चल महोदय ने तीनों के मूलपाठों की परस्पर तुलना करके यही परिणाम निकाला है कि इन तीनों का प्रणेता एक ही है और वह धावक है, जोकि श्रीहर्ष का सम-सामयिक है। वास्तव में पश्चिमीय विद्वानों का यह मत मान्य नहीं हो सकता। कारण यह है कि श्रीहर्ष के कर्तृत्व के हमारे पास पर्याप्त अन्तरंग तथा वहिरंग प्रमाण मौजूद हैं। हम पीछे कह आये हैं कि तीनों की एक ही प्रस्तावना है, जिसमें श्रीहर्ष के कर्तृत्व का स्पष्ट उल्लेख है। 'भरत-वाक्य' भी प्रियदर्शिका और रत्नावली में एक ही है; समान भाव, शैली यहां तक कि वाक्यों तथा वाक्यांशों की अक्षरशः पुनरावृत्ति के उदाहरण हम पीछे दे ही आये हैं। इसके अतिरिक्त इत्सिंग का प्रवल साक्ष्य हमारे सामने है। वास्तव में पाश्चात्य लोगों की यह धारणा बनाई हुई प्रतीत होती है कि राजा

निरा मूर्ख होता है, वह क्या ग्रंथ बनाना जाने, यह उनका भ्रम-मात्र है, क्योंकि शूद्रक, भोज, यशोवर्मा आदि नृपति कलाकारों ने संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में जो योग दिया है, वह हम कभी भूल नहीं सकते और हमारे प्रस्तुत कलाकार श्रीहर्ष भी इसी श्रेणी के राजाओं में से हैं। लक्ष्मी और सरस्वती परस्पर सपत्नी होने पर भी दोनों कभी-कभी किसी प्रियतम पर एक-साथ मुस्करा देती हैं जैसाकि कालिदास ने भी स्वीकार किया है—"निसर्गभिन्नास्पदमेकसंस्थमस्मिन् द्वयं श्रीश्च सरस्वती च"। स्वयं बाण कवि ने '[1]हर्ष-चरित' ग्रंथ में श्रीहर्ष की विद्वत्ता तथा कवित्व शक्ति का लोहा मान रखा है। बाण सम्पन्न घर के थे। यदि अपनी कला को बेचनेवाले होते तो 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' को भी बेचकर पुष्कल धन प्राप्त कर लेते किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया, साथ ही श्रीहर्ष जैसे आदर्श राजा के लिए यह कितनी अधमता की बात है कि वह धन द्वारा औरों की रचना खरीद कर अपने नाम से प्रख्यात करके यश कमाने की सोचे। अब रही काव्यप्रकाश वाली पंक्ति की बात। वह तो एक सामान्य उक्ति है, जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि राजाश्रय में रह कर धावक-आदि ने धनार्जन किया। गुणग्राही कोई भी राजा धन तथा पुरस्कारों द्वारा अपने कलाकारों को सम्मानित करता है—यह स्वाभाविक ही है। इससे यह कदापि सिद्ध नहीं हो सकता कि श्रीहर्ष इन तीनों नाटकों का असली रचयिता नहीं है।

श्रीहर्ष का जीवन—श्रीहर्ष थानेश्वर के भूपति प्रभाकरवर्धन के द्वितीय पुत्र थे। प्रभाकरवर्धन ने हूणों तथा अपने पड़ोसी गुर्जरों एवं मालवों आदि पर बहुत कुछ विजय प्राप्त कर ली थी, किंतु सहसा सन् ६०४ में वे अकाल मृत्यु के ग्रास बन गये। फलतः उनके ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन सिंहासन पर बैठे और राज्यारोहण के बाद ही उन्होंने मालव देश पर चढ़ाई कर दी, क्योंकि मालव-नरेश देवगुप्त ने उनके बहनोई राज्यश्री के पति कन्नौज के अल्पवयस्क राजा ग्रहवर्मा को मार कर राज्यश्री को बन्दी बना दिया था। मालव-नरेश को बुरी तरह हार खानी पड़ी और वह युद्ध में मार डाला गया किंतु राज्यवर्धन को भी मालव-नरेश के अन्यतम

१. अपि चास्य ··· प्रज्ञायाः शास्त्राणि, कवित्वस्य वाचः न पर्याप्तो विषयः (पृष्ठ ७१, ७४, ७८)।

मित्र वंग के राजा शशांक ने धोखे से मार ही डाला। श्रीहर्षवर्धन केवल सोलह वर्ष के थे जबकि भाई की मृत्यु के बाद सन् ६०६ में वे राजगद्दी पर बैठे। उनका सबसे प्रथम कार्य यही हुआ कि किसी तरह बन्दीगृह से विमुक्त होकर विन्ध्याचल के जंगलों में आश्रय लिये हुए अपनी बड़ी बहिन राज्यश्री को पुनः प्राप्त किया जावे। वे एक विशाल सेना के साथ शत्रुविजयार्थ निकल पड़े और शत्रुओं को जीतते-जीतते विन्ध्याचल पहुँचे और वहां से अपनी बहिन को—जो अब जीवन से निराश होकर आत्मघात करने पर उतारू हो रही थी—उद्धार करके जब वापस कन्नौज ले आये तो वहां की प्रजा ने इन्हें वहां का राजा बनने का आग्रह किया। पहिले तो उन्होंने इन्कार कर दिया, किंतु बाद को इस प्रश्न पर बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर की सम्मति मांगी गई और उनकी यह आज्ञा हुई कि राज्य की शासिका राज्यश्री रहे पर श्रीहर्ष उसका सहकारी बनकर राज्य-कार्य का संचालन करे। इससे श्रीहर्ष को विवश होना पड़ा, और तब से इन्होंने थानेश्वर के स्थान में कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया और अपनी बहिन के साथ मिलकर ये राज्य करने लगे। इन्हें अब राज्य-विस्तार की धुन सवार हुई। लगातार पांच वर्ष तक—ह्यूएनसांग के शब्दों में—"पूर्व से लेकर पश्चिम तक के सब राजाओं का दमन करते-करते चलते गये, इस बीच न तो इनके हाथियों के ओहदे उतरे और ना ही सैनिकों के कवच खुले।" श्रीहर्ष द्वारा उत्तर भारत की पूर्ण विजय सन् ६१२ में सम्पन्न हुई और इस दिग्विजय के उपलक्ष्य में उन्होंने इस वर्ष अपने नाम का हर्ष सम्वत् चलाया। साम्राज्य-स्थापन के स्वप्न पूरे हो जाने पर अब साम्राज्य-विस्तार के लिए इन्होंने दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया और नर्मदा नदी के तट तक विजयश्री इस नर-वीर को आलिंगन करती गई। अन्त में उनकी गति महाराष्ट्रपति चालुक्यवंशीय पुलकेशी द्वारा रोक दी गई और उन्होंने उससे आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया। इनकी सार्वभौम सत्ता उत्तर भारत में पश्चिम से लेकर सुदूरवर्ती आसाम तक तथा दक्षिण में मालव, गुजरात तथा सौराष्ट्र को अपने अन्तर्गत करती हुई नर्मदा तट तक अक्षुण्ण बनी रही। सन् ६४७ में इनकी मृत्यु हुई।

श्रीहर्ष के शासन तथा राजनीति के सम्बन्ध में यहां पर विस्तृत आलोचना

करना अप्रस्तुत होगा, तो भी इतना हम अवश्य कहेंगे कि श्रीहर्ष एक सुपरिष्कृत मनोवृत्ति एवं संस्कृत रुचि के सम्राट् थे। इनके शासन में प्रजा को पूरी-पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता रही, शिक्षा को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला। तथा राज्य के कानूनों का भी अच्छी तरह पालन होता रहा यद्यपि इसमें थोड़ी-सी सख्ती अवश्य रही। कर्मरकर महोदय के शब्दों में—"श्रीहर्ष को सातवीं शताब्दी का अशोक अथवा अकवर कहा जा सकता है।" अकवर की तरह इन्होंने वचपन में ही शस्त्र उठा लिया था और अपनी मृत्यु के पश्चात् एक विशाल साम्राज्य थाती के रूप में छोड़ गये। अकवर के समान ये भी कला-व्यसनी एवं साहित्यिक रुचि वाले व्यक्ति थे। अकवर की तरह ही धार्मिक सहिष्णुता इनके स्वभाव का विशेष अंग था। सम्राट् अशोक के समान इनका आयु के उत्तरार्ध में वौद्ध धर्म की ओर झुकाव हो गया था जो कि प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यूएनसांग के प्रभाव में उत्तरोत्तर वढ़ता ही गया किंतु हिंदू धर्म पर भी इनकी श्रद्धा वनी ही रही। सूर्य भगवान् इनके कुल देवता थे, जिनके विषय में "एकःश्लाघ्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयासः (नागा० III १८)" कह कर इन्होंने अपनी अपार श्लाघा को प्रकट किया है। कहते हैं कन्नौज में इन्होंने वहुत-सा द्रव्य व्यय कर के ऐसे ऐसे मन्दिर वनवाये थे, जिनमें शिव, सूर्य तथा वुद्ध भगवानों की साथ साथ ही पूजा हुआ करती थी। नागानन्द नाटक इनकी कुछ ऐसी धार्मिक समन्वय वाली मनोवृत्ति का प्रतीक प्रतीत होता है।

श्रीहर्ष स्वयं एक प्रकाण्ड विद्वान् और कवि थे तथा विद्वानों एवं कवियों के आश्रयदाता भी थे। इत्सिग के शब्दों में—"श्रीहर्ष साहित्य के वहुत ही अधिक शौकीन थे, इनकी संरक्षता में रहने वाले कलाकारों में से कुछ एक ये हैं—वाण, मयूर, मातंगदिवाकर तथा धावक"। वाण ने भी अपने हर्षचरित में स्थान-स्थान पर इनके काव्यनैपुण्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है? जयदेव कवि ने तो हर्ष को कविता-कामिनी का हर्ष कहा है। सोड्ढल ने हर्ष को 'गीर्हर्ष' की उपाधि प्रदान की है। इसके अतिरिक्त ये महान् परोपकारी और दानी भी थे। सन् ६४३ में इन्होंने कन्नौज में एक विशाल जनसभा वुलाई और अपना सव धन दीन ब्राह्मणों तथा वौद्ध भिक्षुओं में वांट दिया। ह्यूएन सांग कहता है कि श्रीहर्ष इसी तरह प्रत्येक पंचम वर्ष में अपना सारा

कोष गरीबों को दान दे दिया करते थे। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि नागानन्द में जीमूतवाहन का आदर्शमय जीवन चित्रित करके श्रीहर्ष ने व्यंग्यरूप में अपने ही व्यक्तिगत जीवन को अंकित किया है। यह बात बहुत कुछ अंश में तथ्य हो सकती है क्योंकि श्रीहर्ष एक आदर्श व्यक्ति थे।

तीनों नाटकों का निर्माण-क्रम—इन तीनों ग्रंथों में से सर्वप्रथम प्रियदर्शिका की रचना हुई है—इस पर किसी का भी वैमत्य नहीं है क्योंकि इस नाटिका में कुछ ऐसी अपरिष्कृत बातें तथा कच्ची-सी प्रतिपादन-शैली है, जो किसी कलाकार की प्रारम्भिक रचना में ही प्राप्त हुआ करती है; साथ ही यह ग्रंथ अधिकतर कालिदास के मालविकाग्निमित्र के अनुकरण पर लिखा हुआ है, इसमें मौलिकता नहीं है। इसके विपरीत रत्नावली और नागानन्द में भाव, विचार तथा शैली में प्रौढ़ता स्पष्ट लक्षित हो रही है, किंतु इन दोनों के रचनाक्रम पर विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। श्री एस्० एम्० परांजपे तथा उनके जैसे विचारों वाले समालोचकों का कहना है कि निर्माणक्रम में दूसरा स्थान नागानन्द का है और रत्नावली सबसे पीछे बनी है। वे कारण यह देते हैं कि रत्नावली उत्कृष्ट है और साथ ही वह नाटकीय टैक्नीक की दृष्टि से कला की एक आदर्श चीज़ है। दामोदर गुप्त ने अपने कुट्टनीमत में रत्नावली का ही अभिनय-क्रम अपनाया है; नाट्यशास्त्र के दूसरे लक्षण-ग्रंथ दशरूपक में धनंजय ने भी रत्नावली के आधार पर ही नाटकों में पंच-संधि आदि अंगों का विभाग बताया है। परांजपे महोदय का यह भी कहना है कि नायिका की फाँस लगाकर आत्महत्या की चेष्टा वाली घटना जो नागानन्द और रत्नावली—दोनों में समानरूपेण प्राप्त होती है, पहले-पहल नागानन्द में ही प्रयुक्त हुई है, क्योंकि यह नागानन्द की गुणाढ्य-कृत मूल कथा में आई हुई है और कलाकार को अच्छी लगने से पीछे उसने वह रत्नावली में दुहराई है। प्रो. चन्द्रशेखर तथा कर्मकर महोदय इस मत के बिल्कुल विपरीत हैं। वे नागानन्द को सब से पीछे का बना हुआ मानते हैं। उनका कहना है कि रत्नावली की अपेक्षा नागानन्द किसी तरह निकृष्ट नहीं है। नागानन्द में आदर्श पितृप्रेम तथा परोपकारार्थ आत्म-बलिदान की उदात्त भावना का प्रतिपादन है। शृंगार रस तो केवल नाटकीय मर्यादा-निर्वाहार्थ ही लाया गया है और वह भी गौणरूप से। एक कलाकार ऐसा

उच्च आदर्श प्रतिपादन करने के बाद फिर रत्नावली-जैसे साधारण सांसारिक प्रणय की ओर गिरे—यह बिल्कुल असंभव है। आत्मघात-चेष्टा की घटना के सम्बन्ध में यही क्यों न मान लें कि श्रीहर्ष ने नागानन्द की रचना के बहुत पूर्व ही गुणाढ्य-कृत मूलकथा पढ़ ली होगी और वहां आई हुई आत्मघात वाली घटना को उसने पहले-पहल रत्नावली में प्रयुक्त किया और बाद को बौद्ध धर्म की ओर अपना झुकाव हो जाने पर नागानन्द में भी दुहराया। हम भी नागानन्द को ही सब से पीछे मानने वाले मत के पक्षपाती हैं, क्योंकि उपरोक्त तर्क के अतिरिक्त—जैसा कि हम पीछे कह आये हैं प्रियदर्शिका और रत्नावली में वस्तु,भाव और वातावरण बिल्कुल समान ही हैं, इसलिए इन दोनों के निर्माण के बीच अधिक समय का व्यवधान नहीं पड़ सकता है, दोनों में उद्दाम प्रणय हिलोरें मार रहा है किंतु इन दोनों की तुलना में नागानन्द भिन्न ही विचार का प्रतिपादक है; उसमें शुद्ध सात्त्विक मनोवृत्ति है, इसलिए यह जीवन के उत्तरार्ध की चीज है। यह बात असंगत-जैसी लगती है कि कलाकार प्रियदर्शिका को लिख कर वत्सराज से अलग हो जाय; फिर बोधिसत्त्व जीमूतवाहन को लेकर नागानन्द लिखे और बाद को प्रणय के थपेड़े खाकर रत्नावली के लिए फिर वत्सराज की ओर ही वापस आ जाय। इससे स्पष्ट है कि प्रियदर्शिका के बाद रत्नावली ही लिखी गई और रत्नावली के बाद ही नागानन्द लिखा गया।

प्रियदर्शिका—यह चार अंकों की नाटिका है। इसमें राजा वत्स उदयन के अन्तःपुर की एक प्रणय-कथा है। अंगदेश के राजा दृढ़वर्मा ने अपनी कन्या प्रियदर्शिका का वत्स के साथ विवाह करने का वचन दे रखा था किंतु कलिंग का राजा उसे अपने लिये मांग रहा था। दृढ़वर्मा के इन्कार करने पर कलिंगराज ने अंगदेश पर चढ़ाई कर दी और दृढ़वर्मा को पराजित करके राजबन्दी बना दिया। युद्ध की गड़बड़ी में राजकुमारी प्रियदर्शिका किसी तरह बचा ली गई और वत्स के अन्तःपुर में पहुंचाई जाकर वहां आरण्यिका के नाम से रानी की दासी बन कर रहने लगी। एक दिन उद्यान में फूल तोड़ती हुई आरण्यिका को राजा ने देख लिया और दोनों एक दूसरे पर मुग्ध हो गये। रानी को जब इन दोनों के प्रेम-व्यापार का पता चला तो वह बड़ी नाराज़ हुई और इस शरारत के दंड-स्व-

रूप उसने आरण्यिका को बन्दीगृह में वन्द कर दिया। वेचारी राजकुमारी को कारावास में बहुत कष्ट झेलने पड़े। अन्त में वह आत्मघात करके जीवनलीला समाप्त करना चाहती ही थी कि किसी तरह रानी को इस वात का पता चल गया और अपने कार्यों पर पश्चात्ताप करते हुए उसने आरण्यिका को उन्मुक्त किया ही था कि संयोग-वश ऐसी घटना घटी कि रानी और राजा के आगे सहसा यह रहस्य खुल गया कि आरण्यिका अंगराज की पुत्री प्रियदर्शिका ही है और अन्त में रानी ने सहर्ष राजा के साथ उसका विवाह करने की अनुमति दे दी।

प्रियदर्शिका का सारा प्लॉट कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक के आधार पर खड़ा किया गया प्रतीत होता है; यद्यपि कथानक का बीज कलाकार को बृहत्कथा से ही प्राप्त हुआ है। अन्य नाटकों की तरह इसमें उत्कृष्ट रचना-चातुरी लक्षित नहीं होती। कल्पना और कला का भी कोई खास परिपाक नहीं हो पाया तो भी प्रसाद-पूर्ण शैली, वस्तु-प्रतिपादन की सरलता तथा अनेक घटनाओं एवं अवस्थाओं के उत्कृष्ट चित्रणों ने इसे अच्छा रोचक बना डाला है। यह उदीयमान कलाकार के प्रारम्भिक कला-नैपुण्य का अच्छा निदर्शन है।

रत्नावली—यह भी चार ही अंकों की नाटिका है। इसमें भी राजा वत्स उदयन के अन्त:पुर की प्रेम-कथा वर्णित है। सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नावली के विषय में पहिले से ही किसी ने भविष्यवाणी कर दी थी कि वह किसी सार्वभौम की महिषी बनेगी। फलत: उदयन उससे पाणिग्रहण का प्रस्ताव करते हैं किंतु उदयन के विवाह कराने के लिए जिस जलयान में वह लाई जाती है, वह एकाएक समुद्र में नष्ट हो जाता है, पर राजकुमारी किसी तरह जहाज के टूटे हुए एक काष्ठ-फलक के सहारे किनारे लग जाती है, एवं बाद को राजा उदयन के अन्त:पुर में पहुंचाई जाकर सागरिका नाम से रानी की दासी बन कर रहने लगती है। एक दिन राजा की सागरिका पर दृष्टि पड़ जाती है और आंखें चार होते ही दोनों एक दूसरे के लिए तड़पने लगते हैं। रानी को इस प्रणयलीला का पता लग जाता है और वह सागरिका को कारागृह में डाल देती है। इस बीच एक षड्यंत्र के फलस्वरूप कोई जादूगर अंत:पुर में भेजा जाता है जो खेल ही खेल में जादू की आग पैदा करता है

और बात की बात में सारा महल आग से जलने लग जाता है। रानी घबरा जाती है और राजा से अनुरोध करती है कि वे अन्तःपुर के भीतरी कमरों में बन्द हुई सागरिका को बचाने का प्रयत्न करें। राजा एक वीर पुरुष की तरह आग की लपटों में कूद पड़ते हैं और सागरिका को बचा ले आते हैं। इसी क्षण कुछ ऐसी परिस्थिति बनती है कि यह रहस्य खुल जाता है कि सागरिका सिंहलद्वीप की रत्नावली है, जो कि रानी की चचेरी बहिन लगती है और बाद को रानी उसे अपनी सपत्नी के रूप में स्वीकार कर लेती है।

हम पीछे कह आये हैं कि रत्नावली प्रियदर्शिका का ही संशोधित और परिमार्जित रूप है। इसमें खासा अच्छा कलात्मक चमत्कार तथा प्रौढ़ और परिष्कृत रचना-नैपुण्य स्पष्ट ही देख पड़ता है। यही कारण है कि संस्कृत-साहित्य में रत्नावली नाटकीय टैक्नीक का आदर्श-स्थान ग्रहण किये हुए है और इसीलिए प्रायः सभी साहित्यकारों ने इसमें से उदाहरण ले ले कर नाटय-नियमों का लक्षण-समन्वय करके दिखाया है। इसमें काव्य-सौंदर्य तथा चरित्र-चित्रण भी खूब अच्छे हैं। साहित्य-समालोचकों के विचारानुसार तीनों रचनाओं में रत्नावली सबसे आगे है, किंतु यह बात माननी पड़ेगी कि प्रियदर्शिका की तरह रत्नावली के लिए भी श्रीहर्ष ने कालिदास के मालविकाग्निमित्र से ही नहीं, प्रत्युत विक्रमोर्वशीय से भी भाव-प्रेरणा ली है। ईर्ष्यालु रानी का मनचले राजा को नायिका के सम्पर्क से पृथक् रखना, उद्यान वाली घटना, राजा और विदूषक का झाड़ियों के पीछे छिप-छिप कर रानी की हरकतों को देखना, प्रेमी-प्रेमिकाओं का मिलन, रानी की जलन तथा नायिका का बन्दी-भवन—आदि बातों के लिए रत्नावलीकार को मालविकाग्निमित्र ने स्फूर्ति प्रदान की है। रानी को राजा की ओर से किये जाने वाले अनुनय-विनय के अवहेलन के परिणाम से भय तथा पश्चात्ताप के कारण राजा के पास जाना—आदि बातों के लिए कलाकार विक्रमोर्वशीय का आभारी है।

नागानन्द—यह उपरोक्त दोनों नाटिकाओं से बिल्कुल पृथक् जाति की चीज़ है। यह पांच अंकों का एक नाटक है।

नागानन्द की कथावस्तु—(१) विद्याधरों के सम्राट् जीमूतकेतु वृद्धावस्था आने पर राज्य-भार अपने पुत्र जीमूतवाहन को सौंप वानप्रस्थी

वन गये, किन्तु मातृ-पितृ-भक्त युवराज जीमूतवाहन को माता-पिता की सेवा के विना चैन कहां। वे भी राज्य का शासन मंत्रियों में बाँट कर सेवार्थ माता-पिता के पास ही वन चले गये। पिता ने पुत्र को आज्ञा दी कि वह कोई अच्छा-सा स्थान ढूंढे, जहां वे अपना आश्रम वना सकें। जीमूतवाहन अपने मित्र विदूषक के साथ मलय पर्वत पर चढ़े और वहां उन्हें एक अच्छा-सा तपोवन मिला। पास ही एक गौरीमंदिर था जहां से एक मधुर संगीत-ध्वनि उनके कानों में पड़ी। दोनों आगे वढ़े, तो क्या देखते हैं कि सखी-सहित एक परम सुन्दरी वीणा हाथ में लिये गौरी देवी को मना रही है। जीमूतवाहन और विदूषक झाड़ियों के पीछे छिप गये और संगीत समाप्त होने पर उन दोनों की बातें सुनने लगे। सुन्दरी सखी को कहने लगी कि आज गौरी देवी ने स्वप्न में मुझे दर्शन दिये और वर दिया कि विद्याधरों का भावी सम्राट् तुम्हारा पति वनेगा। इस वार्त्तालाप से युवराज को पता चल गया कि वह सुन्दरी कोई कन्या है और तत्पश्चात् वे अपने मित्र के साथ उन लड़कियों के सामने आ गये। जीमूतवाहन की मलयवती से आंखें चार हुई ही थीं कि इस बीच एक मुनि आकर मलयवती को बुला कर अपने साथ तपोवन में ले गया।

(२)—दूसरे अंक में काम-विकार से अकुलाई हुई मलयवती चन्दनलता-गृह में चन्द्रमणि शिला पर वैठी तथा सखी उनके संतप्त हृदय पर चन्दन-रस का लेप करती हुई दिखाई पड़ी किन्तु नायिका को किसी प्रकार भी शान्ति नहीं मिल रही थी। इतने में पैरों की आहट-सी सुनाई पड़ी और डर के मारे वे दोनों दौड़ कर पास ही अशोक वृक्ष के पीछे छिप गईं। जीमूत-वाहन विदूषक से अपनी विरह-कथा की वातचीत करते-करते उसी लतागृह में आ पहुंचे। स्वप्न में प्राप्त हुए प्रिया-मिलन की याद करते हुए उन्होंने मनोविनोदार्थ उसका चित्र वनाया तो नायिका को शंका हो गई कि उनका दिल किसी और पर लगा हुआ है। इतने में नायिका का भाई मित्रावसु अपनी वहिन मलयवती का जीमूतवाहन के साथ विवाह का प्रस्ताव लेकर आया, पर जीमूतवाहन ने इन्कार कर दिया, क्योंकि उन्हें क्या मालूम था कि आगन्तुक की वहिन ही उनकी हृदयेश्वरी है। इस पर वेचारी मलयवती का दिल टूट गया और आवेश में आकर वह फांसी लगाकर आत्म-हत्या की चेष्टा कर ही रही थी कि सखी ने हल्ला मचा दिया। जीमूतवाहन ने झट

दौड़ कर आके नायिका को रोक लिया और जब कारण पूछा तो सारा भेद खुल गया कि वही मित्रावसु की बहिन है। नायक ने साथ ले जाकर नायिका को दिखाया कि यह तो उसी का चित्र है, और किसी दूसरी का नहीं। बाद को जीमूतवाहन के पिता ने भी सिद्धराज की कन्या के साथ अपने पुत्र के विवाह की स्वीकृति देदी। (३)—तीसरे अंक में जीमूतवाहन और मलयवती का विवाह हो जाने पर खूब आमोद-प्रमोद मनाया गया। एक विशाल पानोत्सव का भी आयोजन किया गया, जिसमें सभी विद्याधरों और सिद्धों ने भाग लिया। विदूषक भी भौंरों और विट-चेटादिकों से पिण्ड छुड़ा कर वर-वधू का पार्श्ववर्ती हो गया। नायक नायिका का हाथ पकड़े सखी और विदूषक के साथ पानोत्सव को देखते-दिखाते उद्यान के भ्रमण के लिये चल पड़े। बात-ही-बात में नायक द्वारा नायिका के अंग-प्रत्यंगों के वर्णन में सखी ने भी विदूषक का खूब 'वर्णन' किया। विदूषक के रूठ कर चले जाने पर सखी भी उसे मनाने के लिये चल पड़ी। एकान्त पाकर नायक-नायिका की प्रेम की बातें होने लगीं। इतने में नायिका का भाई मित्रावसु नायक के पास यह समाचार लेकर आ पहुंचा कि उनके राज्य पर उनके शत्रु मातंग ने आक्रमण कर दिया है अतः उसने सिद्ध-सेना साथ लेकर शत्रु का विनाश करने की अनुमति मांगी, पर भला जीमूतवाहन—जिसके हृदय में शत्रु-मित्र का भाव ही नहीं था और जो सभी के लिये कल्याण की समान भावना रखता था—क्योंकर हिंसा की अनुमति देता। उसने मित्रावसु को समझा-बुझा कर शान्ति का ही मार्ग अपनाने का परामर्श दिया। (४)—चौथे अंक में जीमूतवाहन अपने साले मित्रावसु के साथ एक दिन समुद्र का ज्वारभाटा देखने निकले, तो समुद्र-तीर पर उन्हें हड्डियों का एक विशाल ढेर दिखलाई पड़ा। पूछने पर मित्रावसु से मालूम हुआ कि गरुड़ भगवान् नित्यप्रति बारी-बारी से आने वाले एक-एक नाग को खाया करते हैं और वे खाये गये उन्हीं नागों की हड्डियां हैं। सुन कर जीमूतवाहन को गरुड़ की हिंसावृत्ति पर बड़ा खेद हुआ। इतने में किसी आवश्यक कार्य पर बुलाने के लिए दूत के आने पर मित्रावसु तो वापस चला गया और जीमूतवाहन भी वापस आ ही रहे थे कि सहसा उनके कानों में किसी के रोने की आवाज पड़ी। वे आगे बढ़े, तो क्या देखते हैं कि शंखचूड

नाम का एक नाग लाल वस्त्र पहिने गरुड़ की बलि बनने के लिये वध्य-शिला की ओर ले जाया जा रहा है और साथ में उस नाग की वृद्धा माता छाती पीटप्पीट कर रो रही है। नायक का हृदय भर आया और उसने नाग के स्थान में अपने को बलि देने का आग्रह किया, परन्तु शंखचूड़, जो एक उच्च चरित्र का व्यक्ति था—अपने जीवन के लिए क्यों दूसरे के जीवन को बलि होने देता। परोपकारार्थ जीवन अर्पण करने का अवसर न मिलने पर जीमूतवाहन को बड़ा दुःख हुआ। इतने में शंखचूड़ गरुड़ के आने में कुछ देरी देख कर पास ही में स्थित दक्षिण-गोकर्ण महादेव के दर्शनार्थ चला गया। संयोगवश इसी समय जीमूतवाहन के ससुराल से विवाह की प्रार्थनानुसार लगातार दस दिन तक पहिरे जाने वाले लाल वस्त्रों की जोड़ी लेकर आदमी आया। जीमूतवाहन ने इसे परमात्मा की देन समझी और लाल वस्त्र पहिन कर झट वध्य-शिला पर बैठ गये। गरुड़ आये और झपटा मार कर उठा के उन्हें भोजनार्थ शिखर पर ले गये। इसी क्षण आकाश से पुष्प-वृष्टि और दुंदुभि-ध्वनि होने लगी। (५)—पांचवें अंक में पुत्र को बहुत देर से घर आया न देखकर जीमूतवाहन के माता-पिता को बड़ी चिन्ता होने लगी। ससुराल से पुछवाया तो वहां भी वह न था। उन्हें अपशकुन होने लगे। इतने में सहसा खून से लथपथ हुई जीमूतवाहन के शिर की चूड़ामणि वृद्ध पिता के चरणों के पास आ गिरी। देखते ही सबका दिल दहल गया। मलयवती के तो प्राण ही सूख गये। पुत्रवधू समेत वृद्ध माता-पिता पुत्र की ढूंढ़ में निकले तो रास्ते में उन्हें शंखचूड़ मिला और उससे उन्हें पता लगा कि उसके स्थान में कोई विद्याधर गरुड़ की बलि बन गया है। एकदम शोक का सागर उमड़ गया और उन सभी के लिए अब एक साथ अग्नि में भस्म हो जाने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रहा। किन्तु शंखचूड़ के आश्वासन और परामर्श पर एक बार उन्होंने इस विचार से गरुड़ का पता लगाने की ठानी कि कदाचित् उन्हें पुत्र का अन्तिम दर्शन हो जाय। ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वे अन्त में गरुड़ वाले पर्वत-शिखर पर पहुंच ही गये। उधर गरुड़ बलि-जीव को भारी पाकर हैरान था कि यह कौन है। बुरी तरह नोचे और खाये जाने पर भी जीमूतवाहन प्रसन्न मुद्रा में थे। सहसा शंखचूड़ ने गरुड़ को सम्बोधित करके कहा कि 'गरुड़ देव, तुम्हारी बलि का नाग तो मैं हूं, तुम तो विद्याधर युवराज जीमूतवाहन को खा रहे

हो, यह क्या अनर्थ कर रहे हो ? ' गरुड़ तत्काल संभल गये। उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि उनके हाथ से एक जगत्-प्रसिद्ध बोधिसत्व मारा गया। जीमूतवाहन में थोड़े बहुत प्राण शेष थे, उन्होंने माता-पिता को प्रणाम किया और फिर हमेशा के लिये आंखें मूंद लीं। गरुड़ अहिंसाव्रत ग्रहण करते हुए वहां से उड़ कर जीमूतवाहन और मरे सापों को बचाने के लिये स्वर्ग से अमृत-वृष्टि करवाने चले गये। इस बीच भगवती गौरी प्रकट हुई और अपने कमण्डलु से अमृत छिड़क कर उसने जीमूतवाहन को बचा दिया। इसी क्षण आकाश से अमृत-वृष्टि भी हो पड़ी। मरे हुए सारे नाग पुनर्जीवित होकर नागलोक को चले गये।

कथावस्तु का मूलस्रोत—स्मिथ महोदय ने नागानन्द की कथा को मौलिक माना है किन्तु वास्तव में वह मौलिक नहीं है। इसका मूल हमें 'वृहत्कथा' में मिलता है। प्रथम शताब्दी (ई०) में गुणाढ्य ने पैशाची प्राकृत में वृहत्कथा लिखी थी जो आजकल उपलब्ध नहीं होती, किन्तु वर्तमान में इसके दो संक्षिप्त संस्कृत रूपांतर मिलते हैं—१. एक का नाम बृहत्कथामंजरी है, जो काश्मीर-महीपाल अवन्तिराज (१०२८-१०६३) के राज्यकाल में स्थित क्षेमेन्द्र ने रची थी और दूसरे का नाम कथासरित्सागर है, जो काश्मीर-नृपति श्रीहर्ष (१०८९-११०१) के शासन-समय में सोमदेव ने रचा। इन दोनों में वोधिसत्व जीमूतवाहन की कथा आई हुई मिलती है। नागानन्द के निर्माता ने इसी कथा को अपने नाटक की कथावस्तु का आधार बनाया है। थोड़े-बहुत जो भी परिवर्तन किये हैं, वे नाटकीय आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए ही किये हैं, जिससे नाटककार की थोड़ी-बहुत कल्पनाशक्ति का आभास भी मिल जाता है।

मूलकथा में नाटककार द्वारा परिवर्तन—(१) मूल में नायक राजपाट छोड़ कर माता-पिता की सेवा के लिए ही वन चला जाता है और अपनी अलौकिक शक्ति से अपने राज्य पर अपने बन्धु-बांधवों के आक्रमण का पता लगाता है किन्तु नाटककार ने अलौकिक शक्ति को बीच में न लाकर शत्रुरूप में मतंग की कल्पना करके मित्रावसु से आक्रमण की सूचना दिलाई है। इस परिवर्तन से कथावस्तु में व्यवहार्य रूप आ गया है। (२) मूल में नायक गौरी के मन्दिर में जाकर मलयवती को देखता है और वहीं पर

उसके नाम-धाम का पता लगा देता है और अपना नाम-धाम भी बता देता है। किन्तु नाटककार नायक को विदूषक के साथ मन्दिर में ले जाकर मलयवती का क्षणिक मिलन कराके बीच में मुनि को लाकर सहसा विच्छेद करा देता है तथा दोनों को एक-दूसरे के नाम-धाम से परस्पर अपरिचित ही रखता है जिससे द्वितीय अंक के रोमांस के दृश्य की अपनी पृष्ठभूमि बन जाती है। (३) मूल में गौरी प्रकट होकर नायिका को आत्मघात करने से रोक देती है, किन्तु कलाकार यह कार्य नायक द्वारा करा कर रोमांस को और अधिक प्रकर्ष में पहुंचा देता है। (४) मूल में तृतीय अंक में विट-चेट आदि वाली घटना का कहीं नाम-निशान नहीं। यह सब नाटककार की अपनी कल्पना है, जो दर्शकों को विवाह के आमोद-प्रमोद में हास्य की अच्छी सामग्री देती है। (५) मूल में नायक अपने मणि-जटित कपड़ों को पहन कर वध्य-शिला पर खड़ा हो गरुड़ के नागभ्रम का कारण बनता है, किन्तु नाटककार लाल वस्त्र पहना कर ही उसे वध्यशिला पर लाया जिससे गरुड़ को जरा भी बोध न हो सका कि यह नाग नहीं। (६) मूल में नायक की चूड़ामणि मलयवती के पैरों पर गिरती है और पिता को अलौकिक शक्ति से ही अपने पुत्र की मुसीबत का पता चलता है, किन्तु कलाकार मणि को पिता के चरणों पर गिरा कर ऐसे आदर्श-पुत्र का चित्र खींचता है, जो प्रणयिनी के प्रेम को ज़रा भी महत्त्व न देता हुआ मृत्यु-समय में भी पिता के ही चरणों पर गिरना पसन्द करता है। (७) मूल में मलयवती के ही सती होने के प्रयत्न की बात आती है, किन्तु नाटक में कलाकार ने माता-पिता और शंखचूड़ को भी अग्नि में भस्म हो जाने के लिए प्रयत्न-शील बना कर करुणा के वातावरण को और भी अधिक गंभीरता प्रदान कर दी है। (८) मूल में गरुड़ पीछे हिंसा करना छोड़ देता है, किन्तु उसे विपुल पश्चात्ताप की आग में झोंक कर कुन्दन बना देना कलाकार श्रीहर्ष का ही काम है।

नाटक की सामान्य आलोचना—स्मिथ महोदय के शब्दों में—"नागानन्द भारत के सर्वोच्च श्रेणी के नाटकों में से अन्यतम है।" संस्कृत-साहित्य में इसकी प्रसिद्धि सर्वविदित है ही। नाटक का विषय एक दयावीर की परो-

पकारार्थ आत्मसमर्पण की कथा है। नायक जीमूतवाहन माता-पिता की सेवा में रत हुआ राज्यसुखों को लात मार कर, कनक और कामिनी के मोह से ऊपर उठ कर अपनी देह से संकट-ग्रस्त शंखचूड़ नाग की रक्षा करता हुआ जीवन के जिस भव्य उद्देश्य—उदात्त आदर्श—पर प्रकाश डालता है, वह सचमुच संस्कृत नाटकों में एकदम नयी चीज़ है और यही कारण है कि नागानन्द साहित्य-क्षेत्र में अपनी जाति का नाटक आप ही है। कलाकार ने परस्परविरोधी जैसे भावों का प्रदर्शन करतें हुए भी बहुत से ऐसे रोचक दृश्य उपस्थित कर रखे हैं, जिससे दर्शकों को ज़रा भी रुचि-भंग नहीं होने पाता और मन वस्तु के सतत-विकास की ओर उन्मुख ही रहता है। गौरी के मंदिर में नायक-नायिका के प्रथम मिलन का दृश्य अच्छा रुचिकर है। यद्यपि इसमें मौलिकता का अभाव ही है, क्योंकि कालिदास-बाण आदि कलाकारों ने भी अपनी शाकुन्तल, कादम्बरी आदि रचनाओं में ऐसे-ऐसे प्रथम मिलनों का पहले ही मार्मिक चित्रण कर रखा है। द्वितीय अंक में नायक-नायिका का विरह-वर्णन भी रूढ़िगत है, मौलिक नहीं। हां, नायक-नायिका का एक-दूसरे की ओर से हुआ भ्रम अवश्य मौलिक और कल्पना-प्रसूत है और कल्पना की हल्की उड़ान की यही बात तृतीय अंक में विट-चेट-विदूषक वाली घटना पर भी लागू होती है जिसमें दर्शकों के लिए हास्यरस का अच्छा मसाला भरा पड़ा है। अंत में राज्य-प्रेम, तथा माता-पिता आदि सांसरिक बातों को पृष्ठभूमि पर खड़ा करके शंखचूड़ के उदात्त चरित्र को पार्श्ववर्ती बना कर जीमूतवाहन के आदर्श चरित्र द्वारा कलाकार श्रीहर्ष ने मानव-जाति को त्याग के जिस उच्च शिखर पर चढ़ने का संकेत दिया है—वह सब देखते ही बनता है। इसके अतिरिक्त भाषा भी नाटक की सरस, एवं शैली प्रसाद-पूर्ण है और यही कारण है कि अर्थ में कहीं भी दुरूहता नहीं आने पाई है। नागानन्द की प्रसिद्धि में इस शैली ने भी कम योग नहीं दिया है।

नाटक की पारिभाषिक आलोचना—नागानन्द वीररस का नाटक है। वीरता के मूल में काम करने वाली उत्साह की भावना चार तरह से प्रस्फुटित होती है—कहीं तो वह शत्रु के दमन की ओर बल पकड़ती है, कहीं धर्म के ऊपर प्राणों तक की आहुति दे डालने का मार्ग बनाती है, कहीं सर्वस्व

तक का दान कर देने के प्रति अग्रसर होती है और कहीं किसी संकटापन्न व्यक्ति पर तरस खाकर परोपकारार्थ शरीर तक को उपयोग में लाने के लिए उभार देती है। इस तरह उत्साह के विषयभेद से वीर मनुष्य चार प्रकार का होता है—युद्धवीर, धर्मवीर, दानवीर और दयावीर। प्रस्तुत नाटक चौथे प्रकार के वीर से सम्बन्ध रखता है क्योंकि दयावीर जीमूत-वाहन एक नाग के प्राणरक्षार्थ अपना शरीर तक दे डालता है। इस तरह नाटक में मुख्य भाव वीरता ही है, बाकी भाव गौण हैं और उसी की परि-पुष्टि के लिए लाये गये हैं।

बहुत-से आलोचक नागानन्द में प्रदर्शित किये गये भावों को परस्पर-विरोधी बनाकर इस पर नाटकीय नियमों के सम्बन्ध में विविध आपत्तियां उठाया करते हैं। उनका कहना है कि प्रथम अंक के प्रारम्भ में एक तरफ तो राज-पाट छोड़कर वन चले जाने से नायक में वैराग्य-भावना बताकर शान्तरस प्रदर्शित किया जा रहा है; तो दूसरी तरफ, इसके बाद ही वन में मलयवती से आंखें चार होते ही नायक के हृदय में वैराग्य का स्थान राग ले लेता है, जोकि उत्तरोत्तर बढ़ता-बढ़ता अन्ततोगत्वा तृतीय अंक में विवाह में पर्यवसित हो जाता है। शान्त और शृंगार परस्पर-विरोधी रस हैं। इसलिए यहां दो विरोधी रसों का प्रयोग नियमविरुद्ध है। विट-चेट तथा पानोत्सव वाला सारा तीसरा अंक नाटकीय कार्य-व्यापार के विकास में कोई योग नहीं देता। वह बेकार है, क्योंकि उसके न होने पर भी कथावस्तु को कोई क्षति नहीं पहुंचती है। इसी प्रकार विवाहोपरान्त प्रणय की अभुक्त दशा में ही नायक के शरीरोत्सर्ग की बात भी अखरती है और इन दोनों में कोई सम्बन्ध भी दृष्टिगोचर नहीं होता। कोई भी दर्शक या पाठक प्रथम दृष्टिपात में ही नागानन्द को एक नाटक न कह कर दो नाटक कहेगा—तीन अंकों का नायक-नायिका के विवाह तक एक, और चौथे-पांचवें अंकों का शरीरोत्सर्ग तक दूसरा। एक सफल नाटक में एक ही व्यापार हुआ करता है, दो नहीं। इन कारणों से नागानन्द नाटकीय कार्य-व्यापार की एकता (Unity of Action) की दृष्टि से बड़ा ही दोष-पूर्ण नाटक है।

आलोचकों के उपरोक्त दोषोद्भावनों में तथ्यांश भी है, और भ्रमांश भी है। शांत और शृंगार का विरोध इस रूप में कहीं नहीं माना गया है कि

वे एकाश्रय न हों जैसा कि वीर और भयानक रसों के मध्य हुआ करता है। किसी व्यक्ति में वैराग्य के पश्चात् राग अथवा राग के पश्चात् वैराग्य होने में कोई बाधा नहीं है। शान्त-शृंगार का विरोध तो इस रूप में ही माना गया कि इनमें नैरन्तर्य न हो अर्थात् शान्त के तत्काल पश्चात् शृंगार नहीं आ सकता। मम्मटाचार्य के—"नागानन्दे शान्तस्य जीमूतवाहनस्य 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इत्यद्भुतमन्तर्निवेश्य मलयवतीं प्रति शृंगारो निबद्धः" इस कथन के अनुसार प्रस्तुत नाटक में शान्तरस के पीछे अलौकिक गान तथा वीणावादन-पाटव के द्वारा अद्भुत रस को अभिव्यक्त करके तब मलयवती के प्रति राग-भावना दिखाई है। विट-चेट आदि की घटना वाला तीसरा अंक शृंगार रस से सम्बन्धित है, क्योंकि हास्यरस शृंगार का परिपोषक हुआ करता ही है और उससे यहां शृंगार को अच्छा परिपोषण मिल रहा है। शृंगार को तृतीय अंक में समाप्त करके ही दयावीरता आती है—यह आलोचकों का सरासर भ्रम है। वास्तव में, जैसा कि हम कह आए हैं, दयावीरता नाटक का मुख्य भाव है और वह चौथे तथा पांचवें अंकों में ही आया हो ऐसी बात नहीं है। वह तो नाटक के आरम्भ से ही चला आ रहा है। सर्वप्रथम नाटक की नान्दी ही स्वयं दया और उपकार के लिए दृढ़ निष्ठा की ओर संकेत कर रही है। नायक के अर्थियों को कल्प-वृक्ष तक दे देने तथा माता-पिता की सेवा करने के लिए राज्य-सुखों को त्याग कर वन चले जाने में नायक की उपकारात्मक वृत्ति का आभास मिल ही रहा है। अपनी बहिन का नायक के साथ विवाह की बातचीत के प्रसंग में मलयवती के भाई मित्रावसु का—"यच्चासूनपि सन्त्यजेत् करुणया सत्त्वार्थ-मभ्युद्यतः" यह कहना नायक के करुणात्मक स्वभाव को व्यक्त कर ही रहा है। मलयवती के साथ अपने विवाह की सफलता को नायक स्वयं—"सफली-भूतो मे मलयवत्याः पाणिग्रहः" कहकर इस रूप में स्वीकार करता है कि विवाह में पहनने को मिले लाल वस्त्र ही उसे इस योग बना सके हैं कि वह शंखचूड़ नाग के स्थान में गरुड़ का आहार हो जावे, अतः विवाह यहां तक गौण ही वस्तु सिद्ध हुई है। नाटककार ने दया और परोपकार को अच्छी तरह परिपुष्ट करने के विचार से ही शान्त शृंगार आदि रसों का प्रयोग किया है, स्वतन्त्र रूप में नहीं। सिद्ध-सम्राट् की कन्या का अलौकिक सौन्दर्य, अतुल

वैभव तथा अभुक्त यौवन एवं प्रेम आदि शृंगार की चीजें परोपकारार्थ देहार्पण करने के वीरत्व-भाव को अपने चरम प्रकर्ष में पहुचा देती हैं। एक दीन-हीन, निरीह, जराजीर्ण पुरुष के देह-अर्पण की अपेक्षा एक तरुण का राज्यसुख तथा नवोढ़ा प्रियतमा को तृणवत् ठुकराकर देह-अर्पण कई गुणा अधिक महत्त्व रखता है, इसलिए श्रीहर्ष ने वीरता की पूर्ण अभिव्यक्ति के निमित्त शृंगार को केवल पश्चाद्भूमि ही बनाया है अतः कोई दोष नहीं। इस सम्बन्ध में इतना हम अवश्य कहेंगे कि अंगभूत शृंगार का जितना विस्तृत वर्णन कलाकार ने किया है, उतना नहीं होना चाहिए था। अंगभूत रस का अधिक विस्तार नियम-विरुद्ध है और यही कारण है कि नागानन्द का विस्तृत शृंगार स्वतन्त्र रस प्रतीत होने लगता है और नाटकीय कार्य-व्यापार की एकता (Unity of action) को भंग-सा कर देता है, अतः रोचक होते हुए भी नागानन्द में यह रचना-दोष बुरी तरह अखरता है।

नाटक और नाटककार का संस्कृत-साहित्य में स्थान—इसमें सन्देह नहीं कि नागानन्द विद्वत्समाज में खूब आदृत है और पठन-पाठन में भी इसका अपेक्षाकृत अच्छा प्रचार है, किन्तु कलात्मक दृष्टि से यह सफल नाटक नहीं कहा जा सकता है। स्मिथ महोदय ने जो इसे संस्कृत के उच्च श्रेणी के नाटकों में गिना है वह कदाचित् उपयोगिता की दृष्टि से गिना होगा, क्योंकि इसका कथानक मानव को अपने सामान्य स्तर से उठाकर एक उच्च स्तर पर रख देता है। नाटकीय टैक्नीक की दृष्टि से तो रत्नावली इसकी अपेक्षा कई गुणा अच्छी है। श्रीहर्ष के विषय में भी जयदेव कवि की "हर्षो हर्षः" उक्ति उनकी अनुप्रास-प्रियता पर अवलम्बित हुई प्रतीत होती है, ठीक इस तरह जिस तरह कि किसी हिन्दी-कवि की "सूर सूर, तुलसी ससी" यह उक्ति। श्रीहर्ष को हम शेक्सपीअर-कालिदास आदि प्रथम श्रेणी के कवियों में तो नहीं रख सकते हैं, क्योंकि इनकी रचनाओं में हमें न तो शेक्सपीअर-जैसा अन्तर्जगत् का सूक्ष्म और गम्भीर विश्लेषण मिलता है, ना ही कालिदास-जैसी एकदम नया जगत् सृजन कर देने वाली कल्पना की ऊंची उड़ानें। हां, द्वितीय श्रेणी के कलाकारों में श्रीहर्ष का स्थान अवश्य बहुत ऊंचा है। हम मानते हैं कि जहां श्रीहर्ष ने कालिदास की कला

से भाव-प्रेरणा ली है, वहां इन्होंने भी अपने परवर्ती कलाकारों को भाव-प्रेरणा दी है। उदाहरण के रूप में इनका :—

निराधारं धैर्यं कमिव शरणं यातु विनयः,
क्षमः शान्तिं वोढुं क इह ? विरता दानपरता।
हतं सत्यं सत्यं व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा ?
जगज्जातं शून्यं त्वयि तनय ! लोकान्तरगते ॥ (नागा०)

यह पद्य भवभूति-जैसे महान् नाटककार तक के :—

असारं संसारं, परिमुषितरत्नं त्रिभुवनम्
निरालोकं लोकं, मरणशरणं बान्धवजनम्,
अदर्पं कन्दर्पं जननयननिर्माणमफलं
जगज्जीर्णारण्यं कथयसि विधातुं व्यवसितः॥ (मालती०)

इस पद्य में छाया-रूपेण प्रतिफलित हुआ स्पष्ट देख पड़ रहा है। राजशेखर तो अपनी कर्पूरमञ्जरी तथा विद्धशालभञ्जिका दोनों नाटिकाओं में इनकी रत्नावली के प्रति ऋणी हैं ही।

पात्रों का चरित्र-चित्रण

जीमूतवाहन—जीमूतवाहन नागानन्द के नायक हैं। ये एक आदर्श-पुरुष हैं। इनके चरित्र में दो गुण प्रमुख स्थान लिये हुए हैं—एक तो माता-पिता के प्रति अपार भक्ति, दूसरा निस्स्वार्थ परोपकार। ये मलयवती से हार्दिक प्रेम करते हैं, किन्तु मलयवती का प्रेम इनकी दृष्टि में उतना महत्व नहीं रखता जितना कि पितृ-प्रेम। "आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुणः (I,७)" कहकर ये पितृ-सेवा-रहित राज्य तक को भी अच्छा नहीं मानते। किंतु पितृ-सेवा की तुलना में जब परोपकार का प्रश्न सामने आता है, तब ये परोपकार को विशेषता दे देते हैं। प्रजा की भलाई के लिए ये सर्वस्व तक को दे डालने में पश्चात्पद नहीं रहेंगे। इनकी दृष्टि में—"एक : श्लाघ्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयास :" अर्थात् इनके कुल-देवता भगवान् सूर्य ही एकमात्र सराहना-योग्य हैं, जो कि रात-दिन जगत्-कल्याण के लिए अथक परिश्रम में लगे रहते हैं। वन में सब तरह का आनन्द रहने पर भी इन्हें याचकों का अभाव बहुत

अखरता है, क्योंकि उसके कारण ये परोपकार के कार्य से वंचित रह जाते हैं। मतंग इनके राज्य पर आक्रमण करता है, तो इन्हें जरा भी दुःख नहीं होता, उल्टा प्रसन्न होते हैं कि अच्छा है मेरे राज्य से शत्रुओं का भी कुछ भला हो जाय। नागों की विपत्ति के सम्बन्ध में जब इन्हें पता लगता है कि नागाधिपति वासुकि नित्यप्रति एक-एक नाग को बारी-बारी से गरुड़ के लिए बलि भेजता है, तब इन्हें बड़ा आश्चर्य होता है कि क्यों वासुकि ही स्वयं 'सब की तरफ से बलि' न बना! शंखचूड़ की विपत्ति देख जीमूतवाहन उसके स्थान में तत्काल अपने को बलि के लिए प्रस्तुत कर देते हैं और इस बात का जरा भी विचार नहीं करते कि उनकी मृत्यु के बाद उनके वृद्ध माता-पिता तथा नवविवाहिता पत्नी पर क्या-क्या बीतेगी। इन्हें विचार है तो केवल शंखचूड़ के प्रति अपना कर्तव्य निभाकर परोपकार का। गरुड़ द्वारा नोचे जाते हुए इन्हें जरा भी क्षोभ और क्रोध नहीं—प्रत्युत धैर्य और प्रसन्नता होती है और इनका यह धैर्य और प्रसन्नता ही गरुड़ के लिए समस्या बन जाती है कि ऐसा विलक्षण व्यक्ति यह कौन है। गरुड़ को अपनी गलती का पता चलने पर प्रायश्चित्त-स्वरूप आत्मघात के लिए उद्यत देखकर ये उसे रोक देते हैं और उसके पापों के प्रायश्चित्त के लिए उसे अहिंसा का उपदेश देते हैं।

जीमूतवाहन का उदात्त चरित्र हमारे सामने एक आदर्श है। वह सकल जगत् को चुनौती देता है कि हिंसा से हिंसा कभी नहीं रोकी जा सकती। प्रेम और आत्मोत्सर्ग द्वारा ही हम अपनी बुराइयों का प्रतीकार कर सकते हैं। घृणा और रुधिरप्रवाह की अपेक्षा प्रेम और उपकार अधिक बलवान् हैं और अन्ततोगत्वा इन्हीं की विजय निश्चित है।

शंखचूड़—शंखचूड़ का चरित्र थोड़े-बहुत अंशों में जीमूतवाहन से मिलता-जुलता है। शंखचूड़ भी अपनी माता का परम-भक्त पुत्र है और अन्त में यही कामना करता है कि "माता भूयास्त्वमेव नः" अगले जन्म में भी तुम ही मेरी माता बनो। इसे अपने कुल और कुल की प्रतिष्ठा का पूरा-पूरा ध्यान है और ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहता, जिससे इनपर किसी तरह का कलंक लगे। अपने स्थान में जीमूतवाहन के बलिदान-प्रस्ताव को यह स्वीकार नहीं करता है, किन्तु स्वयं ही बलि बनकर अपने राजा के

प्रति अपने दायित्व को पूरा करने में अपने जीवन की सफलता मानता है। जब इसे पता लगता है कि मेरे स्थान में जीमूतवाहन गरुड़ की बलि बन गया है और मेरे कारण ही जीमूतवाहन के माता-पिता तथा पत्नी पर विपत्तिं आई है, तो इसे बहुत दुःख होता है और यह तत्काल गरुड़ का पता लगाकर उसके आगे अपनी छाती उघाड़ देता है कि गरुड़देव, असली आहार तो तुम्हारा मैं हूँ, यह नहीं है। जीमूतवाहन के मर जाने पर यह स्वयं भी चिता बनाकर उसमें जल जाने को तैय्यार हो जाता है।

शंखचूड़ एक पक्का प्रभुभक्त, सच्ची कर्तव्यनिष्ठा वाला, ईश्वर-भीरु व्यक्ति है। यदि जीमूतवाहन के बलिदान प्रस्ताव को स्वीकार करके यह अपनी रक्षा कर भी लेता तो कौन-सी बुरी बात होती। किन्तु इसे इस प्रकार अपने को बचाना नहीं भाता है, क्योंकि यह अपने कर्तव्य और उत्तर-दायित्व से कतराता है। वास्तव में शंखचूड़ का व्यक्तित्व ऊंचा है।

गरुड़—गरुड़ विष्णु भगवान् के सेवक हैं और नागाधिपति वासुकि के साथ हुए समझौते के अनुसार नित्यप्रति एक-एक नाग को अपना आहार बनाने के लिए विष्णुलोक से भूलोक आया करते हैं। इनका बल महान् है और उसका उन्हें बड़ा अभिमान रहता है। ये अपने पंखों की प्रचण्ड पवन से अपने रास्ते में से चन्द्रमण्डल को एक तरफ़ फेंक कर रथारूढ़ सूर्य तक को भी विचलित कर देते हैं। जीमूतवाहन के परोपकारार्थ आत्मसमर्पण पर मुग्ध हो देवता लोग स्वर्ग से पुष्प बरसाते हैं और दुंदुभि बजाते हैं किन्तु ये समझते हैं कि यह सब मेरे पंखों के प्रबल वायु का प्रभाव है जिसके कारण स्वर्ग के कल्पवृक्ष भी कम्पायमान हो फूल गिराने लग गए हैं और इसे प्रलय का वायु समझकर प्रलय के मेघ भी गरज उठे हैं। बुरी तरह नोचे जाते हुए भी जीमूतवाहन का धैर्य और प्रसन्न-मुद्रा देख आश्चर्य-मुग्ध हुए इनके मुंह से उनके लिए प्रशंसा की वाह-वाह निकल पड़ती है और जब इन्हें पता लग जाता है कि वे नाग नहीं हैं, बल्कि विद्याधर युवराज हैं, तो एकदम रुक जाते हैं। इन्हें अपनी गलती पर—अपने द्वारा की गई एक बोधिसत्त्व की मृत्यु पर महान् पश्चात्ताप होता है और प्रायश्चित्त-स्वरूप आत्मघात करने पर उतारू हो ही रहे थे कि एकाएक जीमूतवाहन द्वारा रोक दिये जाते हैं। जीमूतवाहन के उदात्त चरित्र पर मुग्ध हो ये श्रद्धा में उनके आगे घुटने

टेक खड़े हो जाते हैं और उनके उपदेशानुसार हिंसा को छोड़ देने की प्रतिज्ञा कर लेते हैं। जब इनके सामने ही जीमूतवाहन की इहलीला समाप्त हो जाती है, तो इन्हें महान् दुःख होता है और ये इस उद्देश्य से तत्काल स्वर्गलोक चले जाते हैं कि इन्द्रादि देवताओं से प्रार्थना करके ये जीमूतवाहन को पुनर्जीवित करने के लिए अमृतवृष्टि करा सकें और यदि वे न मानें तो इन्हें अपने बल का इतना अभिमान है कि ये स्वयं इन्द्रादियों से संघर्ष करके अमृतवृष्टि करवा छोड़ेंगे और अन्ततोगत्वा इन्होंने अमृतवृष्टि करवा ही छोड़ी।

विदूषक—विदूषक आत्रेय का चरित्र, जैसा कि प्रायः सभी नाटकों में हुआ करता है, रूढ़िगत ही है। इसे भूख बहुत सताया करती है, इसलिए यह खाने पीने की वस्तुओं से बहुत प्रसन्न रहता है। प्रथम और द्वितीय अंक में नायक को कुछ अच्छे सुझाव देते रहने से बुद्धिमान्-सा लगता है, किन्तु तृतीय अंक में विट-चेट-चेटियों के हाथ बुरी तरह बेवकूफ़ बनाया जाता है। इसे 'कपिलमर्कट' पुकारा जाता है। इसके यज्ञोपवीत तक की दुर्गति की जाती है। इसे वेदमंत्रों के अक्षर तक उच्चारण करना नहीं आता। अन्ततोगत्वा इसका मुंह काला किया जाता है। वास्तव में ब्राह्मण आत्रेय के चरित्र के प्रति प्रहार करने के बहाने नाटककार ने तत्कालीन ब्राह्मण पर व्यंग्य कसा है, जो गुण-कर्मों के स्थान में केवल जातिमात्र पर अभिमान किया करता था।

मलयवती—मलयवती नाटक की नायिका है किंतु इसका चरित्र खास महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं रखता। यह सिद्धराज की लड़की है, परम रूपवती है और गाने बजाने की कला में अच्छी निपुण है। इसकी गौरी माता पर अपार श्रद्धा है, और यह सखी द्वारा की गई गौरी की आलोचना को पसन्द नहीं करती है। जीमूतवाहन से आंखें चार होते ही उसे अपना हृदय दे देती है और एक सच्ची भारतीय रमणी की तरह अन्त तक उस पर सच्चा प्रेम बनाये रखती है। जब चित्र बनाते हुए जीमूतवाहन पर इसे संदेह होने लगता है कि वह किसी और ही स्त्री को चाहता है, तो अपने जीवन को विफल समझती हुई फांस लगाकर आत्म-घात करने को तैयार हो जाती है। जीमूतवाहन की मृत्यु पर इसे जीवन भाररूप हो जाता है और तत्काल चिता बनाकर सती होने

जाने के लिए उद्यत हो जाती है। यह मलयवती की गौरी तथा अपने पति के प्रति सच्ची भक्ति ही है, जिस पर प्रसन्न होकर गौरी देवी उसके पति को पुनर्जीवित कर देती है। वास्तव में मलयवती एक आदर्श-नारी है।

उपसंहार—नागानन्द के प्रस्तुत संस्करण के सम्पादन में हमारा यह ध्येय रहा है कि हिंदी माध्यम से संस्कृत पढ़ने वाले छात्रों के लिए यह अधिक-से-अधिक उपयोगी हो सके, क्योंकि नागानन्द का आधुनिक ढंग से सम्पादित कोई संस्करण अब तक ऐसा नहीं है जो कि छात्रों की इस आवश्यकता को पूरा कर सके। हमने नाटक के गद्य पद्य सभी भागों का अन्वयानुसारी अर्थ हिंदी में अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। प्रष्टव्य शब्दों का व्याकरण संम्बन्धी पूरा-पूरा विवेचन कर दिया है; प्रत्येक पारिभाषिक शब्द पर संक्षिप्त टिप्पण कर रखा है तथा ग्रंथ में आये हुए सभी पौराणिक गाथा-संकेतों का भी विवरण दे दिया है। व्याख्या के बाद सारे नाटक का स्वतन्त्र हिंदी अनुवाद भी कर दिया है। ग्रंथ के अन्त में सभी श्लोकों की वर्ण-क्रमानुसार सूची तथा सभी सुभाषित गद्य-पद्यांशों की व्याख्या भी कर दी है। आशा है कि हमारा यह संस्करण छात्रों की मांग को पूरा करने में सर्वथा समर्थ सिद्ध होगा। प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादन में मुझे अपने मित्र पं. मोहनदेव पन्त शास्त्री बी० ए० से बड़ी सहायता मिली है, तदर्थ मैं उनका आभारी हूं।

—संसारचन्द्र

स. ध. कालेज,
अम्बाला कण्ट।
१–६–५२

नागानन्द नाटक के पात्र

(पुरुष)

१. सूत्रधार	नाटक का प्रबन्धक
२. नायक	विद्याधरों का युवराज जीमूतवाहन
३. विदूषक	आत्रेय नाम का नायक का मित्र
४. जीमूतकेतु	नायक का पिता
५. तपस्वी	शण्डिल्य नाम का मुनि
६. मित्रावसु	नायिका मलयवती का भाई
७. गरुड़	पक्षिराज
८. शङ्खचूड़	एक नाग
९. शेखरक	विट (नायक का मित्र)
१०. वसुभद्र	कञ्चुकी (नायक का गृह-प्रबन्धक)
११. चेट, किङ्कर, प्रतीहार आदि	(नौकर-चाकर)

(स्त्री)

१. नटी	सूत्रधार की पत्नी
२. मलयवती	नायिका (विश्वावसु की पुत्री, राजकुमारी)
३. देवी	राजमाता (नायक की माँ)
४. गौरी	भगवती पार्वती
५. वृद्धा	शङ्खचूड़ नाग की माता
६. नवमालिका	विट की स्त्री
७. चतुरिका	दासियाँ
८. मनोहरिका	दासियाँ

नागानन्दम्

अथ प्रथमोऽङ्कः

नान्दी

ध्यानव्याजमुपेत्य चिन्तयसि कामुन्मील्य चक्षुः क्षणं
पश्यानङ्गशरातुरं जनमिमं त्राताऽपि नो रक्षसि।
मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तः कुतोऽन्यः[1] पुमान्

नान्दी—नाटक के प्रारम्भ में की जानेवाली प्रार्थना। प्रारम्भिक प्रार्थना के लिए यह नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है।

ध्यानव्याज०—ध्यानस्य व्याजः (षष्ठीतत्पुरुष) तम् (ध्यान के बहाने को) उपेत्य=उप+√इ (अदा० प० जाना) +य (प्राप्त होकर अर्थात् ध्यान का बहाना बनाकर), काम् (किस स्त्री को), चिन्तयसि (चिन्तन करते हो, सोच रहे हो ?), क्षणम् (क्षणभर के लिए) चक्षुः उन्मील्य=(उत्+√मील् (बंद होना)+णिच्+य) (आँख खोलकर), अनङ्ग०=न अङ्गं यस्य सः अनङ्गः (बहुव्रीहि) तस्य शराः (षष्ठीत०) तैः आतुरम् (तृती० त०) (कामदेव के बाणों से व्याकुल हुए), इमम् जनम् (इनको अर्थात् हम सुन्दरियों को) (जन शब्द 'बहुत' अर्थ का वाचक भी होता है जैसे—स्त्रीजनः (स्त्रियाँ), गुरुजनः (गुरु लोग) इत्यादि।) पश्य=√दृश् (भ्वा० लोट् मध्य० पु० ए०) (देखो) त्राता=त्रायते इति √त्रै (भ्वा० आ०) +तृ (रक्षा करनेवाले (होते हुए)) अपि=(भी) न रक्षसि (नहीं रक्षा करते हो), मिथ्याका०=करुणा (दया) शीलम् अस्य=कारुणिकः (करुणा+ठक्) मिथ्या एव कारुणिकः मिथ्याकारुणिकः असि (झूठे ही दयालु हो) त्वत्तः (तुमसे) निर्घृणतरः= निर्गता घृणा (दया) यस्मात् सः निर्घृणः (बहुव्री०) अतिशयेन निर्घृणः इति निर्घृणतरः (अधिक निर्घृणी—निर्दयी) अन्यः पुमान् कुतः (अन्य पुरुष कहाँ ?

---

[1] स कोऽन्यः।

सेर्ष्यं मारवधूभिरित्यभिहितो बोधौ[1] जिनः पातु वः ॥ १ ॥

अपि च—

कामेनाकृष्य चापं, हतपटुपटहाऽऽवल्गिभिर्मारवीरै-
र्भ्रूभङ्गोत्कम्पजृम्भास्मितचलितदृशा[2] दिव्यनारीजनेन ।

अर्थात् कहीं नहीं) इति (इस प्रकार) मार० = मारयति प्राणिनः इति मारः (√मृ + णिच् + अ) मारसहकारिण्यः वध्वः मारवध्वः (मध्यमपदलोपी समास) ताभिः (कामदेव के साथवाली स्त्रियों अर्थात् अप्सराओं द्वारा), सेर्ष्यम् = ईर्ष्या सहितम् क्रियाविशेषण (ईर्ष्या के साथ), अभिहितः = अभि + √धा + तः (कहे जाते हुए), बोधौ (ज्ञान–ध्यान–में (स्थित)) जिनः (बुद्ध भगवान) वः पातु (तुम लोगों की रक्षा करें)।

इस श्लोक तथा अगले श्लोक में भी भगवान बुद्ध से प्रार्थना की गई है। प्रार्थना में उनके जीवन की उस घटना का प्रसङ्ग बताया गया है जबकि वे समाधि में बैठे हुए थे और इन्द्र ने उनकी समाधि भंग करने के लिए दल-बल सहित कामदेव को भेजा था, किन्तु उनके आगे उसकी कुछ भी नहीं चली; साथ की सब अप्सराओं को अपना-सा मुंह लेकर वापस आना पड़ा। इस घटना को बौद्ध ग्रन्थों में 'मारविजय' कहा गया है और इसे बड़ा महत्त्व दिया गया है।

कामेना०—चापम् आकृष्य (धनुष को तानकर (बैठे हुए)) कामेन (कामदेव से) हत० = हताः पटवः पटहाः यैः ते (बहुव्री०) आ (समन्तात्) वल्गन्ति इति आवल्गिनः (आ + √वल्ग् भ्वा० + इन्) हत-पटु-पटहाश्च आवल्गिनश्च इति हत० तैः (द्वन्द्व) (ऊँचे शब्द वाले नगाड़ों को पीटने तथा चारों तरफ उछल-कूद मचानेवाले) मारवीरैः = मारस्य वीराः तैः (ष० तत्पु०) (कामदेव के वीर सैनिकों से) भ्रूभ० = भ्रुवोः भङ्गः (ष. तत्पु.) भ्रूभङ्गश्च उत्कम्पश्च जृम्भा च स्मितं च इति भ्रूभङ्गोत्कम्पजृम्भास्मितानि (द्वन्द्व) तैः चलिते दृशौ यस्य सः तेन (बहुव्री०) (भौंहों के विलास, कम्प, जम्हाई तथा मुस्कराहट से चञ्चल नयनों वाली) दिव्य० = दिवि भवः दिव्यः, दिव्यश्चासौ नारीजनः (कर्मधा०) तेन (स्वर्ग की नारियों-

१ बुद्धो । २ ललितवता ।

सिद्धैः प्रह्वोत्तमाङ्गैः पुलकितवपुषा विस्मयाद् वासवेन
ध्यायन् बोधेरवाप्तावचलित इति वः पातु दृष्टो मुनीन्द्रः ॥२॥

प्सराओं से) प्रह्वो० = उत्तमम् च तत् अङ्गम् उत्तमाङ्गम् (कर्मधा०) प्रह्वम् त्तमाङ्गं येषां तैः (बहुव्री०) (जिनका सिर झुका हुआ है—ऐसे) सिद्धैः (एक प्रकार दिव्य प्राणियों से) विस्मयात् (आश्चर्य के कारण) पुलकि० = पुलकितं वपुः स्य सः तेन (बहुव्री०) (रोमाञ्चित हुए शरीरवाले) वासवेन (इन्द्र से) दृष्टः (देखे ाते हुए) ध्यायन् = √ ध्यै + शतृ (ध्यान करते हुए, ध्यानस्थित) बोधेः (तत्त्व- ान के) अवाप्तौ (प्राप्ति के निमित्त) अचलितः (न डगमगाये हुए, अवि- चलित) मुनीन्द्रः = मुनिषु इन्द्रः (सप्तमी त०) (मुनियों में श्रेष्ठ—शाक्यमुनि— भगवान बुद्ध) वः पातु (तुम्हारी रक्षा करें) ।

तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए शाक्यमुनि—गौतम—की अटूट समाधि को देख कर क्या तो धनुष ताने कामदेव, क्या उछल—कूद मचाने वाले उसके वीर सैनिक, क्या हाव-भाव दिखाती हुई अप्सरायें, क्या सिद्ध और क्या स्वयं इन्द्र—सब की शेखी जाती रही; वे उनकी समाधि को भंग नहीं कर सके ।

प्रार्थना के इन श्लोकों में बड़ा नाटकीय महत्त्व छिपा हुआ है । भगवान बुद्ध की अचल निष्ठा नाटक के आनेवाले कथानक पर भी प्रकाश डाल देती है, क्योंकि कुशल नाटककार प्रारम्भ की प्रार्थना में ही दर्शक-गणों को अपने नाटक की हल्की—सी झलक दे दिया करते हैं । बुद्ध भगवान की तरह ही नाटक का नायक परोपकार की भावना में दृढ़ रहता हुआ जरा भी अपने कर्तव्य—मार्ग से विचलित नहीं होनेवाला है । अभी—अभी हुआ विवाह, नवयौवन, राज्य का विविध भोगविलास तथा ऐश्वर्य अपने ध्येय के सम्पादन में लगे हुए नायक के आगे ऐसे ही बेकार सिद्ध होंगे जैसे कि भगवान गौतम के आगे काम और काम की सारी सेना बेकार सिद्ध हुई है । सांसारिक भोगविलासों की तृष्णा से ऊपर उठकर जगत्- कल्याण के लिए, अहिंसा और दया की पवित्र भावना हृदय में रखे हुए प्राणों तक का बलिदान कर देना—इस बौद्ध-सिद्धान्त को दर्शकों के हृदय में अंकित कर देना ही नाटककार श्री हर्षदेव का लक्ष्य प्रतीत होता है ।

१ बोधेरवाप्तो न चलित ।

नान्द्यन्ते—

सूत्रधारः—अलमतिविस्तरेण। अद्याहमिन्द्रोत्सवे सबहुमानमाहूय नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्य पादपद्मोपजीविना राजसमूहेनोक्तः—"यत्तदस्मत्स्वामिना श्रीहर्षदेवेनापूर्ववस्तुरचनाऽलङ्कृतं विद्याधरजातकप्रतिबद्धं नागानन्दं नाम नाटकं कृतमित्यस्माभिः श्रोत्रपरम्परया श्रुतं, न च प्रयोगतो दृष्टम्। तत्तस्यैव राज्ञः सकलजन-

नान्द्यन्ते = नान्द्याः अन्ते (ष० त०) (प्रारम्भिक प्रार्थना के अनन्तर)

सूत्रधारः = (सूत्रं धारयतीति) नाटक का वह प्रधान नट-विशेष, जो सारे नाटक का सूत्र—धागा—अर्थात् प्रबन्ध सँभाले हुए रहता है (Stage-manager)।

अलम् = अव्यय, इसके योग में तृतीया होती है (बस) अतिविस्तरेण (बहुत विस्तार करने से)। इन्द्रमहोत्सवे = इन्द्रस्य महोत्सवः तस्मिन् (ष० त०) (इन्द्रदेवता के महोत्सव में) वर्षा-प्राप्ति के लिए इन्द्र के नाम का प्रतिवर्ष मनाये जाने वाला एक उत्सव होता था; इस दिन इन्द्र की ध्वजा चढ़ाई जाती थी। कालिदास ने भी अपने रघुवंश में इस उत्सव का उल्लेख किया है (देखिये काव्यमञ्जरी पृष्ठ १८६ श्लोक ३), किन्तु अब यह उत्सव लुप्त हुआ मालूम होता है। सबहु० = बहु-मानेन सह (क्रियाविशे०) (बड़े सन्मान के साथ), नाना० = नाना दिशां देशाः तेभ्यः आगतेन (पञ्च० तत्पु०) (विभिन्न दिशाओं के देशों से आये हुए), पाद० = पादौ पद्मे इव पादपद्मे (उपमिततत्पु०) पादपद्मे उपजीव्यति इति पादपद्मोपजीवी तेन (उपपदतत्पु०) (चरण-कमलों का आश्रय लेने वाले) अपूर्व० = अपूर्वं वस्तु अपूर्ववस्तु (कर्मधा०) तस्य रचना (ष० तत्पु०) तया अलङ्कृतम् (तृ० तत्पु०) (अद्भुत कथा (plot) की रचना से भूषित) विद्या० = विद्याधर-जातकेन प्रतिबद्धम् (तृ० तत्पु०) ("विद्याधर—जातक" से सम्बन्ध रखने वाला) 'जातक' भगवान बुद्ध की पूर्वजन्म की कथाओं को कहते हैं। 'विद्याधर-जातक' की कोई ऐसी कथायें होंगी, जिनमें विद्याधरों—गन्धर्वों का वर्णन है परन्तु अब तक "विद्याधर—जातक" नाम का कोई ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है। श्रोत्र० = श्रोत्राणां परम्परा तया (ष० तत्पु०) (कानों के सिलसिले से—कानों-कान) प्रयोगतः (अभिनय के रूप में) सकल० = सकलानां जनानां हृदयम् आह्लादयतीति (उपपद-

हृदयाह्लादिनो बहुमानात् अस्मासु चानुग्रहबुद्ध्या यथावत्प्रयोगेण अद्य त्वया नाटयितव्यम्" इति। तत् यावत् इदानीं नेपथ्यरचनां कृत्वा यथाऽभिलषितं सम्पादयामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] आवर्जितानि च सकलसामाजिकमनांसीति मे निश्चयः। यतः—

श्रीहर्षो निपुणः कविः, परिषदप्येषा गुणग्राहिणी,
लोके हारि च बोधिसत्त्वचरितं, नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं, किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः॥ ३॥

तत्पु०) (सब लोगों के हृदय को प्रसन्न कर देने वाले) राज्ञः (श्रीहर्षदेव के प्रति) बहु० (अत्यन्त आदर-भाव होने के कारण) अनुग्र० (कृपा के विचार से) यथावत् (ठीक–ठीक, अच्छी तरह) प्रयोगेण नाट० (खेलकर दिखाना है), नेपथ्य० = नेपथ्यस्य रचना ताम् (ष० तत्पु०) (वेष-भूषा की रचना को) यथाभि० = अभिलषितम् अनतिक्रम्य यथाभिलषितम् (इच्छानुसार) सकल० = सकलानां सामाजिकानाम् मनांसि (सारे दर्शकों के मन) आवर्जि० (अनुकूल हैं – इस ओर आकृष्ट हैं–)।

श्रीहर्षो—श्रीहर्षः निपुणः कविः (श्रीहर्ष कुशल कवि हैं) एषा परिषद् अपि (यह सभा–audience भी) गुण० = गुणान् गृह्णाति इति गुणग्राहिणी (उपपद-तत्पु० गुण + √ग्रह् + इन + ई) (गुणों को ग्रहण करने वाली, समझदार है), बोधि० = बोधिः = तत्त्वज्ञानं सत्त्वम् = स्वभावः यस्य सः (बहुव्री०) तस्य चरितम् (तत्त्वज्ञानी पुरुष अर्थात् महात्मा जीमूतवाहन का जीवन-चरित्र) लोके हारि (संसार में मनोहर है) वयं च नाट्ये दक्षाः (और हम नाटक–कला में निपुण हैं) इह एकैकम् अपि वस्तु (इनमें एक–एक भी वस्तु) वाञ्छित० = वाञ्छितस्य फलस्य प्राप्तेः (ष० तत्पु०) (इच्छित फल प्राप्त करने का) पदम् (स्थान अर्थात् कारण होती है), मद्भाग्यो० = मम भाग्यम् मद्भाग्यम् तस्य उपचयात् (मेरे भाग्य के बड़े होने के कारण) समुदित (इकट्ठा हुआ) सर्वः गुणानां गणः (सब गुणों का समूह) किं पुनः (कहना ही क्या)।

१ सिद्धराज०।

तद् यावत् अहं गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि। [परिक्रम्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] इदमस्मद्गृहं, यावत् प्रविशामि। [प्रविश्य] आर्ये! इतस्तावत्।

द्विजपरिजनबन्धुहिते मद्भवनतटाकहंसि मृदुशीले।
परपुरुषचन्द्रकमलिन्यार्ये! कार्यादितस्तावत्॥ ४॥

नटी—[प्रविश्य सास्रम्] अज्ज! इअम्हि मन्दभग्गा। आणवेदु अज्जउत्तो को णिओओ अणुचिट्ठीअदुत्ति। [[प्रविश्य सास्रम्] आर्य्य इयमस्मि मन्दभाग्या। आज्ञापयतु आर्य्यपुत्रः को नियोगोऽनुष्ठीयताम् इति।]

नेपथ्या०—(स्टेज के किनारे पर वेष-भूषा पहिरने के लिए बनाये गये कमरे (Green–room) की ओर देखकर)।

द्विजप०—द्विजाश्च परिजनाश्च बन्धवश्च (द्वन्द्व) तेभ्यः हिता (च० तत्पु०) तत्सम्बोधने (ब्राह्मण, नौकर-चाकर तथा बन्धु-बान्धवों की भलाई करनेवाली।) मद्भवन० = मम भवनं मद्भवनम् (ष. तत्पु०) मद्भवनम् एव तटाकम् (कर्मधा०) तस्य हंसि (मेरे घररूपी बावड़ी की हंसिनी!) मृदु० = मृदु शीलं यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ (बहुव्री०) (कोमल स्वभाववाली!) परपु० = परः पुरुष एव चन्द्रः (कर्मधा०) तस्मै कमलिनि (चतु० तत्पु०) (परपुरुष-रूपी चन्द्रमा के लिए कमलिनी!) अर्थात् जिस प्रकार कमलिनी सूर्य के चले जानेपर मुर्झा जाती है; चन्द्रमा की ओर झाँकती भी नहीं, इसी प्रकार मुझे छोड़कर अन्य पुरुष को न देखने वाली!) आर्ये = (श्रीमतीजी!) कार्यात् (कार्य होने के कारण) इतः तावत् (जरा इधर आइए)।

सास्रम् = अस्रेण सहितम् क्रियाविशे० (आँसू गिराती हुई)

आर्य्य = सन्मान के साथ पुकारने का शब्द; यह शब्द बिगड़ता बिगड़ता प्राकृत में 'अज्ज' बना और अब हिन्दी में 'अजी' और 'जी' के रूप में प्रयुक्त होता है (जी!) आर्यपुत्रः = पत्नीद्वारा पति के लिए प्रयुक्त शब्द! आज्ञापयतु = आ + √ज्ञा + णिच् + लोट् (आज्ञा दीजिएगा) को नियोगः (कौनसा कार्य) अनु० = अनु + √स्था + लोट् कर्मवाच्य (करना है)।

१ क्वचित् एतत् पद्यं नोपलभ्यते।

सूत्रधारः—[नटीमवलोक्य] आर्ये। नागानन्दे नाटयितव्ये किमिद-मकारणमेव रुद्यते।

नटी—अज्ज! कधं ण रोइस्सं? यदो दाव तादो अज्जाए सह थविरभावं जाणिअ अदूरजादणिव्वेदो 'कुडुम्बभारुव्वहणजोग्गो दाणीं तुमं' त्ति हिअए वितक्किअ तवोवणं गदो। [आर्य्य! कथं न रोदिष्यामि! यतस्तावत् तात आर्य्यया सह स्थविरभावं ज्ञात्वा अदूरजातनिर्वेदः, कुटुम्ब-भारोद्वहनयोग्य इदानीं त्वमिति हृदये वितर्क्य तपोवनं गतः।]

सूत्रधारः—[सनिर्वेदम्] अये! कथं मां परित्यज्य तपोवनं यातौ पितरौ, तत् किमिदानीं युज्यते? [विचिन्त्य] अथवा कथमहं गुरु-चरणपरिचर्य्यासुखं परित्यज्य गृहे तिष्ठामि? कुतः?—

पित्रोर्विधातुं शुश्रूषां त्यक्त्वैश्वर्यं क्रमागतम्।
वनं याम्यहमद्यैव यथा जीमूतवाहनः ॥ ५ ॥

[निष्क्रान्तौ]

[आमुखम्]

नागा०—(नागानन्द नाटक खेले जाने के अवसर पर) किमिति (क्यों) अकारण० (विना कारण ही) रुद्यते=भाववाच्य (रोया जा रहा है)। तातः (पिताजी—श्वसुरजी—) आर्य्यया सह (पूज्य सासजी के साथ) स्थवि...त्वा (बूढ़ापा (आया) समझ कर) अदूर० = अदूरम् (क्रियावि०) जातः निर्वेदः यस्य सः (बहुव्री०) (हाल ही जिन्हें वैराग्य हो गया था) कुटु० = कुटुम्बस्य भारस्य उद्वहनम् (ष० तत्पु०) तत्र योग्यः (स० तत्पु०) (कुटुम्ब का भार उठाने योग्य) वितर्क्य (सोचकर)।

अये—किम् युज्यते (क्या उचित है, क्या करना चाहिए) गुरु० = गुर्वोः (माता-पित्रोः) चरणयोः परिचर्यायाः सुखम् (माता-पिता के चरणों की सेवा का सुख)।

पित्रोः—क्रमा० = क्रमात् आगतम् (पं० तत्पु०) (कुल-परम्परा से प्राप्त) ऐश्वर्यम् = ईश्वरस्य भावः ईश्वर + य (विपुल धन-सम्पदा को) त्यक्त्वा (छोड़कर) पितृ० = पित्रोः माता च पिता च पितरौ तयोः (एकशेषद्वन्द्व) शुश्रूषाम् (ष०तत्पु०) श्रुश् + सन् + अ स्त्रियां + आ (माता-पिता की सेवा) विधातुम् (करने को) यथा जीमू० (जीमूतवाहन की तरह) अहम् अद्य एव वनं यामि (मैं आज ही वन जाता हूं)।

[ततः प्रविशति नायको, विदूषकश्च]

नायकः—[सनिर्वेदं] वयस्य आत्रेय !

> रागस्यास्पदमित्यवैमि न हि मे ध्वंसीति न प्रत्ययः
> कृत्याकृत्यविचारणासु विमुखं को वा न वेत्ति क्षितौ ।
> एवं निन्द्यमपीदमिन्द्रियवशं प्रीत्यै भवेद् यौवनं
> भक्त्या याति [१]यदीत्थमेव पितरौ शुश्रूषमाणस्य मे ॥ ६ ॥

आमुखम् = यह नाटक का पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ होता है "नाटक का वह भाग, जिस में 'सूत्रधार' और 'नटी' परस्पर वार्तालाप करते हुए नाटक के कथानक का अवतरण करते हैं"। इसे प्रस्तावना भी कहते हैं। अंग्रेजी में Introduction या Prelude कहते हैं। इससे आगे नाटक प्रारम्भ हो जाता है।

रागस्या०—इदम् यौवनम् (यह युवावस्था) रागस्य आस्पदम् (वासना का स्थान है, काम विकार का घर है) इति हि अहं अवैमि (यह मैं अच्छी तरह जानता हूं) न ध्वंसि—इति मे प्रत्ययः न ((यह) नश्वर—क्षणभङ्गुर—नहीं है—ऐसा मेरा विश्वास नहीं) कृत्या० = कृत्यं च अकृत्यञ्च इति कृत्याकृत्ये (द्वन्द्व) तयोः विचारणासु (ष० तत्पु०) (कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेचनों में) विमुखम् (मुंह फेरे हुए अर्थात् प्रतिकूल है) (इति) क्षितौ कः वा न वेत्ति (ऐसा संसार में कौन नहीं जानता?) एवं निन्द्यम् (निन्दा करने योग्य, घृणा-योग्य) अपि (भी) इन्द्रि० = इन्द्रियाणां वशम् (ष० तत्पु०) (इन्द्रियों के अधीन) इदम् (यह यौवन) प्रीत्यै भवेत् (आनन्द दे सकता है) यदि पितरौ शुश्रू० = माता च पिता च पितरौ (एकशेषद्वन्द्व) श्रु + सन्नन्त + शानच् (यदि माता-पिता की सेवा करते हुए) मे इत्थम् एव याति (नायक का अभिप्राय यह है कि माता-पिता की सेवा में बीतता हुआ ही मेरा यौवन आनन्द-प्रद हो सकता है, अन्यथा नहीं। इससे मातृ-पितृ-भक्ति में नायक की अपार निष्ठा सिद्ध होती है।

१ मीप्सितफलं

विदूषकः—[सरोषं] भो वअस्स ! ण णिव्विण्णो एव तुमं एत्तिअं कालं एदाणं जीवन्तमुआणं वुड्ढाणं किदे इमं ईदिसं वणवासदुक्खं अणुहवन्तो । ता पसीद । दाणिं पि दाव गुरुचरणसुस्सूसाणिव्बंधादो णिअत्तिअ इच्छापरिभोगरमणिज्जं रज्जसोक्खं अणुहवीअदु । [[सरोषम्] भो वयस्य ! न निर्विण्ण एव त्वमेतावन्तं कालमेतयोर्जीवन्मृतयोर्वृद्धयोः कृते इदमीदृशं वनवासदुःखमनुभवन् । तत् प्रसीद । इदानीमपि तावद्गुरुचरण-शुश्रूषानिर्बन्धान्निवृत्य इच्छापरिभोगरमणीयं राज्यसौख्यमनुभूयताम् ।]

नायकः—वयस्य । न सम्यगभिहितं त्वया । कुतः ? ।

तिष्ठन् भाति पितुः पुरो भुवि यथा सिंहासने किं तथा ?
यत् संवाहयतः सुखं तु चरणौ तातस्य किं राजके ।
किं भुक्ते भुवनत्रये धृतिरसौ भुक्तोज्झिते या गुरोः ?

भो वयस्य—निर्विण्णः = निर् + विद् + त (विरक्त ग्लानि को प्राप्त) जीवन्मृ० = जीवन्तौ एव मृतौ (कर्मधा०) (जीते हुए भी मरे हुए, मरे हुए-से) वन० = वने वासः तस्य दुःखम् (वन में रहने का दुःख) गुरु० = गुरुश्च गुर्वी च गुरू (एकशेषद्वं०) तयोः चरणयोः सेवा तस्याः निर्बन्धात् (प० तत्पु०) (माता-पिता के चरणों की सेवा के हठ से) निवृत्य (हटकर) इच्छा० = इच्छया परिभोगः तेन रमणीयम् (तृ० तत्पु०) (इच्छानुसार आनन्दोपभोग मिलने के कारण रमणीय) अभिहितम् = अभि + धा + त (कहा)

तिष्ठन्—पितुः पुरः भुवि तिष्ठन् (पिता के आगे जमीन पर बैठा हुआ (पुत्र)) यथा भाति (जैसा शोभा पाता है) तथा सिंहासने किम् ! (वैसा सिंहासन में बैठा हुआ शोभा पाता है) क्या ?) तातस्य चरणौ संवाहयतः (पिता के चरण दबाते हुए (पुत्र को) हि यत् सुखम् (तत्) राजके = (राजन् + भावे वुञ्) (राज्य में) (अस्ति) किम् ? गुरोः (पिता के) भुक्तो० = भुक्तात् उज्झितम् तस्मिन् (पं० तत्पु०) (खाने से छूटे हुए (अन्न) के—जूठन—के) भुक्ते (खाने में) या धृतिः (जो सन्तोष है) असौ (वह) भुवन० = त्रयः अवयवाः यस्य तत् त्रयम् (त्रि + अय तयप्), भुवनानां त्रयम् (ष० तत्पु०) तस्मिन् (तीनों ही लोकों के) भुक्ते (भोग करने में)

आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद् गुणः ? ॥७॥

विदूषकः—[आत्मगतम्] अहो से गुरुअणसुस्सूसाणुराओ ! [विचिन्त्य] भोदु ता एदं पि दाव अण्णं विअ भणिस्सं। [प्रकाशं] भो वअस्स ! ण क्खु अहं रज्जसोक्खं ज्जेव केवलं उद्दिसिअ एवं भणामि, अण्णं पि दे करणीज्जं अत्थि ज्जेव। [[आत्मगतम्] अहो! अस्य गुरुजनशुश्रूषाऽनुरागः !। [विचिन्त्य] भवतु, तदेतदपि तावत् । अन्यदिव भणिष्यामि। [प्रकाशम्] भो वयस्य ! न खल्वहं राज्यसुखमेव केवलमुद्दिश्य एवं भणामि, अन्यदपि ते करणीयमस्त्येव ।]

नायकः—[सस्मितं] वयस्य ! ननु कृतमेव यत्करणीयं। पश्य—

न्याय्ये वर्त्मनि योजिताः प्रकृतयः सन्तः सुखं स्थापिता
नीतो बन्धुजनस्तथात्मसमतां राज्ये च रक्षा कृता।
दत्तो दत्तमनोरथाधिकफलः कल्पद्रुमोऽप्यर्थिने

(अस्ति) किम् ? उज्झि० = उज्झितौ गुरू येन स तस्य (बहुव्री०) (माता-पिता को छोड़ देनेवाले का) राज्यं खलु आयासः (राज्य क्लेश ही है) तत्र कश्चित् गुणः अस्ति ? (उसमें कौन-सी बड़ाई है ?)

अहो—गुरु० = गुरुजनस्य शुश्रूषा तस्मिन् अनुरागः (माता-पिता की सेवा का प्रेम) उद्दिश्य (लक्ष्य करके) करणीयम् (करने योग्य कार्य)।

न्याय्ये—प्रकृतयः (प्रजा) न्याय्ये वर्त्मनि = न्यायात् अनपेतम् न्याय्यम् (न्याय + यत् अनपेत अर्थ में) तस्मिन् (न्याय से न गिरे हुए अर्थात् न्याय वाले मार्ग में) योजिताः (लगा दी है) सन्तः (सज्जन लोग) सुखम् (क्रियाविशे०) स्था० (सुखपूर्वक अपने अपने स्थानों में बिठा दिये हैं) बन्धुजनः (बान्धव लोग) आत्म० = आत्मनः समता ताम् (ष० तत्पु०) (अपनी बराबरी को) नीताः (पहुंचा दिये हैं अर्थात् अपने बराबर ही बना दिये हैं) दत्तमनो० = दत्तं मनोरथात् अधिकं फलं येन सः (बहुव्री०) (जो इच्छा से भी अधिक फल दे दिया करता था—ऐसा) कल्पवृक्षः अपि = यह एक स्वर्ग का वृक्ष होता है जिससे जो चाहो—मिल

१ तेनास्ति ।

किं कर्त्तव्यमतः परं, कथय वा यत्ते स्थितं चेतसि ॥ ८॥

विदूषकः—भो वअस्स ! अच्चन्तसाहसिओ मदङ्गदेवहदओ दे पडिवक्खो, तस्सिं अ समासण्णट्ठिदे पहाणामच्चसमधिट्ठिदं पि ण तुए विणा रज्जं सुत्थिरं त्ति पडिभादि। [भो वयस्य ! अत्यन्तसाहसिको मतङ्गहतकस्ते प्रतिपक्षः। तस्मिंश्च समासन्नस्थिते ते प्रधानामात्यसमधिष्ठितमपि न त्वया विना राज्यं सुस्थिरमिति प्रतिभाति।]

नायकः—धिङ् मूर्ख मतङ्गो राज्यं हरिष्यतीति शङ्कसे ?

विदूषकः—अध इं ? [अथ किम् ?]

नायकः—यद्येवं, तत् किं न स्यात् ? ननु स्वशरीरात् प्रभृति सर्वं परार्थमेव मया परिपाल्यते। यत्तु स्वयं न दीयते, तत् तातानुरोधात्। तत् किमनेनावस्तुना चिन्तितेन? वरं ताताज्ञैवानुष्ठिता। आज्ञापितश्चा-

जाया करता है। बृहत्कथामञ्जरी से विदित होता है कि नायक (जीमूतवाहन) के पिता के पास कुल-परम्परा से प्राप्त एक कल्पवृक्ष था, जो उसने वन जाते समय अपने पुत्र को सौंप दिया था। अर्थिने दत्तः (याचक को दे दिया) परोपकारी जीमूतवाहन ने जरा भी लोभ न करते हुए उसे भी याचकों को दे दिया। अत परं किं वा कर्तव्यम् यत् ते चेतसि स्थितम्, कथय (इससे अधिक कौनसा कार्य है जो तेरे मन में है, कहो)

भो वयस्य—ते प्रतिपक्षः (तुम्हारा शत्रु) मतङ्गहतकः=हतः एव हतकः (स्वार्थे कः) मतङ्गश्चासौ हतकः (मुआ–दुष्ट–मतङ्ग) इस नाम का एक पड़ोसी राजा जीमूतवाहन के राज्यपर आँख जमाये बैठा रहता था। अत्यन्त०=सहसा वर्तते साहस +इक (ठक्) (बड़ा साहसी है) समास०=समासन्ने (समीपे) स्थिते (स० तत्पु०) (पास ही में स्थित होने पर) प्रधा०=प्रधानश्चासौ अमात्यः (कर्मधा०) अमा=सह वर्तते इति अमात्यः (अमा+त्यप्) तेन समधिष्ठितम् (तृ० तत्पु०) (प्रधान–मन्त्री द्वारा शासित–संभाला–हुआ भी) सुस्थिरम् (सुस्थित–मजबूत)।

यद्येवं—स्वशरीरात् प्रभृति (अपने शरीर से लेकर) ताता०=तातस्य अनुरोधः तस्मात् (ष० तत्पु०) (पिता के अनुरोध–उनकी इच्छा के पीछे–पीछे चलने–के

स्मि तातेन; यथा—"वत्स! जीमूतवाहन! बहुदिवसपरिभोगेण दूरीकृतसमित्कुशकुसुममुपभुक्तमूलफलकन्दनीवारप्रायमिदं स्थानं वर्त्तते। तदितो मलयपर्वतं गत्वा किञ्चित् तस्मिन् निवासयोग्यमाश्रमपदं निरूपय" इति। तदेहि मलयपर्वतमेव गच्छावः।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। एदु भवं। [यद् भवानाज्ञापयति। एतु भवान्।]

[इत्युभौ परिक्रामतः।]

विदूषकः—[अग्रतोऽवलोक्य] भो वअस्स! पेक्ख पेक्ख, एसो क्खु सरसघणसिणिद्धचंदणवणुच्छङ्गपरिमिलणलग्गबहुलपरिमलो विषमतडणिवडणजज्जरिज्जतणिज्झरुच्छलितसिसिरसीअरासारवाही पढमसङ्गमोक्कण्ठिदपिआकण्ठग्गहो विअ मग्गपरिस्समं अवणअंतो रोमञ्चेदि

कारण) अवस्तुना न वस्तु तेन (अल्पार्थे नञ्) (तुच्छ चीज से) बहुदि० = बहून् दिवसान् परिभोगः (द्वि० तत्पु०) तेन; किसी काल या स्थान में यदि कोई क्रिया लगातार की जाय, तो काल और स्थान वाचक के साथ द्वितीया हो जाती है, (बहुत दिनों तक लगातार उपभोग करने से) इदं स्थानं दूरीकृत० = दूरीकृतानि समिधश्च कुशाश्च कुसुमानि च यस्मिन् तत् (बहुव्री०) (यज्ञार्थ काष्ठ, कुशा तथा फूल जहां से दूर–सफा–किये गये हैं) उपभुक्त० = उपभुक्तं मूलञ्च फलञ्च कन्दश्च नीवारश्च प्रायेण यस्मिन् तत् (बहुव्री०) (मूल, फल, कन्द और वन–धान्य जहाँ प्रायः (सब) खाये गये हैं–ऐसा यह स्थान हो गया है) निवास० = निवासस्य योग्यम् (रहने योग्य) आश्रम = आश्रमस्य पदम् (ष० तत्पु०) (आश्रम का स्थान) निरूपय (देख, ढूंढ)।

भो वयस्य—सरस० = सरसानि, घनानि, स्निग्धानि च (द्वन्द्व) यानि चन्दनवनानि (कर्मधा०) तेषाम् उत्सङ्गे (ष० त०) परिमिलनेन (तृ० त०) लग्नः बहुलः परिमलः (कर्मधा०) यस्य सः (बहुव्री०) (सरस, घने तथा चिकने चन्दनवृक्षों के वनों की गोद में चारों ओर लोटने से जिसमें गहरी सुगन्धि आ रही है–ऐसा) विषम० = विषमानि यानि तटानि (कर्मधा०) तेषु निपतनेन (स० तत्पु०) जर्जरायमाणाः (तृ० तत्पु०) ये निर्झराः (कर्मधा०) तेभ्यः उच्चलिताः (प० तत्पु०) ये शिशिराः शीकराः (कर्मधा०) तेषाम् आसारम् (ष० त०) वहतीति (उपपदतत्पु०) (संचे-

पिअवअस्सं मलअमारुदो। [[अग्रतोऽवलोक्य] भो वयस्य! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व। एष खलु सरसघनस्निग्धचन्दनवनोत्सङ्गपरिमिलनलब्धबहुलपरिमलो विषमतट-निपतनजर्जरायमाणनिर्झरोच्छलितशिशिरसीकराऽऽसारवाही प्रथमसङ्गमो-त्कण्ठितप्रियाकण्ठग्रह इव मार्गपरिश्रममपनयन् रोमाञ्चयति प्रियवयस्यं मलयमारुतः।]

नायकः—[निरूप्य सविस्मयम्] अये! प्राप्ता एव वयं मलय-पर्वतम्। [समन्तादवलोक्य] अहो रामणीयकमस्य! तथा हि।—

माद्यद्दिग्गजगण्डभित्तिकषणैर्भग्नस्रवच्चन्दनः
क्रन्दत्कन्दरगह्वरो जलनिधेरास्फालितो वीचिभिः।
पादालक्तकरक्तमौक्तिकशिलः सिद्धाङ्गनानां गतैः,

नीचे ढलानों पर गिरने से जर्जर छिन्न-भिन्न होते हुए झरनों से निकले शीतल जलकणों की बौछार को धारण करनेवाला) प्रथम०=प्रथमश्चासौ सङ्गमः तत्र उत्कण्ठिता या दयिता तस्याः कण्ठ-ग्रहः (पहिले-पहल मिलने के लिए उत्सुक हुई प्रिया के आलिंगन की तरह) मार्ग० (रास्ते की थकावट को) अपन० (दूर करता हुआ) रोमाञ्चयति=रोमाञ्चं करोति (नामधातु) (रोमाञ्चित कर रहा है)। यहाँ नाटककार ने मलय-पर्वत की 'प्रियाकण्ठग्रह' से उपमा देकर उसी नामवाली अर्थात् मलयवती के जीमूतवाहन के साथ भावि मिलन की ओर संकेत करके नाटक की एक पारिभाषिक वस्तु-'पताकास्थान'-का प्रयोग किया है।

अये!—रामणीयकम्=रमणीयस्य भावः (भावे वुञ्) (सुन्दरता)

माद्यद्०=माद्यन्तः ये दिग्गजाः (कर्मधा०) तेषाम् ये गण्डाः तेषाम् याः भित्तयः तासाम् कषणैः (ष० तत्पु०) (मदमत्त दिग्गजों के गण्ड-स्थलों की रगड़ों से) भग्न०=भग्नाः अत एव स्रवन्तः चन्दनाः यस्मिन् सः (बहुव्री०) (छिले और बहते हुए चन्दनवृक्षों वाला) जलनिधेः वीचिभिः (समुद्र की लहरों से) आस्फा० (टकराया हुआ) (अतएव) क्रन्दत्०=क्रन्दन्ति कन्दराणां गह्वराणि यस्य सः (बहुव्री०) (गूंज रहे हैं गुफाओं के खोह-भीतरी प्रदेश-जिसके-ऐसा) सिद्धा० (देवयोनि-विशेषों की स्त्रियों के) गतैः=गम्+क्तः भावे (चलने से, आने-जाने से) पादा०=पादयोः यः अलक्तः तेन रक्त मौक्तिकानां शिला यत्र तथाभूतः (ब०

सेव्योऽयं मलयाचलः किमपि मे चेतः करोत्युत्सुकम् ॥ ९ ॥
तदेहि, अत्राऽऽरुह्य वासयोग्यं किञ्चिदाश्रमपदं निरूपयावः ।

विदूषकः—एव्वं करेम्ह । [अग्गतः स्थित्वा] एदु भवं । [एवं कुर्वः । [अग्रतः स्थित्वा] एतु भवान् ।]

[आरोहणं नाट्यतः ।]

नायकः—[दक्षिणाक्षिस्पन्दनं सूचयन्] अये !—

दक्षिणं स्पन्दते चक्षुः फलाकाङ्क्षा न मे क्वचित् ।
न च मिथ्या मुनिवचः कथयिष्यति किं न्विदम् ॥ १० ॥

विदूषकः—भो वअस्स ! अवस्समासण्णं दे पिअं णिवेदेदि । [भो वयस्य ! अवश्यमासन्नं ते प्रियं निवेदयति ।]

नायकः—एवं नाम, यथाऽऽह भवान् ।

ग्री०) (पैरों पर अभी-अभी लगी) महावर से मोतियों की शिलायें जहां लाल-लाल हुई पड़ी हैं ।) (अतएव) सेव्यः (सेवन-उपभोग-किये जाने योग्य) अयं मलयाचलः मे चेतः किमपि उत्सुकं करोति (यह मलयाचल मेरे चित्त को कुछ उत्सुक बना रहा है)

आरुह्य (चढ़कर) वासयोग्यम् (रहने योग्य) निरूपयावः (देखें, ढूंढें) ।

दक्षिणा०—दक्षिणम् यत् अक्षि तस्य स्पन्दनम् (दाहिने आंख का फड़कना)

दक्षिणम्—दक्षिणं चक्षुः स्पन्दते (दायी आंख फड़क रही है) मे क्वचित् (मुझे कहीं) फला०=फलस्य आकाङ्क्षा (फल की चाह) न (नहीं) मुनि०=(मुनियों-शास्त्रकारों-का वचन) न च मिथ्या (झूठा नहीं) शकुनशास्त्र में दक्षिण नेत्र फड़कने का शुभ फल कहा गया है । इदं किं नु कथ० (यह फड़कन क्या बताती है)

आसन्नम् (समीपस्थ, निकट भविष्य में होनेवाली प्रिय बात को) निवे० (बतलाता है, सूचित करता है) ।

१ दृष्टोऽयं ।

विदूषकः—(विलोक्य) भो वअस्स ! पेक्ख पेक्ख । एदं क्खु सविसेसघणसिणिद्धपाअवोवसोहिअं सुरहिहविग्गन्धगब्भिणुद्दामधूमणिग्गमं अणुव्विग्गसुहणिसण्णसावअगणं तवोवणं विअ लक्खीअदि। [[विलोक्य] भो वयस्य ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । एतत् खलु सविशेषघनस्निग्धपादपोपशोभितं, सुरभिहविर्गन्धगर्भितोद्दामधूमनिर्गमम्, अनुद्विग्नसुखनिषण्णश्वापदगणं तपोवनमिव लक्ष्यते ।]

नायकः—सम्यगुपलक्षितम् । तपोवनमेवैतत् । कुतः

वासोऽर्थं दययैव[1] नातिपृथवः कृत्तास्तरूणां त्वचो
भग्ना[2]ऽऽलक्ष्यजरत्कमण्डलु नभः[3]स्वच्छं पयो नैर्झरम् ।

भो वयस्य—सविशेष०=सविशेषम् घनाः स्निग्धाश्च ये पादपाः तैः विशोभितम् (तृ० तत्पु०) (बहुत घने और चिकने पेड़ों से अत्यन्त शोभित) सुरभि०=हविषः गन्धः हविर्गन्धः (ष० त०) सुरभिश्चासौ हविर्गन्धः (कर्मधा०) तेन गर्भितः (गर्भः संजातः अस्य गर्भ+इतच्) उद्दामश्च यः धूमः (कर्मधा०) तस्य निर्गमनम् यत्र तथाभूतम् (बहुव्री०) (सुगन्धित हवि के गन्ध से युक्त बहुत–सा धुआँ जहां निकल रहा है–ऐसा) अनुद्विग्न०=न उद्विग्नाः (उद्+✓ विज्+त) अनुद्विग्नाः (नञ्तत्पु०) अतएव सुखं (यथा स्यात् तथा क्रियाविशे०) निषण्णाः (नि+✓ सद्+त) ये श्वापदाः (कर्मधा०) तेषां गणः यत्र अस्तीति (ब० व्री०) (जहाँ जानवरों का समूह निर्भय हो सुखपूर्वक बैठा हुआ है) तपोवन में ऋषियों की तपस्या के प्रभाव से सब सिंह–मृग आदि पशु अपना स्वाभाविक वैर खो बैठते हैं । यही कारण है कि मृगादि-पशु निर्भय होकर आनन्द से बैठे हुए हैं ।

सम्यक्—उपलक्षितम् (देखा है)

वासोऽर्थम्=वाससे इदम् वासोऽर्थम् (नित्यसमास) (पहिरने के लिए) दयया एव (दया के कारण ही) न अतिपृथवः (बहुत मोटी नहीं अर्थात् पतली–पतली) वृक्षों में भी प्राण है–इस विचार से तपस्वी लोग उनकी पतली छाल ही निकालते थे, मोटी नहीं जिससे वृक्षों को कष्ट न हो । तरूणां त्वचः कृत्ताः (पेड़ों की छालें छिली हुई हैं) नैर्झरम्=निर्झराणाम् इदम् नैर्झरम् (निर्झर+

१ दययेव । २ मग्ना० । ३ रजः ।

दृश्यन्ते त्रुटितोज्झिताश्च बटुभिर्मौञ्ज्यः क्वचिन्मेखला
नित्याकर्णनया शुकेन च पदं साम्नामिदं पठ्यते ॥ ११ ॥

तदेहि प्रविश्याऽवलोकयावः। [प्रवेशं नाटयतः ।]

[सविस्मयं विलोक्य] अहो ! नु खलु मुदितमुनिजनप्रविचार्य्यमाण-सन्दिग्धवेदवाक्यविस्तरस्य, पठद्बटुजनच्छिद्यमानाऽऽर्द्रार्द्रसमिधः, तापसकुमारिकापूर्यमाणबालवृक्षालवालस्य प्रशान्तरमणीयता तपोवनस्य । इह हि—

अण्) (झरनों का) पयः (जल) नभःस्वच्छम्=नभोवत् स्वच्छम् (कर्मधा०) (आकाश की तरह निर्मल) अतः एव भग्ना०=भग्नाः आलक्ष्याः जरन्तः कमण्डलवः यत्र तथाभूतम् (ब० व्री०) (टूटे-फूटे पुराने कमण्डलु जहाँ साफ-साफ दिखलाई देते थे) पानी की निर्मलता के कारण तपस्वियों द्वारा जल में फेंके हुए टूटे-फूटे कमण्डलु साफ दीख जाते थे। क्वचित् (किसी–किसी स्थान में) मौञ्ज्यः मेखलाः=मुञ्जस्य (घास-विशेष) इमाः इति मौञ्ज्यः (मुञ्ज+अण्+ङीप्) (मूँज की मेखलायें–करधनियाँ–) बटुभिः (ब्रह्मचारियों द्वारा) त्रुटित०=आदौ त्रुटिताः अत एव पश्चात् उज्झिताः (टूट जाने पर छोड़ी–फेंकी–हुई) दृश्यन्ते (दिखलाई देती है) नित्या०=नित्यम् आकर्णना तया (नित्यप्रति सुनते रहने से) साम्नाम् (Psalms–वेदमन्त्रों–का) पदम् (पद–शब्द–) शुकेन पठ्यते (तोता पढ़ रहा है)।

अहो नु—मुदित०=मुदितः यः मुनिजनः (कर्मधा०) तेन प्रकर्षेण विचार्य-माणः संदिग्धः वेदवाक्यानां विस्तरः यत्र तथाभूतस्य (ब० व्री०) (प्रसन्न हुए मुनियों द्वारा जहां सन्देहवाले वेदवाक्यों के समूह पर अच्छी तरह विचार किया जा रहा है–ऐसा) पठद्बटु०=पठन् यः बटुजनः तेन आच्छिद्यमानाः आर्द्रार्द्राः (अतिशयेन आर्द्राः) समिधः यस्मिन् तस्य (ब० व्री०) (जहाँ ब्रह्मचारी लोग पढ़ते पढ़ते गीली-गीली समिधाओं को तोड़ रहे हैं) तापस०=तापसानाम् याः कुमारिकाः ताभिः (जलद्वारा) आपूर्यमाणानि वृक्षाणाम् आलवालानि यत्र तथाभूतस्य (ब० व्री०) (जहाँ वृक्षों की क्यारियाँ तपस्वियों की बालिकाओं से सींची जा रही हैं–ऐसे) तपोवनस्य (तपोवन की) प्रशान्त०=प्रशान्तं च रमणीयं च तयोः भावः प्रशान्त-रमणीयता (शान्ति और रमणीयता) अहो ! (आश्चर्य है) ।

मधुरमिव वदन्ति स्वागतं भृङ्गशब्दै-
र्नतिमिव फलनम्रैः कुर्वतेऽमी शिरोभिः।
मम ददत इवार्घ्यं पुष्पवृष्टीः किरन्तः,
कथमतिथिसपर्यां शिक्षिताः शाखिनोऽपि ॥ १२ ॥

तन्निवासयोग्यमिदं तपोवनम्। मन्ये भविष्यतीह निवसतामस्माकं निर्वृतिः।

विदूषकः—भो वअस्स! किं क्खु एदे ईसिवलिअकन्धरा णिच्चलमुहावसरंतदरदलिअदब्भकवला समुण्णमिददिण्णेककण्णा सुहणिमीलिदलोअणा आअणंता विअ हरिणा लक्खीअन्ति। [भो वयस्य! किं खल्वेते ईषद्वलितकन्धरा निश्चलमुखापसरद्दरदलितदर्भकवलाः समुन्नमित-

मधुरमिव—अमी (ये वृक्ष) भृङ्गशब्दैः=(भ्रमरों के झङ्कार-शब्दों से) मधुरं स्वागतम् (मीठा 'स्वागत') वदन्ति इव (बोल-से रहे हैं) फलनम्रैः=फलैः नम्रैः (फलों द्वारा झुके हुए) शिरोभिः (शाखाओं के अग्रभागों से) नतिम् इव कुर्वते (नमस्कार-सा कर रहे हैं) पुष्प०=पुष्पाणां वृष्टीः (फूलों की वर्षाओं को) किरन्तः (बिखेरते हुए) मम अर्घ्यं ददते इव (मुझे पूजा का उपहार-जैसा दे रहे हैं) कथम् (किस तरह—आश्चर्य है–) शाखिनः अपि (वृक्षों को भी) अतिथि०= अतिथीनाम् सपर्या (ष० त०) ताम् (अतिथियों की पूजा—आवभगत) शिक्षिताः ((तपस्वियों द्वारा) सिखलाई गई है)।

निर्वृतिः (परम सुख)।

भो वयस्य—ईषद्०=ईषत् (यथा स्यात् तथा क्रियाविशे०) वलिताः कन्धराः यैः ते (ब० ब्री०) (गर्दनों को कुछ मोड़े हुए) निश्चल०=निश्चलानि च तानि मुखानि (कर्मधा०) तेभ्यः अपसरन्तः दरम् (क्रियाविशे०) ईषत् दलिताः दर्भाणाम् कवलाः येषां ते (ब० ब्री०) (जिनके निष्क्रिय मुखों से थोड़े-थोड़े चबाये हुए कुशा के कौर गिर रहे हैं—ऐसे) समुन्न०=समुन्नमितः (सम्+उद्+√नम्+णिच्+तः) दत्तश्च एकः कर्णः यैः तथाभूताः (ब० ब्री०) (जिन्होंने एक कान उठाया

१ वदन्तः। २ ०वृष्टिं।

दत्तैककर्णाः सुखनिमीलितलोचना आकर्णयन्त इव हरिणा लक्ष्यन्ते ।]

नायकः—[कर्णं दत्त्वा] सखे ! सम्यगुपलक्षितम् । तथाहि—

स्थानप्राप्त्या दधानं प्रकटितगमकां मन्द्रतारव्यवस्थां
निर्ह्रादिन्या विपञ्च्या मिलितमलिरुतेनेव तन्त्रीस्वरेण ।
एते दन्तान्तरालस्थिततृणकवलच्छेदशब्दं नियम्य
व्याजिह्माङ्गाः कुरङ्गाः स्फुटललितपदं गीतमाकर्णयन्ति ॥ १३ ॥

और (सुनने के लिए) लगाया हुआ है) सुख० = सुखेन निमीलितानि लोचनानि यैः ते (ब० व्री०) (जिन्होंने आनन्द के साथ आँखें मूँद रखी हैं—ऐसे हरिण) आकर्ण० (कुछ सुनते हुए से) लक्ष्यन्ते (दिखलाई देते हैं) ।

स्थान०—एते कुरङ्गाः (ये मृग) व्याजि० = व्याजिह्मम् अङ्गं येषां ते (ब० व्री०) (शरीर को टेढ़ा किये हुए) दन्ता० = दन्तयोः अन्तराले स्थितः यः तृणकवलः (तृणस्य कवलः) तस्य छेद-शब्दम् (छेदस्य शब्दम्) (दाँतों के बीच पड़े हुए घास के कौर के चबाने के शब्द को) नियम्य (रोक करके जिससे वे गीत को अच्छी तरह सुन सकें) स्थान० = स्थानानाम् प्राप्त्या (ष० त०) (कण्ठ—हृदय—आदि स्थानों में प्राप्त होने के कारण) प्रकटित० = प्रकटिताः गमकाः यस्यां तथाभूताम् (ब० व्री०) (प्रकट हो रहे हैं गमक—स्वर उठने के प्रकार—जिसमें, ऐसी) मन्द्र० = मन्द्रश्च तारश्च मन्द्रतारौ (द्व०) तयोः व्यवस्थाम् (ष० तत्पु०) (मन्द्र (गंभीर) तथा तार (उच्च) स्वर-विशेषों के नियम को) दधानम् = √ धा + शानच् (रखते हुए (गीत का विशे०)) निर्ह्रा० = (अच्छे शब्दवाली) विपञ्च्या (नौ तारों वाली वीणा के) अलि० = अलीनां रुतम् (ष० त०) तत् इव (भ्रमरों के शब्द—झंकार—जैसे) तन्त्री० = तन्त्रीणां स्वरः तेन (ष० त०) (तारों के शब्द से) मिलितम् (मिला हुआ) स्फुट०=स्फुटानि ललितानि च पदानि यस्मिन् तत् (ब० व्री०) (जिसमें सुन्दर पद (बिलकुल) स्पष्ट हैं—ऐसा) गीतम् आक० (गीत सुन रहे हैं)। प्रस्तुत श्लोक में संगीतशास्त्र के कुछ पारिभाषिक शब्द आये हुए हैं। 'स्थान' से अभिप्राय संगीत में 'हृदय', 'कण्ठ' और 'मूर्धा' होता है और इन स्थानों में से ही क्रमशः 'मन्द्र', 'मध्य' और 'तार' स्वर निकलते हैं। 'गमक' स्वर निकालने

विदूषकः—भो वअस्स ! को उण एसो तवोवणे गाअदि ? [भो वयस्य ? कः पुनरेष तपोवने गायति ?]

नायकः—यथैताः कोमलाङ्गुलितलाभिहन्यमानाः नातिस्फुटं क्वणन्ति तन्त्र्यस्तथा काकलीप्रधानं गीयत इति तर्कयामि। [अङ्गुल्यग्रेणाग्रतो निर्दिशन्] 'अस्मिन्नायतने देवतामाराधयन्ती काचिद्दिव्या योषिदुपवीणयती' ति।

विदूषकः—भो वअस्स ! एहि अम्हेवि देवदाअदणं पेक्खम्ह। [भो वयस्य ! एहि, आवामपि देवतायतनं प्रेक्षावहे।]

नायकः—वयस्य! साधूक्तं भवता। वन्द्याः खलु देवताः। [उपसर्पन् सहसा स्थित्वा] वयस्य ! कदाचिद् द्रष्टुमनर्होऽयं जनो भविष्यति, तदावां तमालगुल्मान्तरितौ पश्यन्ताववसरं प्रतिपालयावः। [तथा कुरुतः।]

[ततः प्रविशति भूमावुपविष्टा वीणां वादयन्ती मलयवती चेटी च।]

के प्रकार को कहते हैं (देखिये संगीतदर्पण "हृदि मन्द्रो, गले मध्यो, मूर्ध्नि तार इति क्रमात्"। "स्वरोत्थान-प्रकारस्तु गमकः परिकीर्तितः।")

यथैताः—एताः तन्त्र्यः (ये वीणा के तार) कोमल०=कोमलानि च तानि अङ्गुलीनां तलानि तैः अभिहन्यमानाः (तत्पु०) अङ्गुलियों के कोमल अग्रभागों से बजाई जाती हुई) न अति० क्वण० (साफ़ साफ़ शब्द नहीं कर रही हैं) काकली०=काकली प्रधानं यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा (क्रियाविशे०) (प्रधानतया सूक्ष्म-मधुर स्वर में) ('सूक्ष्म-मधुर ध्वनि' को काकली कहते हैं) आयतने (देवस्थान—मन्दिर—में) आराध० (आराधना करती—मनाती—हुई) दिव्या योषित् (स्वर्ग की स्त्री—देवाङ्गना—) उपवी०=वीणया उपगायति उप+वीणा+णिच् नामधातु (वीणा बजाकर गा रही है)

कदाचित्—द्रष्टु...ति० (यह स्त्री हमारे देखने योग्य नहीं) परस्त्री को देखना निषिद्ध है। तमाल०=तमालानां गुल्मः (ष० त०) तेन अन्तरितौ (तृ० तत्पु०) (तमालवृक्षों के झाड़ में छिपे हुए) अवसरं प्रति० (अवसर की प्रतीक्षा करते हैं)।

नायिका—[गायति]

उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते ! मम हि गौरि ! ।
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥१४॥

नायकः—[कर्णं दत्त्वा] वयस्य ! अहो गीतम् ! अहो वाद्यम् !

व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना दशविधेनाप्यत्र लब्धाऽमुना,
विस्पष्टो द्रुतमध्यलम्बितपरिच्छिन्नस्त्रिधाऽयं लयः ।
गोपुच्छाप्रमुखाः क्रमेण यतयस्तिस्रोऽपि सम्पादिता-

उत्फुल्ल०—उत्फुल्लं च तत् कमलम् (कर्मधा०) तस्य ये केसराः तेषां यः परागः (ष० तत्पु०) तद्वत् गौरा द्युतिः यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ (बहुव्री०) (खिले हुए कमल के केसरों—रेशों—की धूलि की तरह पीली-सी कान्ति वाली) हे भगवति गौरि ! युष्मत् = युष्माकं प्रसादः तेन (तुम्हारी कृपा से) अभिवाञ्छितम् (मनोरथ) प्रसिध्यतु (सिद्ध होवे—पूरा होवे)।

व्यक्ति०—अत्र (इस गाने में) अमुना दशविधेन अपि (उस दस ही प्रकार के) व्यञ्जन० (व्यञ्जन-धातु ने) व्यक्तिः लब्धा (स्पष्टता प्राप्त कर रखी है) 'व्यञ्जनधातु' संगीतशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। व्यञ्जयति (विशेषात्) इति व्यञ्जनः = स्वरों की सब बारीकियों को प्रकट कर देनेवाला, 'धातु' = बजाने की विधि—रीति—जो दस प्रकार की होती है (देखिये भरत नाट्यशास्त्र अध्याय २८) अयं त्रिधा लयः = तालों के बीच के समय को 'लय' कहते हैं (देखिए—"तालान्तरालवर्ती यः स कालो लय उच्यते") द्रुत० = द्रुतश्च मध्यश्च लम्बितश्च (द्वन्द्व) तैः परिच्छिन्नः (तृ० तत्पु०) (द्रुत, मध्य और विलम्बित—इन (तीन प्रकारों) से भेद को प्राप्त हुआ अर्थात् तीन प्रकार का) विस्पष्टः (विशेषरूप से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है) गोपुच्छा० = गोपुच्छा प्रमुखा यासां ताः (ब० व्री०) (गोपुच्छा जिनमें प्रधान है—ऐसी अर्थात् गोपुच्छा—इत्यादि) तिस्रोऽपि यतयः (तीनों ही प्रकार की यतियाँ) 'यति' शब्द भी पारिभाषिक है। तालों के विराम को 'यति' कहते हैं और वह तीन तरह की होती है—समा,

स्तत्त्वौघानुगताश्च वाद्यविधयः सम्यक् त्रयो दर्शिताः ॥ १५ ॥

चेटी—[सप्रणयम्] भट्टिदारिए ! चिरं क्खु वादअंतीए कुदण परिस्समो अग्गहत्थाणं ? [[सप्रणयम्] भर्तृदारिके ! चिरं खलु वादयन्त्याः कुतो न परिश्रमोऽग्रहस्तयोः ?]

नायिका—हञ्जे ! कुदो मे देईए पुरदो वीणं वादअन्तीए अग्गहत्थाणं परिस्समो ! [हञ्जे ! कुतो मे देव्याः पुरतो वीणां वादयन्त्या अग्रहस्तयोः परिश्रमः !]

चेटी—[साधिक्षेपम्] भट्टिदारिए ! णं भणामि किं एदाए णिक्करुणाए पुरदो वाइदेण ? जा एत्तिअं कालं कण्णआजणदुक्करेहिं णिअमोवासणेहिं आराधअन्तीए अज्जवि ण दे पसादं दंसेदि । [[साधिक्षेपम्] भर्तृदारिके ! ननु भणामि किमेतस्या निष्करुणायाः पुरतो वादितेन ? या एतावन्तं कालं कन्यकाजनदुष्करैर्नियमोपासनैराराधयन्त्या अद्यापि न ते प्रसादं दर्शयति ।]

स्रोतोवहा और गोपुच्छा । इनकी विशेष जानकारी के लिये संगीतशास्त्र देखिए । क्रमेण सम्पा० (क्रमशः कर रखी हैं) तत्त्वौघा० = तत्त्वश्च ओघश्च अनुगतश्च (द्वं०) (तत्त्व, ओघ और अनुगत—ये तीन प्रकार की) वाद्यविधयः (बजाने के ढंग) दर्शिताः (दरशाए गए हैं) बजाने की तत्त्वादि-विधियों के लिए भी नाट्यशास्त्र का २८ वां अध्याय देखिए । उपरोक्त श्लोकों में गाने-बजाने की सूक्ष्मताओं के विवेचन से नाटककार की संगीतकला में भी पूरी दक्षता सिद्ध होती है, किन्तु इससे नाटक में कुछ दुरूहता आ गई है ।

भर्तृदारिके—भर्तृ० = राजपुत्री को दासियों द्वारा सम्बोधित करने का सम्मानपद; इसका अर्थ भर्तुः महाराजस्य दारिका = पुत्री होता है । वर्तमानकाल में राजपुत्री को बाईजी, देईजी अथवा देईजी साहिबा इन शब्दों से पुकारते हैं । वादयन्त्याः (बजाते हुए) अग्रहस्तयोः (अङ्गुलियों को) परिश्रमः (थकावट) निष्करुणायाः = निष्क्रान्ता करुणायाः इति निष्करुणा तस्याः (प्रादितत्पु०) (निर्दयी, कठोर) वादितेन (बजाने से) कन्या० = कन्याजन दुष्करै दुष्कर

विदूषकः—भो वअस्स ! कण्णआ क्खु एसा, किं ण पेक्खम्ह । [भो वयस्य, कन्यका खल्वेषा, किं न प्रेक्षावहे ?]

नायकः—को दोषः ? निर्दोषदर्शना हि कन्यका भवन्ति । किन्तु, कदाचिदस्मान् दृष्ट्वा बालभावसुलभलज्जासाध्वसान्न चिरमिह तिष्ठेत्, तदनेनैव तावल्लताजालान्तरेण पश्यावः । [उभौ तथा पश्यतः ।]

विदूषकः—[दृष्ट्वा सविस्मयम्] भो वअस्स, पेक्ख पेक्ख । अहह अच्छरिअम् । ण केवलं वीणाविण्णाणेणेव कण्णाणं सुहं करेदि जाव इमिणा वीणाविण्णाणाणुरूवेण रूवेणावि अच्छीणं सुहं उप्पादेदि । का उण एसा ? किं दाव देई ? आदु णाअकण्णआ ? आहो विज्जाहर-दारिआ ? उदाहो सिद्धकुलसम्भवेत्ति ? । [[दृष्ट्वा सविस्मयम्] भो वयस्य ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व । एषा न केवलं वीणाविज्ञानेनैव सुखमुत्पादयति यावदनेन वीणाविज्ञानानुरूपेण रूपेणाप्यक्ष्णोः सुखमुत्पादयति । का पुनरेषा ?

कर्तुम् योग्यैः (तृ० तत्पु०) (लड़कियों द्वारा कठिनता से किये जाने योग्य) नियमो०=नियमाश्च उपासनानि च (द्वन्द्व) तैः (व्रत और उपासनाओं द्वारा) आराध० (पूजा करती हुई) ।

को दोषः—(कोई बुराई नहीं) निर्दोष०=निर्गतः दोषः यस्मात् (ब० व्री०) निर्दोषं दर्शनं यासा ताः (ब० व्री०) (जिनके देखने में कोई बुराई नहीं है) परायी स्त्री को देखना अवश्य अनुचित है किन्तु जिस लड़की का विवाह ही नहीं हुआ है उसे देखने में कोई दोष नहीं होता । बालभाव०=बालभावेन सुलभा या लज्जा तया यत् साध्वसम् (तृ० तत्पु०) तस्मात् (बालिकापन में पाई जानेवाली लज्जा के भय से) लता०=लतानां जालम् एव अन्तरम्=व्यवधानम् तेन (लताकुञ्ज की आड़ से) ।

भो वयस्य—वीणा०=वीणायाः विज्ञानम् तस्य अनुरूपेण (ष० तत्पु०) (वीणा (बजाने) की निपुणता के समान) अक्ष्णोः० (आँखों को आनन्द देती है) आहोस्वित् (अथवा) सिद्ध०=सिद्धानां कुले संभवः जन्म यस्याः सा (ब० व्री०) (सिद्धों के कुल में पैदा हुई) ।

किं तावद्देवी ? अथवा नागकन्यका ? आहोस्विद्विद्याधरदारिका, उताहो सिद्ध-कुलसम्भवेति ?]

नायकः—[सस्पृहमवलोकयन्] वयस्य ! केयमिति नावगच्छामि, एतत्पुनरहं जानामि—

स्वर्गस्त्री यदि तत्कृतार्थमभवच्चक्षुःसहस्रं हरे-
र्नागी चेन्न रसातलं शशभृता शून्यं मुखेऽस्याः स्थिते।
जातिर्नः सकलान्यजातिजयिनी विद्याधरी चेदियं,
स्यात्सिद्धान्वयजा यदि त्रिभुवने सिद्धाः प्रसिद्धास्ततः ॥ १६ ॥

विदूषकः—[नायकमवलोक्य सहर्षमात्मगतम्] दिट्ठिआ चिरस्स दाव

नायकः—सस्पृहम् (स्पृहा=उत्कट अभिलाषा के साथ)।

स्वर्ग०—यदि स्वर्गस्त्री=स्वर्गस्य स्त्री (यदि स्वर्गलोक की स्त्री है) हरेः (इन्द्र के) चक्षुः=चक्षुषां सहस्रम् (ष० त०) (हजार आँखें) कृतार्थम्=कृतः अर्थः= प्रयोजनम् यस्य तत् (ब० व्री०) (सफल) अभवत् (हो गई)। चेत् नागी (यदि नागलोक की रहनेवाली) अस्याः मुखे स्थिते (इसके मुख की उपस्थिति में) रसा-तलम् (पाताल-लोक, नाग-लोक) शशभृता=शशं शशचिह्नं बिभर्ति इति तेन (उपपदतत्पु०) (चन्द्रमा से) शून्यं न=अर्थात् इसके मुख से ही पाताल चान्द-वाला बना होगा। चेद् इयं विद्या० (यदि यह विद्याधर कुल की है, तो) नः जातिः (हमारी जाति) सकला०=सकलाः याः अन्याः जातयः (कर्मधा०) ताः जेतुं शीलम् अस्याः (उपपदतत्पु०) ((संसार की) अन्य सभी जातियों को जीतनेवाली है) यदि सिद्धा०=सिद्धानां अन्वये जाता (उ० तत्पु०) सिद्धों—देवयोनिविशेषों—के कुल में उत्पन्न हुई) ततः (इससे) त्रिभुवने=त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुवनम् (समाहारद्विगु) तस्मिन् (तीनों ही भुवनों—लोकों—में) प्रसिद्धाः (विख्यात हो जायंगे अर्थात् इस लड़की से पहिले सिद्धों को कोई नहीं जानता था। किन्तु अब अपने वंश में ऐसी लड़की होने से वे ख्यात हो जायंगे)।

दिष्ट्या—'दिष्ट्या यह अव्यय है जिसका अर्थ—' 'सौभाग्य से' है। मन्मथस्य गोचरे (काम के विषय में—पल्ले—) निपूनक की प्रसन्नता का कारण यह है कि अब

कालस्स पडिदो क्खु एसो गोश्ररे मम्महस्स। [आत्मानं निर्दिश्य भोजनमभिनीय] अहवा एहि एहि, मम एव्व एक्कस्स बह्मणस्स। [[नायकमवलोक्य सहर्षमात्मगतम्] दिष्ट्या चिरस्य तावत् कालस्य पतितः खल्वेष गोचरो मन्मथस्य। [आत्मानं निर्दिश्य भोजनमभिनीय] अथवा नहि नहि, ममैव एकस्य ब्राह्मणस्य।]

चेटी—[सप्रणयम्] भट्टिदारिए। एं भणामि, किं एदाए णिक्करुणाए पुरदो वाइदेण? [[सप्रणयम्] भर्तृदारिके! ननु भणामि, किमेतस्या निष्करुणायाः पुरतो वादितेन?] [इति वीणामाक्षिपति]

नायिका—[सरोषम्] हञ्जे! मा भअवदिं गोरिं अधिक्खिव। एं अज्ज किदो मे भगवदीए पसादो। [[सरोषम्] हञ्जे। मा भगवतीं गौरीमधिक्षिप। नन्वद्य कृतो मे भगवत्या प्रसादः।]

चेटी—[सहर्षम्] भट्टिदारिए! कहेहि दाव कीरिसो? [[सहर्षम्] भर्तृदारिके! कथय तावत् कीदृशः?]

नायिका—हञ्जे। जाणामि, अज्ज सिविणए एदं एव्व वीणं वादअंती भअवदीए गोरिए भणिदम्हि,—"वच्छे मलअवदि! परितुट्ठम्हि तुह एदिणा वीणाविण्णाणादिसएण, इमाए अ वालजणदुक्कराए असाहारणाए ममोवरि भत्तिए। ता विज्जाहरचक्कवट्टी अचिरेण ज्जेव पाणिग्गहणं दे णिव्वत्तइस्सदि" त्ति। [हञ्जे! जानामि, अद्य स्वप्ने एतामेव वीणां वादयन्ती भगवत्या गौर्या भणिताऽस्मि—"वत्से मलयवति! परितुष्टाऽस्मि तवैतेन वीणाविज्ञानातिशयेन, अनया च बालजनदुष्करयाऽसाधारणया ममोपरि भक्त्या च। तद्विद्याधरचक्रवर्त्ती अचिरेणैव ते पाणिग्रहणं निर्वर्त्तयिष्यति" इति।]

नायक वैराग्यमार्ग को छोड़कर मांगवाद के पल्ले पड़ गया है या यों कहिए कि मेरे ही पल्ले पड़ गया है; अब तो मैं जैसा चाहूंगा, इसे नचाकर अपना काम बनाऊंगा।

हञ्जे—दासियों को पुकारने का शब्द नाटकों में 'हञ्जे' आता है, इसको हिन्दी में 'अरी' या 'री' कहा जायगा। असाधारणया (विशेष) विद्याध०=

चेटी—[सहर्षम्] भट्टिदारिए! जइ एव्वं, ता कीस सिविणअं इमं भणीअदि? णं हिअअत्थिदो वरो देईए दिण्णो। [[सहर्षम्] भर्तृदारिके! यद्येवं, तत्कस्मात् स्वप्नोऽयं भण्यते?। ननु हृदयस्थितो वरो देव्या दत्तः।]

विदूषकः—[श्रुत्वा] भो वअस्स! अवसरो क्खु एसो अह्माणं देवीदंसणस्स। ता एहि पविसह्य। [[श्रुत्वा] भो वयस्य, अवसरः खल्वेष आवयोर्देवीदर्शनस्य। तदेहि प्रविशावः।]

नायकः—न तावत्प्रविशामि।

विदूषकः—[अनिच्छन्तमपि नायकं बलादाकृष्य, उपसृत्य] सोत्थि भोदीए। भोदि! सच्चकं ज्जेव चदुरिआ भणादि, वरो एव्व सो देईए। दिण्णो। [[अनिच्छन्तमपि नायकं बलादाकृष्य, उपसृत्य] स्वस्ति भवत्यै भवति! सत्यमेव चतुरिका भणति, वर एव स देव्या दत्तः।]

नायिका—[ससाध्वसमुत्तिष्ठन्ती नायकमुद्दिश्य] हञ्जे! को णु क्खु एसो? [[ससाध्वसमुत्तिष्ठन्ती नायकमुद्दिश्य] हञ्जे! को नु खल्वेषः?]

चेटी—[नायकं निरूप्यापवार्य्य] इमाए अण्णण्णसरिसाए आकिदीए एसो सो भअवदीए पसादीकिदो त्ति तक्केमि। [[नायकं निरूप्यापवार्य्य]

विद्याधराणां चक्रवर्ती (विद्याधरों का सम्राट्) अचिरेणैव (शीघ्र ही) पाणिग्रहणम् (विवाह) निर्वर्त्त० (करेगा)

भर्तृदारिके—हृदय०=हृदये स्थितः (स० तत्पु०) (हृदय में रहनेवाला) वरः ((१) अभिलषित, (२) पति) देवीदर्शनाय=देव्याः=गौर्याः दर्शनम् तस्मै (भगवती गौरी-देवी के दर्शन के लिए) अनिच्छन्तम्=न इच्छन्तम् (√इष्+शतृ) (न चाहते हुए भी) बलात् आकृष्य (जबर्दस्ती खींचकर) स्वस्ति=अव्यय है, इसके योग में चतुर्थी होता है (कल्याण हो)

ससाध्वसम्—ससा०=साध्वसेन सह (भय के साथ) उद्दिश्य (लक्ष्य करके) अपवार्य—यह नाटक का एक पारिभाषिक शब्द है। जिसकी व्याख्या यह है—"तद् भवेदपवारितम्, रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते" अर्थात् 'अपवारित' उस गुप्त बात को कहते हैं, जो अन्य व्यक्ति से मुँह फेर कर कही जाए।

अनया अनन्यसदृश्या आकृत्या एष स भगवत्या प्रसादीकृत इति तर्कयामि।]

नायिका—[सस्पृहं सलज्जञ्च नायकमवलोकयति।]

नायकः—तनुरियं तरलायतलोचने !
श्वसितकम्पितपीनघनस्तनि ! ।
श्रममलं तपसैव गता पुनः
किमिति सम्भ्रमकारिणि ! खिद्यते ॥ १७॥

नायिका—[अपवार्य] हञ्जे ! अदिसद्धसेण ण सक्कणोमि एदस्स अहिमुही ठादुं [[अपवार्य] हञ्जे ! अतिसाध्वसेन न शक्नोमि एतस्याभिमुखी स्थातुम्।] [नायकं तिर्य्यक् सलज्जञ्च पश्यन्ती किञ्चित् परावृत्तमुखी तिष्ठति]।

चेटी—भट्टिदारिए किं एदम् ? । [भर्तृदारिके ! किमेतत्।]

नायिका—हञ्जे ! ण सक्कुणामि एदस्स आसरणे चिट्ठिदुं, ता एहि अण्णदो गच्छम्ह [हञ्जे ! न शक्नोमि एतस्याभिमुखी स्थातुम्। तदेह्यन्यतो गच्छावः।] [उत्थातुमिच्छति।]

अनन्य०=न अन्या सदृशी यस्याः सा (बहुव्री०) (जिसकी बराबरी में दूसरी और कोई न हो—ऐसी अर्थात् अलौकिक) आकृत्या (आकार से) प्रसादीकृतः=अप्रसादः प्रसादः सम्पद्यमानः कृतः इति प्रसादीकृतः प्रसाद+च्वि+कृ+तः (अनुग्रह स्वरूप दिया है)।

तनुरियम्—हे तरला०=तरले आयते च लोचने यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ (ब० व्री०) (हे चञ्चल और विशाल नयनों वाली !) श्वसित०=श्वसितेन कम्पितौ पीनौ घनौ च स्तनौ यस्याः सा तत्सम्बोधने (ब० व्री०) (साँस लेने (के वेग) से काँपते हुए स्थूल और घने स्तनों वाली !) हे सम्भ्रम०=सम्भ्रमं=त्रासं करोति या तथाभूते (उपपदतत्पु०) (सहसा भेंट हो जाने से डरने वाली !) इयं ते तनुः (यह तेरी देह) तपसा एव अलं श्रमं गता (तपस्या से ही काफ़ी थक चुकी है) पुनः किमिति खि० (फिर क्यों अपने को और कष्ट दे रही हो ?) नायक को लड़की के वहाँ से उठ कर चलने में भी कष्ट दिखाई दे रहा था। वास्तव में वह नहीं चाहता था कि वह चली जाये, इसी लिए वह ऐसा बोल रहा है।

हञ्जे—एतस्य आभि० (इसके सामने) तिर्यक् (तिरछी निगाह से) पराङ्०—

विदूषकः—भो ! भाअदि क्खु एसा । मम पठिअविज्जं विअ मुहुत्तअं धारेमि ! [भो बिभेति खल्वेषा । मम पठितविद्यामिव मुहूर्त्तं धारयामि ।]

नायकः—को दोषः ?

विदूषकः—भोदि ! किं एत्थ तुह्माणं तवोवणे ईरिसो आआरो ?—जेण अदिही आअदो वाआमेत्तएण वि ण संभावीअदि ? [भवति ! किमत्र युष्माकं तपोवने ईदृश आचारः ?—येनातिथिरागतो वाङ्मात्रेणापि न सम्भाव्यते ?]

चेटी—[नायिकां दृष्ट्वा आत्मगतम्] अणुरज्जदि विअ एत्थ एदाए दिट्ठी । भोदु एव्वं दाव भणिस्सं । [प्रकाशम्] भट्टिदारिए ! जुत्तं भणादि बह्मणो । उइदो क्कु दे अदिहिजणसक्कारो । ता किं ईरिसे महाणुभावे पडिवत्तिमूढा चिट्ठसि ? अहवा चिट्ठ तुमं, अहं एव्व जधाणुरूवं करिस्सं । [नायकमुदिश्य] साअदं अज्जस्स । आसणपडिग्गहेण अलङ्करेदु अज्जो इमं पदेसं । [[नायिकां दृष्ट्वा आत्मगतम्] अनुरज्यतीवाऽत्रैतस्या दृष्टिः । भवतु, तदेवं तावद्भणिष्यामि । [प्रकाशम्] भर्तृदारिके ! युक्तं भणति ब्राह्मणः, उचितः खलु तेऽतिथिजनसत्कारः । तत् किमीदृशे महानुभावे प्रतिपत्तिमूढेव तिष्ठसि ? अथवा तिष्ठ त्वम्, अहमेव यथाऽनुरूपं करिष्यामि । [नायकमुद्दिश्य] स्वागतमार्य्यस्य । आसनपरिग्रहेण अलङ्करोत्वार्य्य इमं प्रदेशम् ।]

(मुंह फेरे) मम पठित...धार० (अपनी पढ़ी हुई विद्या की तरह क्षणम् (ज़रा) इसे रोके रखता हूँ) विदूषक मूर्ख है; वह क्षणभर में सब पढ़ा हुआ भूल जाया करता है अतः उसकी विद्या जिस प्रकार क्षणभर ही ठहरती ही उसी प्रकार वह प्रयत्न करता है कि नायिका भी क्षणभर वहाँ ठहरे !

भवति !—आचारः (शिष्टाचार–रिवाज–) वाङ्मा० =(वाणीमात्र से भी) न सम्भाव्यते (नहीं सन्मानित किया जाता) अनुरज्यते इव (प्रेम जैसे कर रही है) प्रतिपत्तिमूढा = प्रतिपत्तौ मूढा (स० तत्पु०) (कर्तव्य और अकर्तव्य के ज्ञान में मूढ) यथानुरूपम् (यथोचित) आसनपरि० (आसन स्वीकार द्वारा अर्थात् आसन

विदूषकः—भो वअस्स ! सोहणं एसा भणादि । उवविसिअ एत्थ मुहुत्तअं वीसमम्ह । [भो वयस्य ! शोभनमेषा भणति । उपविश्य अत्र मुहूर्त्तं विश्राम्यावः ।]

नायकः—युक्तमाह भवान् । [उभावुपविशतः ।]

नायिका—[चेटीमुद्दिश्य सलज्जम्] अइ परिहाससीले ! मा एवं करेहि । कदावि कोवि तावसो पेक्खदि, तदो मं अविणीदेत्ति संभावइस्सदि । [अयि परिहासशीले ! मा एवं कुरु । कदापि कोऽपि तापसः प्रेक्षते, ततो मामविनीतेति सम्भावयिष्यति ।] [ततः प्रविशति तापसः ।]

तापसः—आज्ञापितोऽस्मि कुलपतिना कौशिकेन, यथा,—"वत्स शाण्डिल्य ! पितुराज्ञया सिद्धराजमित्रावसुर्भविष्यद्विद्याधरचक्रवर्त्तिनं कुमारजीमूतवाहनमिहैव मलये पर्वते क्वापि वर्त्तमानं भगिन्या मलयवत्या वरहेतोर्द्रष्टुमद्य गतः । तच्च प्रतीक्षमाणाया मलयवत्याः कदाचित् मध्यन्दिनसवनवेलातिक्रामेत्, तदेनामाहूयागच्छ" इति । तत् तपोवनगौरीगृहमेव गच्छामि । [परिक्रम्य भूमिं निरूप्य सविस्मयम् ।]

पर बैठकर) परिहास० = परिहासः शीलं यस्याः सा तत्सम्बोधने (ब० व्री०;) हँसी के स्वभाव वाली !) । अविनीताम् (ढीठ) सम्भा० (समझेगा) ।

आज्ञा०—'कुलपति' उसे कहते हैं, जो दस हजार छात्रों को भोजनावास-सहित विद्यादान देता है । अंग्रेजी में इस के मिलने-जुलने वाला शब्द 'Chancellor' है, किन्तु उसमें उतनी पवित्रता कहाँ ? सिद्ध० = सिद्धानां राजा (ष० तत्पु०) स चासौ मित्रावसुः (कर्मधा०) (सिद्धों का राजा मित्रावसु) भविष्य० = विद्याधराणां चक्रवर्ती (ष० त०) भविष्यन् चासौ विद्या० (कर्मधा०) (विद्याधरों का भावी सम्राट्) मध्य० = दिनस्य मध्ये इति मध्यन्दिनम् तत्र यत् सवनम् = स्नानवन्दनादिकम् तस्य वेला (मध्याह्न से स्नानादिक का समय) अतिक्रामेत् (बीत जाय) पांसुले = पांसवः विद्यन्ते अस्मिन् (पांसु+लच् मत्वर्थीये) (धूलिवाले) भूप्रदेशे (स्थान में) प्रकाशित० = प्रकाशितानि चक्रवर्तिनः चिह्नानि यस्याः सा तथोक्ता (ब० व्री०) (स्पष्ट चक्रवर्ती के चिह्नों वाली) पदप० = पदानां पङ्क्तिः (ष० त०) (पैरों के निशानों की पंक्ति) ।

उष्णीषः स्फुट एष मूर्द्धनि विभात्यूर्णेयमन्तर्भ्रुवो-
श्चक्षुस्तामरसानुकारि, हरिणा वक्षःस्थलं स्पर्द्धते।
चक्राङ्कञ्च यथा करद्वयमिदं मन्ये तथा कोऽप्ययं
नो विद्याधरचक्रवर्त्तिपदवीमप्राप्य विश्राम्यति॥ १८॥

अथवा कृतं सन्देहेन। व्यक्तमनेनैव जीमूतवाहनेन भवितव्यम्। [मलयवतीं निरूप्य] अये इयमपि राजपुत्री। [उभौ विलोक्य स्वगतम्] चिरात् खलु युक्तकारी विधिः स्यात् यदि युगलमेतदन्योन्यानुरूपं घटयेत्। [उपसृत्य नायकं निर्दिश्य] स्वस्ति भवते।

नायकः—भगवन्! जीमूतवाहनोऽभिवादयते। [उत्थातुमिच्छति।]

उष्णीषः—एष स्फुट उष्णीषः (यह स्पष्ट दिखाई देने वाली उष्णीष की रेखा) चक्रवर्ती के मस्तक पर उष्णीष=पगड़ी अर्थात् पगड़ी बाँधने की रेखा रहती है। मूर्ध० विभा० (मस्तक पर शोभित हो रही है) भ्रुवोः अन्तः (भौंहों के बीच) इयम् ऊर्णा (यह ऊर्णा=बालों का आवर्त–भौंरा–शोभित हो रहा है) चक्षुः ताम०=तामरसम् अनुकरोति इति (उप० तत्पु०) (कमल का अनुकरण करने वाला–कमल-सा–है) वक्षः० हरिणा स्प० (छाती सिंह से होड़ करनेवाली अर्थात् सिंह की जैसी है) यथा इदं पदद्वयं च०=द्वौ अवयवौ यस्य इति द्वयम् पदयोः द्वयम् (ष० त०) चक्रस्य अङ्कः यस्मिन् तथाभूतम् (ब० व्री०) जिस तरह ये (धूलि में दिखाई देनेवाले) दोनों पैर चक्र के चिन्ह वाले हैं) तथा मन्ये (उससे समझता हूँ) कोऽप्ययम् (कोई यह पुरुष) विद्या०=चक्रवर्तिनः पदम् चक्र० विद्याधराणां चक्र० (ष० त०) (विद्याधरों के सम्राट् का स्थान) अप्राप्य न विश्रा० (विना प्राप्त किये नहीं हटेगा)।

अथवा—कृतम्–अव्यय है, इसके योग में तृतीया होती है (क्त) व्यक्तम् (अव्यय) (स्पष्ट तौर पर, प्रत्यक्ष रूप में) चिरात्...स्यात् (बहुत समय के बाद विधाता योग्य कार्य करने वाला (सिद्ध) हो जाय) तापस का भाव यह है कि ब्रह्मा कभी से बदनाम है कि वह सदृश-सदृशों को नहीं मिलाता है; बेमेल काम करता है, किन्तु यदि वह जीमूतवाहन और मलयवती इन योग्य-योग्यों को मिला दे, तो उसका वह कलंक धुल जाय। अभिवादयते (प्रणाम करता है)

तापसः—अलमलम् अभ्युत्थानेन। ननु "सर्वस्याभ्यागतो गुरुः" इति भवानेवास्माकं पूज्यः। तद् यथासुखं स्थीयताम्।

नायिका—अज्ज ! पणमामि। [आर्य्य ! प्रणमामि।]

तापसः—[नायिकां निर्दिश्य] वत्से ! अनुरूपभर्तृगामिनी भूयाः। राजपुत्री ! त्वामाह कुलपतिः कौशिकः, यथा,—"अतिक्रामति मध्यन्दिनसवनवेला, तत् त्वरितमागम्यताम्" इति।

मलयवती—जं गुरु आणवेदि। [आत्मगतम्]

एक्कतो गुरुवअणं अण्णतो दइअदंसणसुहाइं।
गमणागमणाधिरूढं अज्ज वि दोलएदि मे हिअअं ॥१९॥

[यद् गुरुराज्ञापयति। [आत्मगतम्]

एकतो गुरुवचनमन्यतो दयितदर्शनसुखानि।
गमनाऽगमनारूढमद्यापि दोलायते मे हृदयम् ॥ १९ ॥]

[उत्थाय निःश्वस्य सलज्जं सानुरागञ्च नायकं पश्यन्ती तापससहिता निष्क्रान्ता नायिका, चेटी च।]

नायकः—[सोत्कण्ठं निःश्वस्य नायिकां गच्छन्तीं पश्यन्]

अभ्युत्थानेन (उठकर आगे जाने—अगवानी—से) सर्वस्या...रुः (अतिथि सबका गुरु अर्थात् पूजनीय हुआ करता है) जीमूतवाहन तपोवन में आकर तापसों का अतिथि बना हुआ है अतएव वही तपस्वियों द्वारा पूजायोग्य है। अनुरूप० = अनुरूपं भर्तारं गच्छतीति (उप० तत्पु०) (योग्य पति को प्राप्त करनेवाली)।

एकतो—एकतः गुरु० = गुरोः = कौशिक मुनेः वचनम् (एक तरफ तो गुरुजी की आज्ञा) अन्यतः दयित० = दयितस्य दर्शनम् तस्य सुखानि (प० तत्पु०) (दूसरी तरफ प्रियतम के दर्शन का आनन्द) गमन० = गमनञ्च अगमनञ्च तयोः अधिरूढम् (स० तत्पु०) (जाने न जाने (के विचारों) पर सवार हुआ) दोला० (डावाँडोल हो रहा है)

अनया जघनाऽऽभोगभरमन्थरयानया ।
अन्यतोऽपि व्रजन्त्या मे हृदये निहितं पदम् ॥ २० ॥

विदूषकः—भो दिट्ठं तुए पेक्खिदव्वं, ता दाणिं मज्झण्णसूरकिरण-संतावदिउणिदो विअ मे उदरग्गी धमधमाअदि; ता एहि णिक्कमम्ह । जेण बह्मणो अदिही भविअ मुणिजणसआसादो लद्धेहिं कंदमूलफलेहि पि दाव पाणधारणं करेमि । [भो ! दृष्टं त्वया प्रेक्षितव्यम् । तदिदानीं मध्याह्नसूर्यकिरणसन्तापद्विगुणित इव मे उदराग्निर्धमधमायते । तदेहि निष्कामावः । येन ब्राह्मणोऽतिथिर्भूत्वा मुनिजनसकाशात् लब्धैः कन्दमूलफलैरपि यावत् प्राणधारणं करोमि ।]

नायकः—[ऊर्ध्वमवलोक्य] मध्यमध्यास्ते नभस्तलस्य भगवान् सहस्रदीधितिः । तथाहि,—

तापात् तत्क्षणघृष्टचन्दनरसापाण्डू कपोलौ वहन्

अनया—जघना०—जघनस्य आभोगः=विस्तारः तस्य भरः=भारः (ष० त०) तेन मन्थरं यानं यस्याः सा तया (बहुव्री०) (नितम्ब के विस्तार के भार से धीरे-धीरे चलने वाली) अन्यतोऽपि (दूसरी जगह अर्थात् गुरु के समीप) व्रजन्त्या (जाती हुई) मे हृदये पदं निहितम् (मेरे हृदय में पैर रखा है) अर्थात् जा तो रही है दूसरे स्थान में, किन्तु पैर पड़ रहा है मेरे हृदय में—कैसी विचित्र बात है । इससे यह भाव निकला कि अपने अलौकिक सौन्दर्य से उसने मेरे हृदय को अपने काबू में कर लिया है ।

भो ! दृष्टं—मध्या०=मध्याह्ने ये सूर्यस्य किरणाः तेषां सन्तापेन (ष० त०) द्विगुणितः (मध्याह्न में सूर्य की किरणों की गरमी से दुगुनी हुई-सी) उदरा०=उदरस्य अग्निः (पेट की आग) धम० (धूँ धूँ कर रही है, भड़क रही है) मुनि०=मुनिजनस्य सकाशात् (मुनियों के पास से) प्राण० (प्राण बचाऊँ) सहस्र०=सहस्रं दीधितयः यस्य सः (ब० व्री०) (सूर्य) नभस्त०=नभसः तलम् (ष० त०) तस्य (आकाशतल के) मध्यम् अध्या० (मध्यभाग में स्थित है)।

तापात्—तापात् (गरमी के कारण) तत्क्षण०=तत्क्षणम् घृष्टः यः चन्दनानां रसः तेन आपाण्डू (तत्काल रगड़े हुए चन्दनवृक्षों के रस से पीले-पीले) कपोलौ

संसक्तैर्निजकर्णतालपवनैः संवीज्यमानाननः ।
सम्प्रत्येष विशेषसिक्तहृदयो हस्तोज्झितैः शीकरै-
र्गाढाऽऽयल्लकदुःसहामिव दशां धत्ते गजानां पतिः ॥२१॥

[निष्क्रान्तौ]

इति प्रथमोऽङ्कः ।

ब० (गण्डस्थलों को धारण करता हुआ) संसक्तैः (अच्छी तरह जमे हुए) निज० = निजयोः कर्णयोः यः तालः (संचालनम्) तस्मात् (जातैः) पवनैः (अपने कानों के हिलाने से उत्पन्न वायु द्वारा) संवीज्य० = सम्यक्तया वीज्यमानम् आननं यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) (जिस के मुखपर अच्छी तरह पंखा किया जा रहा है—ऐसा) सम्प्रति हस्तो० = हस्तेन उज्झितैः (तृ० त०) (सूँड से छोड़े—फेंके गए) शीकरैः (जलकणों से) विशेष० = विशेषतः सिक्तं हृदयं यस्य सः (ब० व्री०) (जिसकी छाती अच्छी तरह सींची जा रही है ऐसा) गजानां पतिः (गजराज) गाढा० = गाढं यत् आयल्लकम् (कर्मधा०) तेन दुःसहाम् = दुःखेन सोढुं योग्याम् (गाढ़ी उत्कण्ठा—प्रिया से मिलने की इच्छा—के कारण असह्य हुई सी हालत को धारण करता है) । दोपहर की गरमी से आकुल हुए हाथी की अवस्था की तुलना विरह के सन्ताप से पीडित हुए कामी की अवस्था से की गई है, क्योंकि वह भी विरह-सन्ताप दूर करने के लिए वही करता है जो हाथी कर रहा है । हाथी की विरही से उत्प्रेक्षा करके नाटककार मलयवती के वियोग में आगे होनेवाली जीमूतवाहन की आकुलता की ओर संकेत कर रहा है ।

प्रथमोऽङ्कः समाप्तः

अथ द्वितीयोऽङ्कः ।

[ततः प्रविशति चेटी]

चेटी—आणत्तह्मि भट्टिदारिआए मलअवदीए, जहा,—"हञ्जे ! मणोहरिए ! अज्ज चिराअदि मे भाअरो अज्जो मित्तावसू। तो गदुअ जाणेहि किं आअदो ण वेत्ति"। [परिक्रम्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] का उण एसा तुरिदतुरिदं इदो ज्जेव्व आअच्छदि ? [निरूप्य] कहं चदुरिआ ! [आज्ञप्तास्मि भर्तृदारिकया मलयवत्या, यथा—"हञ्जे मनोहरिके ! अद्य चिरयति मे भ्राता आर्यः मित्रावसुः। तद् गत्वा जानीहि किमागतो न वेति। [परिक्रम्य नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] का पुनरेषा त्वरितत्वरितमित एवागच्छति। [निरूप्य] कथं चतुरिका !]

[ततः प्रविशति चतुरिका]

प्रथमा—[उपसृत्य] हला चदुरिए, किंनिमित्तं उण मं परिहरिअ एव्वं तुरिदतुरिदं गच्छिअदि। [[उपसृत्य] हला चतुरिके ! किंनिमित्तं पुनर्मां परिहृत्यैवं त्वरितत्वरितं गम्यते।]

द्वितीया—हला मणोहरिए, आणत्तह्मि भट्टिदारिआए मलअवदीए,—'हञ्जे चदुरिए ! कुसुमावचअपरिस्समणिस्सहं मे सरीरं। सरदादवजणिदो विअ मे संदावो अधिअदरं वाधेदि। ता गच्छ तुमं, वालकदलीपत्तपरिक्खित्ते चंदणलदाघरए चन्दमणिसिलाअलं सज्जीकरेहि' त्ति। अणुचिट्ठिदं अ मए जधा आणत्तं। ता जाव गदुअ भट्टिदारिआए णिवेदेमि। [हला मनोहरिके, आज्ञप्ताऽस्मि भर्तृदारिकया मलयवत्या—'हञ्जे चतुरिके ! कुसुमावचयपरिश्रमनिःसहं मे शरीरं, शरदातपजनित

चिर॰—चिरयति=(देरी लगाता है) त्वरितत्वरितम् (जल्दी-जल्दी) मां परिहृत्य (मुझ से बचकर) कुसुमा॰=कुसुमानाम् अवचयः तत्र परिश्रमः तेन निस्सहम् (फूलों को तोड़ने में थकावट के कारण (कष्ट) न झेल सकने वाला) शरदा॰=शरदः आतपः तेन जनितः (शरद की धूप से पैदा हुआ) अधिकतरम् (और भी अधिक) बाधते (कष्ट दे रहा है) वाल॰=बालानि च तानि कदलीनां

इव मां सन्तापोऽधिकतरं बाधते । तद्गच्छ त्वं, बालकदलीपत्रपरिक्षिप्ते चन्दनलतागृहे चन्द्रमणिशिलातलं सज्जीकुरु' इति । अनुष्ठितञ्च मया यथाऽऽज्ञप्तम् । यावद् गत्वा भर्तृदारिकायै निवेदयामि ।]

प्रथमा—जइ एव्वं, ता लहुं गदुअ णिवेदेहि, जेण से तहिं गदाए उवसमदि संदावो । [यद्येवं, तल्लघु गत्वा निवेदय, येनास्यास्तत्र गताया उपशाम्यति सन्तापः ।]

द्वितीया—[विहस्यात्मगतम्] ण ईरिसो से संदावो जो एव्वं उवसमिस्सदि । विवित्तरमणीअं चंदणलदाघरअं पेक्खन्तीए अधिअदरो संदावो हुविस्सदि त्ति तक्केमि । [प्रकाशम्] ता गच्छ तुमं । अहम्पि "सज्जीकिदं मणिसिलाअलं" त्ति गदुअ भट्टिदारिआए णिवेदेमि । [[विहस्यात्मगतम्] नेदृशोऽस्याः सन्तापो य एवमुपशमिष्यति । विविक्तरमणीयं चन्दनलतागृहं प्रेक्षमाणाया अधिकतरः सन्तापो भविष्यतीति तर्कयामि । [प्रकाशम्] तद्गच्छ त्वम् । अहमपि "सज्जीकृतं मणिशिलातलम्" इति गत्वा भर्तृदारिकायै निवेदयामि ।] [इति निष्क्रान्ते]

प्रवेशकः

पत्राणि तैः परिक्षिप्ते (नये-नये केलों के पत्तों से घिरे हुए) चन्दन० =चन्दनलतानां गृहम् तत्र (चन्दन-लताकुञ्ज में) चन्द्रमणि० =चन्द्रमणेः या शिला तस्याः तलम् (ष० तत्पु०) (चन्द्रकान्त मणि के शिलातल को) सज्जीकुरु=असज्जं सज्जं सम्पाद्यमानं कुरु इति सज्जीकुरु (सज्ज+च्वि √कृ+लोट् मध्य० पु०) (सजाओ, ठीक-ठाक करो) । निवेदयामि (सूचना करती हूँ ।)

यद्येवम्—लघु (शीघ्र) विविक्त० =विविक्तं च रमणीयं च (द्व०) (एकान्त और सुन्दर) तर्कयामि (अनुमान करती हूँ) प्रवेशकः—यह नाटक का पारिभाषिक शब्द है । जब एक अंक के अनन्तर दूसरा अङ्क आरम्भ होता है, तो अङ्क के प्रारम्भ में निम्न जाति के दो पात्र आते हैं और वे कुछ बीती हुई बातों का—जो स्टेज पर नहीं घटी हैं, दर्शक गणों को परिचय देते हैं और साथ ही आगे आनेवाली बातों को भी सूचित कर देते हैं । प्रस्तुत अंक में निम्न जाति के

[ततः प्रविशति सोत्कण्ठा मलयवती, चेटी च ।]

नायिका—[निःश्वस्यात्मगतम्] हिअअ ! तधा णाम तदा तस्सिं जणे लज्जाए मं परं मुही कदुअ दाणिं अप्पणा एव्व तहिं गदं सि त्ति अहो ! दे अत्तंभरित्तणं । [प्रकाशम्] हञ्जे, आदेसेहि मे भअवदीए आअदणं । [[निःश्वस्यात्मगतम्] हृदय ! तथा नाम तदा तस्मिञ्जने लज्जया मां पराङ्मुखीकृत्येदानीमात्मना तत्रैव गतमसीत्यहो ! ते आत्मम्भरित्वम् । [प्रकाशम्] हञ्जे आदिश मे भगवत्या आयतनम् ।]

चेटी—[आत्मगतम्] चंदणलदाघरअं पत्थिदा भणादि भअवदीए आअदणं । [प्रकाशम्] चंदणलदाघरअं भट्टिदारिआ पत्थिदा । [[आत्मगतम्] चन्दनलतागृहं प्रस्थिता भणति भगवत्या आयतनम् । [प्रकाशम्] चन्दनलतागृहं भर्तृदारिका प्रस्थिता ।]

नायिका—[सलज्जम्] हञ्जे ! सुट्ठु सुमराविदं । ता एहि तहिं ज्जेव गच्छम्ह । [[सलज्जम्] हञ्जे ! सुष्ठु स्मारितम् । तदेहि तत्रैव गच्छावः ।]

चेटी—एदु एदु भट्टिदारिआ । [एतु एतु भर्तृदारिका ।]

नायिका—[अन्यतो गच्छति ।]

चेटी—[पृष्ठतो दृष्ट्वा सोद्वेगमात्मगतम् ।] । अहो ! से सुण्णहिअअत्तणं ! कहं तं ज्जेव देवीभवणं पत्थिदा । [प्रकाशम्] भट्टिदारिए ! णं इदो चंदणलदाघरअं । ता इदो इदो एहि । [[पृष्ठतो दृष्ट्वा सोद्वेगमात्मगतम्]

पात्रों—दो दासियों—ने यह कार्य किया है, इसलिए ऐसे कथोपकथन को नाटक में 'प्रवेशक' कहते हैं ।

हृदय—पराङ्मुखी० = पराक् मुखं यस्य सः (ब० व्री०) अपराङ्मुखं पराङ्मुखं सम्पद्यमानं कृत्वा इति पराङ्मुखीकृत्य (विमुख करके, मुंह फिरवा कर) आत्मम्भरित्वम् = आत्मानं बिभर्ति इति आत्मम्भरिः (आत्मन् + √भृ + इन्) तस्य भावः (अपने को ही भरने का काम, स्वार्थपरता) आदिश = आ + √दिश् + लोट् (दिखाओ) आयतनम् (घर, मन्दिर) ।

स्मारितम्—√स्मृ + णिच् + क्त (याद दिलाई) पृष्ठतः (पीछे से) सोद्वेगम्

अहो! अस्याः शून्यहृदयत्वम्! कथं तदेव देवीभवनं प्रस्थिता। [प्रकाशम्] भर्तृदारिके! नन्वितश्चन्दनलतागृहम्। तदित इत एहि।] [नायिका सविलक्षस्मितं तथा करोति।]

चेटी—भट्टिदारिए! इदं चंदनलदाघरश्रं। ता पविसिश्र चंदमणिसिलादले उपविसदु भट्टिदारिश्रा। [भर्तृदारिके! इदं चन्दनलतागृहम्, तत् प्रविश्य चन्द्रमणिशिलातले उपविशतु भर्तृदारिका।] [उभे उपविशतः।]

नायिका—[निःश्वस्यात्मगतम्] भश्रवं कुसुमाउह! जेण तुमं रूवसोहाए णिज्जिदोसि, तस्स तुए ण किम्पि किदं। मं उण श्रणवरद्धं वि श्रबलेत्ति करिश्र पहरंतो कहं ण लज्जेसि?। [आत्मानं निर्वर्ण्य, मदनावस्थां नाटयन्ती प्रकाशम्] हञ्जे! कीस उण (एदं) घणपल्लवणिरुद्धसूरकिरणं तं एव्व चंदणलदाघरश्रं ण मे अज्जवि संदावदुक्खं अवणेदि। [[निःश्वस्यात्मगतम्] भगवन् कुसमायुध, येन त्वं रूपशोभया निर्जितोऽसि, तस्य त्वया न किमपि कृतम्! मम पुनरनपराद्धाया अप्यबलेति कृत्वा प्रहरन्न लज्जसे। [आत्मानं निर्वर्ण्य मदनावस्थां नाटयन्ती प्रकाशम्] हञ्जे! किं पुनर्घनपल्लवनिरुद्धसूर्यकिरणं तदेव चन्दनलतागृहं न मे अद्यापि सन्तापदुःखमपनयति!]

(उद्वेग के साथ) शून्य० = शून्यं च तद् हृदयम् (खाली दिल) सविलक्ष० = विलक्षश्च स्मितं च (द्व०) ताभ्यां सह वर्तमानं यथा स्यात् तथा (ब० व्री०) क्रियाविशे० (आश्चर्य और लज्जा के साथ) समाश्वसित० = सम् + आ + √श्वस् + लोट् (धीरज धरिए) निर्वर्ण्य (देखकर) मदना० = मदनस्य अवस्था ताम् (ष० तत्पु०) (कामविकार की हालत) कुसुमायुध० = कुसुमानि एव आयुधानि यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) (कामदेव) रूपशोभया = रूपस्य शोभा तया (ष० त०) (रूप की शोभा से, सुन्दरता से) अनपराद्धायाः = न अपराद्धा (अप + राध् + क्त) (नञ् तत्पु०) (जिसका अपराध ही नहीं, अनपराधी) घनपल्लव० = घनानि च तानि पल्लवानि (कर्मधा०) तैः अवरुद्धाः सूर्यस्य किरणाः यत्र तथाभूतम् (ब० व्री०) (घने पत्तों से जहां सूर्य की किरणें रुकी हुई हैं—ऐसी) सन्तापदुःख० = सन्तापस्य दुःखम् (ष० तत्पु०) (ताप के क्लेश को)।

चेटी—जाणामि अहं एत्थ संदावस्स कारणं; किं उण असंभावणीअं ति भट्टिदारिआ ण तं पडिवज्जिस्सदि त्ति। [जानाम्यहमत्र सन्तापस्य कारणम्; किं पुनरसम्भावनीयमिति भर्तृदारिका न तत् प्रतिपत्स्यते इति।]

नायिका—[आत्मगतम्] लक्खिदा विअ अहं एदाए, तहवि पुच्छिस्सं। [प्रकाशम्] हञ्जे! किं तं जं ण पडिवज्जिअदि। ता कहेहि दाव किं तं कारणं? [[आत्मगतम्] लक्षितेवाहमेतया, तथाऽपि पृच्छामि। [प्रकाशम्] हञ्जे! किं तत् यन्न प्रतिपद्यते। तत्कथय तावत् किं कारणम्?]

चेटी—एसो दे हिअअट्ठिदो वरो—[एष ते हृदयस्थितो वरः—]

नायिका—[सहर्षं ससम्भ्रमञ्चोत्थाय अग्रतो द्वित्राणि पदानि गत्वा] कहिं कहिं सो?। [कुत्र कुत्र सः?]

चेटी—[उत्थाय सस्मितं] भट्टिदारिए! सो को?। [भर्तृदारिके? स कः?।]

नायिका—[सलज्जमुपविश्य अधोमुखी तिष्ठति।]

चेटी—भट्टिदारिए! एदम्हि वत्तुकामा,—एसो दे हिअअट्ठिदो वरो एव्व देईए दिण्णो। सिविणके पत्थाविदे जो तक्खणं एव्व पविमुक्ककुसुमवाणो विअ मअरद्धओ भट्टिदारिआए दिट्ठो! सो दे इमस्स संदावस्स कारणं, जेण एदं सहावसीदलंपि चंदणलदाघरअं ण दे संदावदुक्खं अवणेदि। [भर्तृदारिके! एतदस्मि वक्तुकामा,—एष ते हृदयस्थितो वर एव देव्या दत्तः स्वप्ने प्रस्तुते क्षणमेव प्रविमुक्तकुसुमबाण

असंभा०—न+सम्+√भू+णिच्+अनीय (जो सम्भावना योग्य न हो, असम्भव) प्रतिपत्स्यते (स्वीकार करेगी) लक्षिता (जान ही लिया, भाँप लिया) प्रतिपद्यते (स्वीकार किया जाता है) द्वित्राणि=द्वे च त्रीणि च (दो-तीन) अधोमुखी=अधः मुखं यस्या सा (ब० व्री०) (नीचे मुंह किये हुए)। भर्तृदारिके—वक्तुकामा=वक्तुं कामो यस्याः सा (ब० व्री०) 'कामः' और 'मनः' शब्दों के साथ बहुव्रीहि में 'तुम्' प्रत्यय में 'म्' का लोप हो जाया करता है (बोलना चाहनेवाली) स्वप्ने प्रस्तुते (जब स्वप्न हो रहा था) प्रविमुक्त०=प्रविमुक्तः कुसुम-चापः (कुसुमनिर्मितश्चासौ चापः मध्यमपदलोपी समास) येन सः

इव मकरध्वजो भर्तृदारिकया दृष्टः। स ते अस्य सन्तापस्य कारणं, येनैतत् स्वभावशीतलमपि चन्दनलतागृहं न ते सन्तापदुःखमपनयति।]

नायिका—[चतुरिकाया अलकं सज्जयन्ती] हञ्जे! चदुरिआ क्खु तुमं। किं दे अवरं पच्छाईअदि, ता कहिस्सं! [[चतुरिकाया अलकं सज्जयन्ती] हञ्जे! चतुरिका खलु त्वम्। किं ते अपरं प्रच्छाद्यते, तत् कथयिष्यामि।]

चेटी—भट्टिदारिए! दाणिं एव्व कहिदं इमिणा वरालावमत्तजणिदेण संभमेण। ता मा संतप्प। जइ अहं चदुरिआ, तदा सोवि भट्टिदारिअं अवेक्खंतो ण मुहुत्तअं पि अहिरमिस्सदि। ता एदम्पि मए लक्खिदं। [भर्तृदारिके! इदानीमेव कथितमसुना वरालापमात्रजनितेन सम्भ्रमेण। तन्मा सन्तप्यस्व। यद्यहं चतुरिका, तदा सोऽपि भर्तृदारिकामप्रेक्षमाणो न मुहूर्त्तमप्यभिरंस्यते। तदेतदपि मया लक्षितम्।]

नायिका—[सास्रम्] हञ्जे! कुदो अम्हाणं एत्तिआणि भाअधेआइं? [[सास्रम्] हञ्जे! कुतोऽस्माकमियन्ति भागधेयानि?]

चेटी—भट्टिदारिए! मा एव्वं भण। किं मधुमहणो वच्छत्थलेण लच्छिं अणुव्वहंतो णिव्वुदो भोदि? [भर्तृदारिके! मैवं भण। किं मधुमथनो वक्षःस्थलेन लक्ष्मीमनुद्वहन् निर्वृतो भवति?]

(ब० व्री०) (जिसने फूलों का धनुष छोड दिया है—ऐसा, पुष्प-चाप-रहित) मकर० = मकरः ध्वजे यस्य सः (ब० व्री०) (जिसकी ध्वजा पर मकर = मत्स्य है अर्थात् कामदेव) स्वभाव० = स्वभावात् शीतलम् (पं० तत्पु०) (स्वभाव से ही ठंडा)।

अलकम्—अलकम् (बालों को) प्रच्छाद्यते (छिपाया जाता है) वराला० = वरस्य आलापः एव आलापमात्रं तेन जनितेन ('वर'-सम्बन्धी बातचीत से ही पैदा हुए) संभ्रमेण (भय से) अप्रेक्षमाणः न प्रेक्षमाणः (प्र + √ ईक्ष् + शानच्) न अभिरंस्यते = अभि + √ रम् लृट्, आल० (सुखी नहीं रहेगा, उसे चैन नहीं होगा) भागधेयानि (भाग्य) मधुमथनः = मधुं मथ्नाति मधुमथनः (मधु नाम के दैत्य को मार डालने वाले—भगवान विष्णु—) वक्षःस्थलेन = वक्षसः स्थलम् तेन

नायिका—किं सुअणो पिअं वज्जिअ अण्णं भणिदुं जाणादि ? सहि ! अदो वि संदावो अधिअदरं मं बाधेदि, जं सो महाणुभाओ वाआमेत्तेण वि अकिदपडिवत्ती अदक्खिणेत्ति मं संभावइस्सदि। [इति रोदिति] [किं सुजनः प्रियं वर्जयित्वाऽन्यद् भणितुं जानाति। सखि ! अतोऽपि मे सन्तापोऽधिकतरं बाधते यत्स महानुभावो वाङ्मात्रेणाप्यकृतप्रतिपत्तिरदक्षिणेति मां सम्भावयिष्यति। [इति रोदिति]]

चेटी—भट्टिदारिए ! मा रोद ! अहवा कहं ण रोइस्सदि ? अहिओ से हिअअस्स संदावो अधिअदरं बाधेदि। ता किं दाणीं एत्थ करइस्सं ? ता जाव चंदणलदापल्लवरसं से हिअए दाइस्सं। [उत्थाय चन्दनपल्लवं गृहीत्वा निष्पीड्य हृदये ददाति।] भट्टिदारिए ! णं भणामि, मा रोद। अअं क्खु ईरिसो चंदणरसो इमेहिं अणवरदपडंतेहिं बाहविंदूहिं उण्हीकिदो ण दे हिअअस्स एदं संदावं अवणेदि ! [भर्तृदारिके ! मा रुदिहि। अथवा कथं न रोदिष्यति ? अधिकोऽस्या हृदयस्य सन्तापोऽधिकतरं बाधते। तत् किमिदानीमत्र करिष्ये ! तद् यावत् चन्दनलतापल्लवरसमस्या हृदये दास्ये। [उत्थाय चन्दनपल्लवं गृहीत्वा निष्पीड्य हृदये ददाति] भर्तृदारिके ! ननु भणामि, मा रुदिहि। अयं खल्वीदृशश्चन्दनरस एभिरनवरतपतद्भिर्बाष्पबिन्दुभिरुष्णीकृतो

(छाती के स्थान से) अनुद्वहन्=उद् वहति इति उद्वहन् (उद्+√ वह्+शतृ) न उद्व० इति अनुद्व० (न रखे हुए) निर्वृतः (सुख-सम्पन्न, चैन में) अर्थात् जिस प्रकार विष्णु भगवान् को लक्ष्मी को छाती से लगाये रखे विना चैन नहीं रहता, उसी प्रकार जीमूतवाहन को भी तुम्हारे विना चैन नहीं होगा। किं सुजनः... जानाति (क्या सुजन—मित्रजन—प्रिय बात को छोड़कर अन्य बात बोलना जानते हैं ? अर्थात् मित्रलोगों का स्वभाव ही ऐसा होता है कि वे सदा अच्छा ही बोला करते हैं)। नायिका को चेटी के वचनों में विश्वास नहीं होता है। वाङ्मा०... संभा० (वाणी-मात्र से भी सत्कार नहीं किया) अकृतप्रति०=न कृता प्रतिपत्तिः (सम्मानं) यया तादृशीम् (सम्मान न करनेवाली) अदक्षिणा=न दक्षिणा (शिष्टाचारकुशला) (शिष्टाचार से रहित, अशिष्ट) सम्भा० (समझेगा)।

भर्तृदा०—चन्दन०=चन्दन-लतायाः पल्लवानां रसः तम् (ष० त०) (चन्दनलता के पत्तों का रस) अनवरत०=अनवरतं पतद्भिः (लगातार गिरते हुए)

न ते हृदयस्य एतं सन्तापमपनयति ।] [कदलीपत्रमादाय वीजयति ।]

नायिका—[हस्तेन निवारयति] सहि ! मा वीजेहि । उण्हो क्खु एसो कअलीदलमारुदो । [[हस्तेन निवारयति] सखि ! मा वीजय । उष्णः खल्वेष कदलीदलमारुतः ।]

चेटी—भट्टिदारिए ! मा इमस्स दोसं कहेहिं,

कुणसि घणचन्दणलदापल्लवसंसग्गसीदलं पि इमं ।
णीसासेहिं तुमं एव्व कअलीदलमारुअं उण्हं ॥ १ ॥

[भर्तृदारिके ! माऽस्य दोषं कथय—

करोषि घनचन्दनलतापल्लवसंसर्गशीतलमपीमम् ।
निःश्वासैस्त्वमेव कदलीदलमारुतमुष्णम् ॥१॥]

नायिका—[साखम्] सहि, अत्थि कोवि इमस्स दुक्खस्स उवसमोवाओ ? [[साखम्] सखि, अस्ति कोऽप्यस्य सन्तापस्योपशमोपायः ?]

चेटी—भट्टिदारिए, अत्थि जदि सो एत्थ आअच्छदि । [भर्तृदारिके, अस्ति यदि सोऽत्रागच्छति ।]

[ततः प्रविशति नायको विदूषकश्च ।]

नायकः—

व्यावृत्यैव सिताऽसितेक्षणरुचा तानाश्रमे शाखिनः

वाष्पबि० = वाष्पस्य बिन्दवः तै (आंसुओं की बूँदों से) उष्णीकृत० = अनुष्णः उष्णः सम्पद्यमानः कृतः उष्ण + च्वि + कृ + तः (गरम बनाया गया हुआ) वीजयति (पंखा करती है) कदली० = कदल्याः दलं तस्य मारुतः (ष० तत्पु०) (केले के पत्ते की हवा)।

करोषि—त्वमेव घनचन्द० = घना या चन्दनलता तस्याः पल्लवानां यः संसर्गः तेन शीतलम् (घनी चन्दनलता के पत्तों के सम्पर्क से ठण्डे हुए) इमं कदली० = (इस केले के पत्ते की हवा को) निःश्वासैः (आहों से) उष्णं करोषि (गरम बना रही हो) । (१)

व्यावृत्यैव—व्या० = वि + आ √ वृत् + य (मुड़कर) सिता० = सिते असिते च ये ईक्षणे तयोः रुचा (सफेद और काली आँखों की कान्ति से) आश्रमे शाखिनः (आश्रम में उन वृक्षों को) विटपा० = विटपेषु (शाखासु) अवसक्तानि

कुर्वत्या विटपावसक्तविलसत्कृष्णाजिनौघानिव ।
यद् दृष्टोऽस्मि तया मुनेरपि पुरस्तेनैव मय्याहते
पुष्पेषो ! भवता मुधैव किमिति चिप्यन्त एते शराः ? ॥२॥

विदूषकः—भो वअस्स ? कहिं क्खु दे गदं तं धीरत्तणं ? [भो वयस्य ? कुत्र खलु ते गतं तद् धीरत्वम् ?]

नायकः—वयस्य, ननु धीर एवास्मि । कुतः—

नीताः किं न निशाः शशाङ्कधवला नाघ्रातमिन्दीवरं ?
किं नोन्मीलितमालतीसुरभयः सोढाः प्रदोषानिलाः ? ।
झङ्कारः कमलाकरे मधुलिहां किं वा मया न श्रुतो

(स० तत्पु०) विटपा० च तानि विलसन्ति च (द्व०) यानि कृष्णानां (कृष्णसार-मृगाणां अजिनानि तेषाम् ओघः येषु तथाभूतान् (ब० ब्री०) (जहां शाखाओं पर कृष्णसारमृगों के चमकते हुए चर्मों का समूह टंगा हुआ है—ऐसे) कुर्वत्या इव (करती हुई-सी) यत् मुनेः अपि पुरतः दृष्टः (जो मुनि के भी सामने देखा है) तेनैव आहते मयि (उसी से मारे हुए मुझपर) हे पुष्पेषो=पुष्पाणि एव इषवः यस्य सः तत्सम्बोधने (ब० ब्री०) (हे कामदेव) भवता किमिति (क्यों) मुधा एव (व्यर्थ ही) एते शराः प्रक्षिप्यन्ते (ये बाण फेंके जा रहे हैं ?) अर्थात् जब मलयवती के कमनीय कटाक्ष ने ही मेरा हृदय बींध रखा है, तो फिर मेरा हृदय बींधने के लिए तेरा बाण मारना बेकार ही है । (२)

नीताः—शशाङ्क०=शशाङ्केन धवला (तृ० त०) (चाँद से उज्ली) निशाः किं न नीताः (रातें क्या नहीं काटीं ?) इन्दीवरं न आघ्रातं (कमल नहीं सूंघा ?) उन्मी०=उन्मीलिताश्च ताः मालत्यः (कर्मधा०) ताभिः सुरभयः (तृ० तत्पु०) (खिले हुए चमेली के फूलों से सुगन्धित) प्रदो०=प्रदोषेषु अनिलाः (स० तत्पु०) (सायंकाल वायु) न सोढाः किम् ? (नहीं सहे हैं क्या ?) कमला०=कमलानाम् आकरः तस्मिन् (कमलों की खान अर्थात् कमल-वन में) मधुलिहाम्=मधु लिहन्ति इति तेषाम् (भ्रमरों का) झंकारः न श्रुतः किम् ? (नहीं सुना है क्यों ?) येन (जिससे) विधुरेषु (प्रिया-वियुक्तों में) अधीरः इति मां भवान्

१ ०रुचयो ।

निर्व्याजं विधुरेष्वधीर इति मां येनाभिधत्ते भवान् ? ॥३॥

[विचिन्त्य] अथवा मृषा नाभिहितं, वयस्यात्रेय! नन्वधीर एवास्मि

स्त्रीहृदयेन न सोढाः क्षिप्ताः कुसुमेषवोऽप्यनङ्गेन ।
येनाद्यैव पुरस्तव वदामि धीर इति स कथमहम् ? ॥४॥

विदूषकः—[आत्मगतम्] एव्वमधीरत्तणं पडिवज्जंतेण आच क्खिदो महन्तो अणेण हिअअस्स आवेगो। ता जाव कहिं एव्व एदं अवक्खिवामि। [प्रकाशम्] भो वअस्स! कीस उण अज्ज तुमं लहु एव्व गुरुअणं सुस्सूसिअ इह आगदो? [[आत्मगतम्] एवमधीरत्वं प्रतिपद्यमानेनाख्यातो महानननेन हृदयस्यावेगः, तत् यावत् कुत्रैव एनम् अपक्षिपामि [प्रकाशम्] भो वयस्य! कथं पुनरद्य त्वं लघ्वेव गुरुजनं शुश्रूषित्वा इहागतः!

नायकः—वयस्य! स्थाने खल्वेष प्रश्नः। कस्य वाऽन्यस्यैतत्कथनीयम्?। अद्य खलु स्वप्ने जानामि—सैव प्रियतमा [अङ्गुल्या निर्दिशन्] अत्र चन्दनलतागृहे चन्द्रकान्तमणिशिलायामुपविष्टा प्रणयकुपिता

निर्व्याजम् निर्गतः व्याजः यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् (क्रियाविशे०) (विना छल के निष्कपट भाव से, सचमुच ही) अभिधत्ते (कहते हो)। (३)

स्त्रीहृद०—स्त्री० = स्त्रियां हृदयं यस्य अथवा स्त्रिया इव हृदयं यस्य तथाभूतेन मया (ब० व्री०) प्रियतमापर गये हुए हृदयवाले अथवा स्त्री के जैसे (कच्चे) हृदयवाले मैंने, अनङ्गेन क्षिप्ताः कुसु० = कुसुमानाम् इषवः (कामदेव द्वारा फेंके फूलों के बाण भी) सोढाः = √सह् + त (सहे) अर्थात् अनङ्ग—विनाशरीरवाले—द्वारा फेंके फूलों के बाण भी यदि मैंने नहीं सहे, तो मैं धीर काहे का। (४)

एवम०—प्रति० = प्रति + √पद् (दिवादि) + शानच् (स्वीकार करते हुए) आवेगः (क्षोभ) आख्यातः (कहा है, प्रकट किया है) अपक्षिपामि (लगाता हूँ अर्थात् इसका मन बहलाता हूँ) शुश्रूषित्वा (सेवा कर के)।

वयस्य—स्थाने (अव्यय) (बड़े मौके पर, ठीक ही समय) प्रणयः प्रणयेन कुपिता (तृ० तत्पु०) (प्रणय-प्रेम-का कोप किये हुए) आलभमाना इव

किमपि मामुपालभमानेव रुदता मया दृष्टा। तदिच्छामि स्वप्नानुभूत-दयितासमागमरम्येऽस्मिश्चन्दनलतागृहे दिवसमतिवाहयितुम्। तदेहि, गच्छावः [परिक्रामतः ।]

चेटी—[कर्णं दत्त्वा ससंभ्रमम्] भट्टिदारिए, पदसद्दो विश्रसुणीअदि। [[कर्णं दत्त्वा ससंभ्रमम्] [भर्तृदारिके, पदशब्द इव श्रूयते।]

नायिका—[ससम्भ्रममात्मानं पश्यन्ती] हञ्जे! मा ईरिसं आआरं पेक्खिअ कोवि मे हिअअं तुलईस्सदि। ता उट्ठेहि, इमिणा रत्तासोअपाद-वेण अन्तरिदा पेक्खम्ह दाव को एसो त्ति। [[ससम्भ्रममात्मानं पश्यन्ती] हञ्जे! मा ईदृशमाकारं प्रेक्ष्य कोऽपि मे हृदयं तुलयिष्यति। तदुत्तिष्ठ, अनेन रक्ताशोकपादपेन अन्तरिते प्रेक्षावहे तावत् क एष इति।] [तथा कुरुतः।]

विदूषकः—एदं चंदणलदाघरअं। ता एहि पविसम्ह। [इदं चन्दनलतागृहम्। तदेहि प्रविशावः।] [नाट्येन प्रविशतः।]

नायकः—

चन्दनलतागृहमिदं सचन्द्रमणिशिलमपि प्रियं न मम।
चन्द्राननया रहितं चन्द्रिकया मुखमिव निशायाः ॥५॥

उलाहना-सा देती हुई स्वप्नानु० = स्वप्ने अनुभूतः यः प्रियायाः समागमः तेन रम्ये (स्वप्न में अनुभव किये प्रियतमा के समागम से सुन्दर) दिवसशेषम् = दिवसस्य शेषम् (दिन के शेष भाग को) समतिवाहयितुम् = सम् + अति + वह् + णिच् + तुम् (बिताने को) पदशब्द इव (पैरों की आहट-सी)।

हञ्जे—आकारम् (चन्दनरसादि से लिप्त) (देह को) मे हृदयं तुल० = तुलां करिष्यति इति तुल० (तुला + णिच् नामधातु) + लृट् (मेरे हृदय को तोल लेगा अर्थात् मेरे हृदय का पता लगा लेगा) रक्ताशो० = रक्ताशोकस्य पादपः तेन (रक्ताशोक के वृक्ष से) अन्तरिते (छिपी हुई, अर्थात् उसकी आड़ में होकर)।

चन्दन०—सचन्द्र० अपि = चन्द्रमणेः शिलया सहितम् इति सचन्द्र० (ब० व्री०) (चन्द्रकान्त मणि की शिला से युक्त भी) इदं चन्दन० (यह चन्दन-लतागृह) चन्द्रा० = चन्द्र इव आननं यस्याः तया (ब० व्री०) (चन्द्रमुखी से)

चेटी—[दृष्ट्वा] भट्टिदारिए! दिट्ठिआ वड्ढसि। सो एव्व णं दे हिअअवल्लहो जणो। [[दृष्ट्वा] भर्तृदारिके! दिष्ट्या वर्धसे। स एव ननु ते हृदयवल्लभो जनः।]

नायिका—[दृष्ट्वा सहर्षं, ससाध्वसञ्च] हञ्जे! एदं पेक्खिअ अदिसद्धसेण ण सक्कुणोमि इह एव्व असण्णे चिट्ठिदुं, कदावि एसो मं पेक्खदि, ता एहि अण्णदो गच्छम्ह। [सोत्कण्ठं पदं दत्वा] हञ्जे! वेवंति मे ऊरुओ। [[दृष्ट्वा सहर्षं, ससाध्वसञ्च] हञ्जे! एनं प्रेक्ष्याऽतिसाध्वसेन न शक्नोमीहैवाऽऽसन्ने स्थातुं, कदाप्येष मां पश्यति। तदेह्यन्यतो गच्छावः। [सोत्कण्ठं पदं दत्वा] हञ्जे! वेपेते मे ऊरू।]

चेटी—[विहस्य] अई काअरे! इह ट्ठिदं तुमं को पेक्खदि? णं विसुमरिदो दे अअं रत्तासोअपादवो, ता इध एव्व उवविसिअ चिट्ठम्ह। [तथा कुरुतः] [[विहस्य] अयि कातरे! इह स्थितां त्वां कः पश्यति?। ननु विस्मृतस्तेऽयं रक्ताशोकपादपः? तदिहैवोपविश्य तिष्ठावः। [तथा कुरुतः]]

विदूषकः—[निरूप्य] भो वअस्स! एसा सा चन्दमणिसिला। [[निरूप्य] भो वयस्य! एषा सा चन्द्रमणिशिला।]

नायकः—[सबाष्पं निःश्वसिति।]

चेटी—भट्टिदारिए! जाणामि सिविणआलावो, विअ, ता अवहिदा दवि सुणम्ह। [भर्तृदारिके! जानामि स्वप्नालाप इव, तदवहिते तावत् शृणुवः।] [उभे आकर्णयतः।]

चेहरेवाली से) रहितम् सन् (शून्य हुआ) चन्द्रिकया (चाँदनी से) (रहितम्) निशाया मुखम् इव (सायंकाल, सन्ध्या-समय की तरह) मम न प्रियम् (मुझे अच्छा नहीं लगता) (५)

भर्तृदा०—दिष्टया वर्धसे (बधाई हो) स्वप्ना० = स्वप्नस्य आलापः (स्वप्न-सम्बन्धी बातचीत) सबाष्पम् बाष्पेण सहितं यथा स्यात् तथा (सिसकियाँ लेते हुए) (आँसू बहाते हुए)।

विदूषकः—[हस्तेन चालयन्] भो वअस्स! णं भणामि एसा सा चंदमणिसिलेत्ति। [[हस्तेन चालयन्] भो वयस्य! ननु भणामि, एषा सा चन्द्रमणिशिलेति।]

नायकः—[सबाष्पं निःश्वस्य] सम्यगुपलक्षितम्। [हस्तेन निर्दिश्य]

शशिमणिशिला सेयं यस्यां विपाण्डुरमाननं
करकिसलये कृत्वा वामे घनश्वसितोद्गमा।
चिरयति मयि व्यक्ताकूता मनाक् स्फुरितैर्भ्रुवो-
र्विरमितमनोमन्युर्दृष्टा मया रुदती प्रिया॥ ६॥

अतस्त्वस्यामेव चन्द्रमणिशिलायामुपविशावः।

[उभावुपविशतः।]

नायिका—[विचिन्त्य] का उण एसा हुविस्सदि?। [[विचिन्त्य] का पुनरेषा भविष्यति?।]

चेटी—भट्टिदारिए! जधा अम्हे ओवारिदा दाव एदं पेक्खम्ह, मा णाम तुमम्पि एव्वं दिट्ठा। [भर्तृदारिके! यथा आवामपवारिते तावदेनं प्रेक्षावहे, मा नाम त्वमप्येवं दृष्टा।]

शशि०—सा इयं शशि०=शशिमणेः=चन्द्रकान्तस्य शिला। यस्याम् (जिस पर बैठी हुई) मयि चिरयति=चिरं करोति चिर+णिच्+शतृ+सप्तमी (सतिसप्त०) (मेरे (आने में) देरी करने पर) विपाण्डुरम्=(पीले-पीले (मुख को) वामे कर०=करः किसलय इव तस्मिन् (उपमिततत्पु०) (पत्ते-जैसे (कोमल) हाथपर) कृत्वा (रखकर) घनश्व०=घनः श्वसितानाम् उद्गमः यस्याः सा (ब० व्री०) (गहरे निश्वासों को छोड़ती हुई) भ्रुवोः मनाक् स्फुटितैः (भौहों की कुछ चेष्टाओं से) व्यक्ता०=व्यक्तः आकूतः यस्याः तथोक्ता (ब० व्री०) (मन का अभिप्राय जिस का व्यक्त—प्रकट—हो गया है—ऐसी) विरमित०=मनसि गतः मन्युः मनोमन्युः (मध्यमपदलोपी समास) विरमितः मनोमन्युः यया सा (ब० व्री०) (मन का रोष जिसने शान्त कर दिया है—ऐसी) रुदती (रोती हुई) प्रिया मया दृष्टा (प्रिया मैंने देखी थी)

नायिका—जुज्जदि एदं । किं उण पणअकुविदं पिअअणं हिअअ करिअ मंतेदि ? । [युज्यते एतत् । किं पुनः प्रणयकुपितं प्रियजनं हृदये कृत्वा मन्त्रयति ।]

चेटी—भट्टिदारिए ! मा ईरिसिं सङ्कं करेहि, पुणोवि दाव सुणम्ह [भर्तृदारिके ! मा ईदृशीं शङ्कां कुरुष्व । पुनरपि तावत् शृणुवः ।]

विदूषकः—[आत्मगतम्] अहिरमदि एसो एदाए कधाए, भोदु एदं ज्जेव्व वड्ढाइस्सं । [प्रकाशम्] भो वअस्स ! तदा सा तुए रुदंती किं भणिदा ? [[आत्मगतम्] अभिरमते एव एतया कथया, भवतु एतामेव वर्धयिष्यामि । [प्रकाशम्] भो वयस्य ! तदा सा त्वया रुदती किं भणिता ?]

नायकः—वयस्य ! इदमुक्तम्—

निष्यन्दत इवानेन मुखचन्द्रोदयेन ते ।
एतद् वाष्पाम्बुना सिक्तं चन्द्रकान्तशिलातलम् ॥७॥

नायिका—[सरोषम्] चदुरिए ! अत्थि किं अदो वि अवरं सोदव्वं ! [सास्त्रं] ता एहि, अण्णदो गच्छम्ह । [[सरोषम्] चतुरिके ! अस्ति किमतोऽप्यपरं श्रोतव्यम् ? । [सास्त्रं] तदेहि, अन्यतो गच्छावः ।]

चेटी—[हस्ते गृहीत्वा] भट्टिदारिए ! एव्वं मा भण, तुमं एव्व सिविणए दिट्ठा, ण एदस्स अण्णस्सिं दिट्ठी अहिरमदि । [[हस्ते गृहीत्वा] भर्तृदारिके ! एवं मा भण, त्वमेव स्वप्ने दृष्टा, नैतस्याऽन्यस्यां दृष्टिरभिरमते ।]

भर्तृदा०—अपवारिते (छिपे हुए) युज्यते (ठीक है) प्रणय० = प्रणयेन कुपितः तम् (तृ० तत्पु०) (प्रेम में रूठी हुई) अभिरमते अभि + √ रम् + लट् (प्रसन्न होता है) वर्धयिष्यामि = वृध + णिच् + लृट् (बढ़ादूंगा)।

निष्य०—वाष्पा० = वाष्पस्य अम्बु तेन (ष० त०) (आंसुओं के जल से) सिक्तम् = √ सिच् + क्त (सींचा हुआ) एतत् चन्द्रका० (यह चन्द्रकान्तशिलातल) ते अनेन मुख० = मुखम् एव चन्द्रः (कर्मधा०) तस्य उदयेन । (ष० त०) (तुम्हारे इस मुख-रूपी चन्द्रमा के उदय होने से) निष्यन्दते इव = नि + √ स्यन्द् + लट् (मानो चू रहा है)

नायिका—ण मे हिअअं पतिआअदि, ता कहावसाणं जाव पडिवालेम्ह । [न मे हृदयं प्रत्येति, तत्कथाऽवसानं यावत् प्रतिपालयावः।]

नायकः—वयस्य! जाने तामेवास्यां शिलायामालिख्य, तया चित्रगतया आत्मानं विनोदयामीति। तदित एव गिरितटान्मनःशिलाशकलान्यादाय आगच्छ।

विदूषकः—जं भवं आणवेदि। [परिक्रम्य गृहीत्वोसृपत्य] भो वअस्स! तुए एक्को वण्णओ आणत्तो। मए उण इध ज्जेव्व सुलहा पञ्चराइणो वण्णआ आणीदेति। आलिहदु भवं। [यद्भवान् आज्ञापयति। [परिक्रम्य गृहीत्वोपसृत्य] भो वयस्य! त्वया एको वर्णक आज्ञप्तः; मया पुनरिहैव सुलभाः पञ्चरागिणो वर्णा आनीता इति; आलिखतु भवान्।] [उपनयति।]

नायकः—वयस्य, साधु कृतम्। [गृहीत्वा शिलायामालिखन् सरोमाञ्चम्] सखे, पश्य—

अक्लिष्टबिम्बशोभाधरस्य नयनोत्सवस्य शशिन इव।

न मे—प्रत्येति=प्रति+इ+लट् (विश्वास करता है) कथा०=कथायाः अवसानम् (ष० त०) (कथा की समाप्ति) प्रतिपालयावः=प्रति+√पाल्+लट् (प्रतीक्षा करती हैं)। आलिख्य=आ+√लिख्+य (चित्र खींच कर) चित्र०=चित्रे गता तया (स० तत्पु०) (चित्र के रूप में वर्तमान) गिरि०=गिरेः तटम् तस्मात् (ष० त०) (पहाड़ की ढलान से) मनः=मनःशिलायाः शकलानि (ष० त०) (मनशिल (गैरुकादि धातु–विशेष) के टुकड़ों को) आदाय (लाकर) वर्णकः (रंग का धातु) पंचः (पाँच रंगों वाले)।

अक्लिष्ट०—(१) न क्लिष्टम् यत बिम्बम् (बिम्बफलम्) तद्वत् शोभा यस्य (ब० व्री०) तथाभूतः अधरः यस्मिन् (ब० व्री०) (अच्छी तरह पके हुए बिम्ब फल की तरह शोभावाला ओंठ जिसमें है ऐसा) चन्द्र के पक्ष में (२) न क्लिष्टा=मेघाच्छन्ना या बिम्बस्य=मण्डलस्य शोभा तस्याः धरः (धरतीति धरः) (ष० तत्पु०) (मेघों से रहित मण्डल की शोभा को धारण करने वाले) नय०=नयनयोः उत्सवः तस्य (ष० त०) (आँखों के उत्सव अर्थात् आनन्द देने वाले) शशिन:

दयितामुखस्य सुखयति रेखाऽपि प्रथमदृष्टेयम् ॥ ८ ॥

[आलिखति।]

विदूषकः—[सकौतुकं निर्वर्ण्य] भो वअस्स अपच्चक्खवि ए रूअं लिहीअदि, अहो अच्छरिअं! [[सकौतुकं निर्वर्ण्य] भो वयस्य अप्रत्यक्षेऽपि एवं नाम रूपं लिख्यते, अहो आश्चर्यम्!]

नायकः—[सस्मितम्] वयस्य!—

प्रिया सन्निहितैवेयं सङ्कल्पस्थापिता पुरः।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा लिखाम्येनां यदि तत् कोऽत्र विस्मयः? ॥९॥

नायिका—[सास्रम्] चदुरिए। जाणिदं क्खु कहावसाणं, ता दाव मित्तावसुं पेक्खह्म। [[सास्रम्] चतुरिके! ज्ञातं खलु कथाऽवसानं, तद् तावन्मित्रावसुं प्रेक्षावहे।]

इव (चन्द्रमा की सी) दयिता० = दयितायाः मुखं तस्य (ष० त०) (प्रियतमा मुँह की) प्रथम० = प्रथमं दृष्टा (पहले-पहल देखी गई), सुखयति = सु करोति इति सुख० (सुख पहुँचाती है)

अप्रत्य०—अप्रत्यक्षेऽपि (जो सामने नहीं है, उसका भी) लिख्यते (चि खींचा जाता है)।

प्रिया०—संकल्प० = संकल्पैः स्थापिता (तृ० तत्पु०) (संकल्पों—चिन्तनों रखी हुई) पुरः सन्नि० (सामने समीप में ही है) यदि दृष्ट्वा दृष्ट्वा = (देख देख कर एनां लिखामि (इस का चित्र बना रहा हूँ) तत् अत्र कः विस्मयः (तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है?) नायक का भाव यह है कि जिस के विषय में ह बराबर चिन्तन करते रहते हैं, वह हमेशा हमारे आँखों के सामने ही रहती है दूर कहाँ।

चतुरिके—कथा० = कथायाः अवसानम् (ष० त०) कथा का अन्त जीवित० = नास्ति अपेक्षा यस्य सः (ब० व्री०) जीविते निरपेक्षः (स० तत्पु०) (जीवन की अपेक्षा न रखनेवाला अर्थात् मलयवती के बोलने के ढंग से ऐसा झलकता है कि उसे अब जीवन में कोई आकर्षण नहीं रहा।)

चेटी—[सविषादमात्मगतं] हं जीविदणिरवेक्खो विअ से आलावो। [प्रकाशं] भट्टिदारिए! णं गदा एव्व तहिं मणोहरिआ, ता कदाइ भट्टिदारिओ! मित्तावसू इध एव्व आअच्छे। [[सविषादमात्मगतम्] हा धिक् जीवितनिरपेक्ष इवास्या आलापः। [प्रकाशम्] भर्तृदारिके! ननु गतैव तत्र मनोहारिका, तत् कदाचिद्भर्तृदारको मित्रावसुरिहैवागच्छेत्।]

[ततः प्रविशति मित्रावसुः।]

मित्रावसुः—आज्ञापितोऽस्मि तातेन यथा—"वत्स, मित्रावसो, कुमारजीमूतवाहनोऽस्माभिरिहासन्नाभावात् सुपरीक्षितोऽयम्। कुतोऽस्माद्योग्यो वरः। तदस्मै वत्सा मलयवती प्रतिपाद्यताम्" इति। अहं तु स्नेहपराधीनतयाऽन्यदेव किमप्यवस्थान्तरमनुभवामि। कुतः?—

यद्विद्याधरराजवंशतिलकः प्राज्ञः सतां सम्मतो
रूपेणाप्रतिमः पराक्रमधनो विद्वान् विनीतो युवा।

आज्ञा०—आस०=आसन्नस्य भावः तस्मात् (ष० त०) (समीप में होने के कारण) सुप०=सुष्ठु परीक्षितः (अच्छी प्रकार से देख-भाल लिया है) प्रति०=प्रति+√पद्+णिच्+लोट् कर्मवाच्य (दे देनी चाहिए) स्नेह०=स्नेहस्य पराधीनता तया (ष० त०) (स्नेहवश होने के कारण) अन्यदेव (और ही) अवस्था०=अन्या अवस्था इत्यवस्थान्तरम्। (दूसरी हालत अर्थात् हर्ष और विषाद दोनों ही जिसमें मिले हुए हैं)।

यद्वि०—यत् (क्योंकि) विद्या०=विद्याधराणां राजवंशः तस्य तिलकः (ष० तत्पु०) (विद्याधरों के राजवंश का अलंकार है) प्राज्ञः (बुद्धिमान्) सतां सम्मतः (सज्जन लोगों का आदर-पात्र) रूपेण अप्रतिमः=नास्ति प्रतिमा=सादृश्यं यस्य सः (ब० व्री०) (सुन्दरता में जिसकी बराबरी का कोई नहीं—अद्वितीय) परा०=पराक्रमः एव धनं यस्य सः (ब० व्री०) (वीरता ही जिसका धन है अर्थात् महान् पराक्रमी) विनीतः (विनयवान्, नम्र) सत्त्वार्थम् (प्राणियों के खातिर अर्थात् प्राणियों की रक्षा के लिए) अभ्युद्यतः (तय्यार) करुणया (दया से) अशूर आप

दयितामुखस्य सुखयति रेखाऽपि प्रथमदृष्टेयम् ॥ ८ ॥

[आलिखति।]

विदूषकः—[सकौतुकं निर्वर्ण्य] भो वअस्स अपच्चक्खवि णाम रूअं लिहीअदि, अहो अच्छरिअं! [[सकौतुकं निर्वर्ण्य] भो वयस्य, अप्रत्यक्षेऽपि एवं नाम रूपं लिख्यते, अहो आश्चर्यम्!]

नायकः—[सस्मितम्] वयस्य!—

प्रिया सन्निहितैवेयं सङ्कल्पस्थापिता पुरः।
दृष्ट्वा दृष्ट्वा लिखाम्येनां यदि तत् कोऽत्र विस्मयः?॥९॥

नायिका—[सास्रम्] चदुरिए। जाणिदं क्खु कहावसाणं, ता एहि दाव मित्तावसुं पेक्खह्म। [[सास्रम्] चतुरिके! ज्ञातं खलु कथाऽवसानं, तदेहि तावन्मित्रावसुं प्रेक्षावहे।]

इव (चन्द्रमा की सी) दयिता० = दयितायाः मुखं तस्य (ष० त०) (प्रियतमा के मुँह की) प्रथम० = प्रथमं दृष्टा (पहले-पहल देखी गई), सुखयति = सुखं करोति इति सुख० (सुख पहुँचाती है)

अप्रत्य०—अप्रत्यक्षेऽपि (जो सामने नहीं है, उसका भी) लिख्यते (चित्र खींचा जाता है)।

प्रिया०—संकल्प० = संकल्पैः स्थापिता (तृ० तत्पु०) (संकल्पों—चिन्तनों—से रखी हुई) पुरः सन्नि० (सामने समीप में ही है) यदि दृष्ट्वा दृष्ट्वा = (देख देख कर) एनां लिखामि (इस का चित्र बना रहा हूँ) तत् अत्र कः विस्मयः (तो इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है?) नायक का भाव यह है कि जिस के विषय में हम बराबर चिन्तन करते रहते हैं, वह हमेशा हमारे आँखों के सामने ही रहती है, दूर कहाँ।

चतुरिके—कथा० = कथायाः अवसानम् (ष० त०) कथा का अन्त जीवित० = नास्ति अपेक्षा यस्य सः (ब० ब्री०) जीविते निरपेक्षः (स० तत्पु०) (जीवन की अपेक्षा न रखनेवाला अर्थात् मलयवती के बोलने के ढंग से ऐसा झलकता है कि उसे अब जीवन में कोई आकर्षण नहीं रहा।)

चेटी—[सविषादमात्मगतं] हं जीविदणिरवेक्खो विअ से आलावो। [प्रकाशं] भट्टिदारिए ! णं गदा एव्व तहिं मणोहरिआ, ता कदाइ भट्टिदारिओ ! मित्तावसू इध एव्व आअच्छे। [[सविषादमात्मगतम्] हा धिक् जीवितनिरपेक्ष इवास्या आलापः। [प्रकाशम्] भर्तृदारिके ! ननु गतैव तत्र मनोहारिका, तत् कदाचिद्भर्तृदारको मित्रावसुरिहैवागच्छेत्।]

[ततः प्रविशति मित्रावसुः।]

मित्रावसुः—आज्ञापितोऽस्मि तातेन यथा—"वत्स, मित्रावसो, कुमारजीमूतवाहनोऽस्माभिरिहासन्नाभावात् सुपरीक्षितोऽयम्। कुतोऽस्माद्योग्यो वरः। तदस्मै वत्सा मलयवती प्रतिपाद्यताम्" इति। अहं तु स्नेहपराधीनतयाऽन्यदेव किमप्यवस्थान्तरमनुभवामि। कुतः ?—

> यद्विद्याधरराजवंशतिलकः प्राज्ञः सतां सम्मतो
> रूपेणाप्रतिमः पराक्रमधनो विद्वान् विनीतो युवा।

आज्ञा०—आस० = आसन्नस्य भावः तस्मात् (ष० त०) (समीप में होने के कारण) सुप० = सुष्ठु परीक्षितः (अच्छी प्रकार से देख-भाल लिया है) प्रति० = प्रति + √ पद् + णिच् + लोट् कर्मवाच्य (दे देनी चाहिए) स्नेह० = स्नेहस्य पराधीनता तया (ष० त०) (स्नेहवश होने के कारण) अन्यदेव (और ही) अवस्था० = अन्या अवस्था इत्यवस्थान्तरम्। (दूसरी हालत अर्थात् हर्ष और विषाद दोनों ही जिसमें मिले हुए हैं)।

यद्वि०—यत् (क्योंकि) विद्या० = विद्याधराणां राजवंशः तस्य तिलकः (ष० तत्पु०) (विद्याधरों के राजवंश का अलंकार हैं) प्राज्ञः (बुद्धिमान्) सतां सम्मतः (सज्जन लोगों का आदर-पात्र) रूपेण अप्रतिमः = नास्ति प्रतिमा = सादृश्यं यस्य सः (ब० ब्री०) (सुन्दरता में जिसकी बराबरी का कोई नहीं—अद्वितीय) परा० = पराक्रमः एव धनं यस्य सः (ब० ब्री०) (वीरता ही जिसका धन है अर्थात् महान् पराक्रमी) विनीतः (विनयवान्, नम्र) सत्त्वार्थम् (प्राणियों के खातिर अर्थात् प्राणियों की रक्षा के लिए) अभ्युद्यतः (तय्यार) करुणया (दया से) असून् अपि

यश्चासूनपि सन्त्यजेत् करुणया सत्त्वार्थमभ्युद्यत-
स्तेनास्मै ददतः स्वसारमतुला तुष्टिर्विषादश्च मे ॥१०॥

श्रुतश्च मया—असौ 'जीमूतवाहनोऽत्रैव गौर्य्याश्रमसम्बद्धे चन्दनलतागृहे वर्त्तते' इति । तदेतच्चन्दनलतागृहं । यावत् प्रविशामि।
[प्रविशति।]

विदूषकः—[ससम्भ्रममवलोक्य] भो वअस्स ! पच्छादेहि इमिणा कअलीवत्तेण इमं चित्तगदं कण्णअं । एसो क्खु सिद्धजुवराओ मित्तावसू इध एव आअदो । कदावि एसो पेक्खिस्सदि । [[ससम्भ्रममवलोक्य] भो वयस्य ! प्रच्छादयाऽनेन कदलीपत्रेणेमां चित्रगतां कन्यकाम् । एष खलु सिद्धयुवराजो मित्रावसुरिहागतः कदापि प्रेक्षिष्यते ।]

नायकः—[कदलीपत्रेण प्रच्छादयति ।]

मित्रावसुः—[प्रविश्य] कुमार ! मित्रावसुः प्रणमति ।

नायकः—[दृष्ट्वा] मित्रावसो ! स्वागतम् ? इतः स्थीयताम् ।

चेटी—भट्टिदारिए ! आअदो भट्टा मित्तावसू । [भर्तृदारिके ! आगतो भर्त्ता मित्रावसुः ।]

सन्त्यजेत् (प्राणों को भी दे डाले) तेन (इस कारण) अस्मै (इसे) स्वसारम् (बहिन को) ददतः मे (देते हुए मुझे) अतुला=नास्ति तुला=समता यस्याः सा (ब० ब्री०) (जिसकी बराबरी न की जाय, अपार) तुष्टिः (सन्तोष, हर्ष है) विषादः च (और दुःख भी है) तात्पर्य यह कि एक ओर हर्ष तो इस बात से हो रहा है कि वर के लिए मनोनीत जीमूतवाहन में विद्या-पराक्रमादि सभी यथेष्ट गुण हैं, किन्तु दूसरी ओर दुःख इस बात से हो रहा है कि परोपकारार्थ वह यदि कहीं प्राणों तक का बलिदान कर बैठे, तो बहिन विधवा हो जाएगी ।

श्रुतश्च—गौर्या० =गौर्याः आश्रमः तेन सम्बद्धः तत्र (गौरी आश्रम से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थात् उसके पास ही) प्रच्छादय=प्र+√ छद्+लोट् (ढक दो) चित्र० =चित्रे गता ताम् (स० तत्पु०) (चित्र में आई हुई, चित्रित) कन्यकाम्=कन्या एव कन्यका ताम् कन्या+क (स्वार्थे) स्थीयताम्=स्था+लोट् कर्मवाच्य (बैठिए)

नायिका—हञ्जे ! पिअं मे । [हञ्जे ! प्रियं मे ।]

नायकः—मित्रावसो ! अपि कुशली सिद्धराजो विश्वावसुः ?

मित्रा०—कुशली तातः । तातसन्देशेनास्मि त्वत्सकाशमागतः ।

नायकः—किमाह तत्रभवान् ?

नायिका—सुणिस्सं दाव, किं तादेण कुसलं संदिट्ठं त्ति । [श्रोष्यामि तावत्, किं तातेन कुशलं सन्दिष्टमिति ।]

मित्रा०—[सास्रम्] इदमाह—"तात ! अस्ति मे मलयवती नाम कन्या जीवितमिवास्य सर्वस्यैव सिद्धराजान्वयस्य । सा मया तुभ्यं प्रतिपाद्यते । प्रतिगृह्यताम्" इति ।

चेटी—[विहस्य] भट्टिदारिए ! किं ण कुप्पसि दाणीं ? [[विहस्य] भर्तृदारिके ! किं न कुप्यसीदानीम् ।]

नायिका—[सस्मितं सलज्जञ्च अधोमुखी स्थिता ।] हञ्जे ! मा हस, किं विसुमरिदं दे एदस्स अण्णहिअअत्तणं ? [[सस्मितं सलज्जञ्च अधोमुखी स्थिता ।] हञ्जे मा हस, किं विस्मृतं ते एतस्यान्यहृदयत्वम् ?]

नायकः—[अपवार्य] वयस्य ! सङ्कटे पतिताः स्मः ।

कुशली—कुशलम् अस्य अस्तीति कुशल+इन् (कुशलपूर्वक) त्वत्०= तव सकाशम् (ष० त०) (तुम्हारे पास) तत्रभवान्=यह प्रयोग नाटकों में 'पूज्य'-अर्थ में आया करता है । संदिष्टम्=सम्+✓ दिश्+त (सन्देश दिया है) सिद्ध०=सिद्धानां राजान्वयः राज्ञाम् अन्वयः=वंशः तस्य (सिद्धों के राजकुल की) प्रतिपा०=प्रति+✓ पद्+णिच्+लट् कर्मवाच्य (दी जाती है) प्रति०= प्रति+✓ गृह्+लोट् कर्मवाच्य (ग्रहण कीजिए) कुप्यसि (रूठती हो) अधो०= अधः=नीचैः मुखं यस्याः सा (ब० व्री०) (नीचे सिर किये हुए) ।

हञ्जे०—अन्य०=अन्यस्यां हृदयं यस्य सः (ब० व्री०) तस्य भावः (दूसरी स्त्री में मन का लगाव) वर्जयित्वा=वृज्+त्वा (छोड़कर) विसृज्यताम्=वि+✓ सृज् लोट् कर्मवाच्य (विदा किया जाय) हताशा=हता आशा यस्य सः (ब० व्री०)

विदूषकः—[अपवार्य] भो जाणासि भवदो ण तं वज्जिअ अण्णहिं चित्तं अहिरमदि त्ति । तहवि जं किञ्चि भणिअ विसज्जीअदु एसो। [[अपवार्य] भो ! जानामि भवतो न तां वर्जयित्वाऽन्यत्र चित्तमभिरमते इति। तथाऽपि यत् किञ्चिद्भणित्वा विसृज्यतामेषः ।]

नायिका—[सरोषमात्मगतं] हदास ! को वा एदं ण जाणादि? [[सरोषमात्मगतं] हताश ! को वैतन्न जानाति ?]

नायकः—क इह नेच्छेद् भवद्भिः सह श्लाघ्यमीदृशं सम्बन्धम्? किन्तु न शक्यते चित्तमन्यतः प्रवृत्तमन्यतः प्रवर्तयितुं, ततो नाहमेनां प्रतिग्रहीतुमुत्सहे ।

नायिका—[मूर्च्छां नाटयति ।]

चेटी—समस्ससदु समस्ससदु भट्टिदारिआ । [समाश्वसितु समाश्वसितु भर्तृदारिका ।]

विदूषकः—भो ! पराधीणो क्खु एसो, किं एदिणा अब्भत्थिदेण? ता गुरुअणं से गदुअ अब्भट्ठेहि । [भोः ! पराधीनः खलु एषः, किमनेनाभ्यर्थितेन ? तद् गुरुजनमस्य गत्वा अभ्यर्थय ।]

मित्रा०—[आत्मगतम्] साधूक्तम्; नायं गुरुजनमतिक्रामति । एष गुरुरप्यस्मिन्नेव गौर्य्याश्रमे प्रतिवसति । तद् यावद् गत्वा अस्य पित्रा मलयवतीं ग्राहयामि ।

(जिसकी आशायें मर चुकी हैं, अभागा, मुआ) (यह एक प्रकार से गाली का शब्द है) श्लाघ्यम्= √ श्लाघ्+यत् (विधिकृदन्त) (श्लाघा–सराहना–के योग्य) न शक्यते...प्रवर्तयितुम्=जब मन एक जगह लग जाता है तो उसे वहाँ से हटाकर दूसरी जगह लगाना बड़ा कठिन होता है । नायक का मतलब यह है कि उसका हृदय तो किसी और ही स्त्री पर आसक्त है, इसलिए वह मलयवती को किस तरह स्वीकार करे । इसी प्रकार के भाव के लिए देखिए कालिदास—"क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत्" कुमार० ।

भो—अभ्यर्थितेन=अभि+√ अर्थ (प्रार्थना करना)+क्त (प्रार्थना किये गये) अतिक्रामति=अति+√ क्रम्+लट् (उल्लंघन करता है) ग्राहयामि=√ ग्रह्

[नायिका समाश्वसिति।]

मित्रा०—[प्रकाशम्] एवं निवेदितात्मनोऽस्मान् प्रत्याचक्षाणः कुमार एव बहुतरं जानाति !

नायिका—[सरोषं] कहं पच्चाक्खाणलहुओ मित्तावसू पुणो वि मन्तेदि ? [[सरोषम्] [कथं प्रत्याख्यानलघुर्मित्रावसुः पुनरपि मन्त्रयते ?]

[मित्रावसुः निष्क्रान्तः।]

नायिका—[सास्रमात्मानं पश्यन्ती आत्मगतं] किं मम एदिणा दोब्भग्गकलङ्कमलिणेण अच्चंतदुक्खभाइणा अज्जवि सरीरेण धारिदेण। ता इह ज्जेव्व असोअपाअवे इमाए अदिमुत्तलदाए उब्बन्धिअ अत्ताणं वावादइस्सं। ता एव्वं दाव। [प्रकाशं विलक्षस्मितेन] हञ्जे, पेक्ख दाव मित्तावसू गदो ण वेत्ति; जेण अहम्पि इदो गमिस्सं। [[सास्रमात्मानं पश्यन्ती आत्मगतं] किं मम एतेन दौर्भाग्यकलङ्कमलिनेन अत्यन्तदुःखभागिना अद्यापि शरीरेण धारितेन ? तदिहैव अशोकपादपे अनया अतिमुक्तलतया उद्बध्य आत्मानं व्यापादयिष्यामि, तदिदमेवं तावत्। [प्रकाशं विलक्षस्मितेन] हञ्जे ! प्रेक्षस्व तावत् मित्रावसुर्गतो न वेति, येन अहमपि इतो गमिष्यामि।]

चेटी—[कतिचित् पदानि गत्वा अवलोक्यात्मगतम्] अण्णारिसं से

प्रत्याचक्षाणः = प्रति + आ + √ख्या + शानच् (ना करता हुआ) बहुतरम् = अतिशयेन बहु (बहु + तर) (बहुत अधिक) + णिच् + लट् (स्वीकार करवाता हूँ)। प्रत्या० = प्रत्याख्यानेन लघुः (तृ० तत्पु०) (ना करने से हल्का अर्थात् तिरस्कृत)।

किं मम—दौर्भाग्य० = दुर्भगस्य भावः दौर्भाग्यम् (दुर्भग + य) दौर्भाग्यम् एव कलंकः (कर्मधा०) तेन मलिनेन (तृ० त०) (दौर्भाग्य-रूपी कलंक से दूषित) अत्यन्त० = दुःखं भजति इति दुःखभागि अत्यन्तं दुःखभागि तेन (शरीरेण) (बड़े दुखी) उद्बध्य = उद् + √बन्ध् + य (ऊपर बाँध कर, फांसी में लटका कर) व्यापादयिष्यामि = वि + आ + पद् + णिच् + लट् (मार दूंगी); विलक्ष० = विलक्षं विस्मयान्वितम् ("विलक्षो विस्मयान्वितः" इत्यमरः) स्मितं तेन (आश्चर्य-भरी अर्थात् कृत्रिम, नकली मुस्कराहट से)।

अन्या०—अन्यत् इव दृश्यते इति अन्यादृशम् (और ही जैसा दिखाई

हिअअं पेक्खामि, ता ण गमिस्सं । इध उज्जेव्व ओवारिदा पेक्खामि किं एसा पडिवज्जदि त्ति । [अन्यादृशमस्यां हृदयं प्रेक्षे, तन्न गमिष्यामि। इहैवापवारिता प्रेक्षे, किमेषा प्रतिपद्यते इति ।]

नायिका—[दिशोऽवलोक्य पाशं गृहीत्वा सास्रम्] भअवदि गोरि! तुए इध ण किदो पसादो, ता जम्मन्तरे जधा ण ईरिसी दुक्खभाइणी होमि, तथा करेसि । [भगवति गौरि ! त्वया इह न कृतः प्रसादः, तत् जन्मान्तरे यथा न ईदृशी दुःखभागिनी भवामि, तथा करिष्यसि ।] [इत्यभिधाय कण्ठे पाशमर्पयति ।]

चेटी—[दृष्ट्वा ससम्भ्रममुपेत्य] परित्ताअदु परित्ताअदु अज्जो एसा भट्टिदारिआ उब्बंधिअ अत्ताणं वावादेदि । [परित्रायतां परित्रायताम् आर्य्यः । एषा भर्तृदारिकोद्बध्याऽऽत्मानं व्यापादयति ।]

नायकः—[ससम्भ्रममुपसृत्य] कासौ ? कासौ ?

चेटी—इअं असोअपादवे । [इयमशोकपादपे ।]

नायकः—[सहर्षं दृष्ट्वा] कथं सैवेयमस्मन्मनोरथभूमिः ? [नायिकां पाणौ गृहीत्वा लतापाशमाक्षिपन्]

> न खलु न खलु मुग्धे ! साहसं कार्यमीदृक्,
> व्यपनय करमेतं पल्लवाऽऽभं लतायाः ।

देनेवाला) अपवारिता (छिपी हुई) प्रतिपद्यते (करती है) पाशम् (बन्धन को) परित्रायताम्=परि+ √ त्रै+लोट् (बचाओ) मनो०=मनोरथानाम् भूमिः= स्थानम् (ष० त०) (जहां मेरे मनोरथ टिके हुए हैं, विश्रामस्थान)

न खलु—हे मुग्धे (भोली), ईदृक् साहसं (ऐसा साहस का काम) न खलु न खलु कार्यम् (बिलकुल नहीं करना चाहिए) दो बार कहने से निषेध पर बल डाला जाता है (देखिए कालिदास—"न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्" शकु०) लतायाः (पञ्चमी) (लतापर से) एतं पल्लव० = पल्लववत् आभा यस्य तथाभूतम् (ब० व्री०) (इस कोंपल की सी शोभावाले) करं व्यपनय=वि+

कुसुममपि विचेतुं यो न मन्ये समर्थः
कलयति स कथं ते पाशमुद्बन्धनाय ? ॥ ११ ॥

नायिका—[ससाध्वसम्] हञ्जे ! को उण एसो ? [निरूप्य सरोषं हस्त-मात्रेप्तुमिच्छति] मुञ्च मुञ्च अग्गहत्थम्, को तुमं णिवारेदुं ? मरणे वि किं तुमं ज्जेव्व अब्भट्टणीओ । [हञ्जे! कः पुनरेषः! मुञ्च मुञ्चाग्रहस्तं, कस्त्वं निवारयितुम् ? मरणेऽपि किं त्वमेवाभ्यर्थनीयः ?]

नायकः—नाहं मुञ्चामि

कण्ठे हारलतायोग्ये येन पाशस्त्वयाऽर्पितः ।
गृहीतः सापराधोऽयं, कथं ते मुच्यते करः ? ॥ १२ ॥

विदूषकः—भोदि, किं उण से इमस्स मरणव्ववसाअस्स कारणं ? [भवति, किं पुनरस्या अस्य मरणव्यवसायस्य कारणम् ?]

चेटी—[साकूतं] णं एसो एव्व दे पिअवअस्सो । [नन्वेष एव ते प्रियवयस्यः ।]

नायकः—कथमहमेवाऽस्या मरणकारणं ? । न खल्ववगच्छामि ।

विदूषकः—भोदि ! कहं विअ ? । [भवति ! कथमिव ? ।]

अप + ✓ नी + लोट् (हाथ को हटा लो) यः कुसुमम् अपि विचेतुम् = वि + ✓ चि + तुम् (जो फूल को भी तोड़ने को) न समर्थः मन्ये (समर्थ नहीं है, मैं समझता हूँ) स ते उद्बन्धनाय (वह तुम्हें ऊपर लटकाने के लिए) कथम् पाशम् (बन्धन को) कलयति (किस तरह पकड़ रहा है) ।

हञ्जे—वारयितुम् (रोकने को) अभ्यर्थनीयः (प्रार्थना किये जाने योग्य) ।

कण्ठे—त्वया येन (करेण) (तुमने जिस (हाथ) से) हार० = हारः लता इव हारलता (उपमितसमास) तस्याः योग्यः तस्मिन् (जिसमें लता-सी मोतियों की माला पहनानी चाहिए) कण्ठे पाशः (बन्धन, फाँस) अर्पितः (डाला है) सापराधः अपराधेन सह वर्तमानः (ब० व्री०) (अपराध-सहित, अपराध करते) ते करः गृहीतः (redhanded) (पकड़ा गया) कथं (सः) मुच्यते (किस तरह (वह) छोड़ा जा सकता है ?)

१ पाशस्तवा० ।

चेटी—[साकूतं] जा सा पिअवअस्सेण दे कावि हिअअवल्लहा सिलाअले आलिहिदा । ताए पक्खवादिणा एदेण पडिवादअन्तस्सवि मित्तावसुणो णाहं पडिच्छिदे त्ति जादणिव्वेदाए इमाए एव्वं व्ववसिदं । [या सा प्रियवयस्येन ते काऽपि हृदयवल्लभा शिलातले आलिखिता, तस्याः पक्षपातिना एतेन प्रतिपादयतोऽपि मित्रावसोर्नाहं प्रतीष्टेति जातनिर्वेदया अनया एवं व्यवसितम् ।]

नायकः—[सहर्षमात्मगतम्] कथमियमेवासौ विश्वावसोर्दुहिता मलयवती! अथवा रत्नाकराद् ऋते कुतश्चन्द्रलेखायाः प्रसूतिः ? हा! कथं वञ्चितोऽस्मि!

विदूषकः—भोदि ! एव्वं, ता अणवरद्धो दाणीं पि अवअस्सो। अहवा जइ मम ण पत्तिआअदि, तदा सअं ज्जेव्व सिलाअलं गदुअ

या सा—पक्ष० =पक्षे पतति इति पक्षपाती तेन (उपपदतत्पु०) (झुकाव रखने वाला अर्थात् उस पर आसक्त) प्रतिपादयतः = प्रति + पद् + णिच् + शतृ (षष्ठी एकव०) (देते-देते, देने पर भी) (Gen. Absolute phrase) प्रतीष्टा = प्रति + √ इष् + त + आ (चाही, अंगीकार किया) जात० = जातः निर्वेदः = ग्लानिः यस्याः सा तया (ब० ब्री०) (जिसे ग्लानि हो गई, ग्लानि को प्राप्त, विरक्त) व्यवसितम् (प्रयत्न किया) ।

कथमि०—रत्नाकराद्...प्रसूतिः = रत्नानाम् आकरः तस्मात् (ष० तत्पु०) (रत्नों की खान अर्थात् समुद्र, क्योंकि रत्न समुद्र में रहते हैं) ऋते (विना) (ऋते के योग में पञ्चमी होती है) चन्द्र० = चन्द्रस्य लेखा तस्याः (चन्द्रमा की कला की) प्रसूतिः = प्र + √ सू + तिः (उत्पत्ति, जन्म) अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा रत्नाकर = समुद्र से पैदा हुआ है, उसी प्रकार मलयवती जैसी सुन्दरी भी उच्च राजवंश को छोड़कर अन्यत्र उत्पन्न हो ही नहीं सकती । यहाँ नाटककार ने देवासुरोंद्वारा समुद्र-मन्थन तथा समुद्र से उत्पन्न चौदह रत्नों—जिन में एक चन्द्रमा भी है—की उत्पत्ति से सम्बन्धित पौराणिक कथा की ओर संकेत किया है। वञ्चितोऽस्मि (धोका खा गया हूँ) ।

भवति—अनपराद्धः = न अपराद्धः (नञ् तत्पु०) अप + √ राध् + तः

पेक्खदु भोदी। [भवति! यद्येवं, तदनपराद्ध इदानीं प्रियवयस्यः। अथवा यदि मम न प्रत्येति, तदा स्वयमेव शिलातलं गत्वा प्रेक्षतां भवती।]

नायिका—[सहर्षं सलज्जञ्च नायकं पश्यन्ती हस्तमाकर्षति।]

नायकः—[सस्मितम्] न तावन्मुञ्चामि यावन्मम हृदयवल्लभां शिलायामालेख्यगतां न पश्यसि। [सर्वे परिक्रामन्ति।]

विदूषकः—[कदलीपत्रमपनीय] भोदि! पेक्ख एदं से हिअअवल्लहं जणं। [भवति! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व एतमस्य हृदयवल्लभं जनम्।]

नायिका—[निरूप्यापवार्य सस्मितम्] चदुरिए! अहं विअ आलिहिदा। [चतुरिके! अहमिवालिखिता।]

चेटी—[चित्राकृतिं नायिकाञ्च निर्वर्ण्य] भट्टिदारिए! किं भणसि? अहं विअ आलिहिदेत्ति? ईरिसं सोसारिच्छं, जेण ण जाणीअदि, किं दाव इध ज्जेव्व सिलाअले भट्टिदारिआए पडिबिम्बं सङ्कंतं, उद तुमं आलिहिदे त्ति। [भर्तृदारिके! किं भणसि? अहमिवालिखितेति। ईदृशं सौसादृश्यं, येन न ज्ञायते किं तावदिह मणिशिलातले भर्तृदारिकायाः प्रतिबिम्बं सङ्क्रान्तम्, उत त्वमालिखितेति!]

नायिका—[विहस्य] हञ्जे! दुज्जणीकिदम्हि इमिणा मं चित्तगदं दंसअंतेण। [हञ्जे! दुर्जनीकृताऽस्मि अनेन मां चित्रगतां दर्शयता।]

(जिसने अपराध नहीं किया है, अपराध-रहित) आलेख्य० = आलेख्ये गता ताम् (स० तत्पु०) (चित्र में आई हुई, चित्रित)।

भर्तृदारिके—सौसादृश्यम् = सुष्ठु सदृशः सुसदृशः सुसदृशस्य भावः सौसा० (सुसदृश + य) (अच्छी समानता) प्रतिबिम्बम् (परिछाई) सङ्क्रान्तम् (पड़ी हुई है)

हञ्जे—दुर्जनी० = अदुर्जनः दुर्जनः सम्पद्यमानः कृतः इति दुर्जनी० = दुर्जन + च्वि + कृ + त (बुरी बनाई गई हूँ) नायिका का भाव यह है कि चित्र से स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि वह मेरा ही चित्र है, इसलिए गलती मेरी ही है जो बिना पता लगाए मैं क्या करने जा रही थी।

विदूषकः—[आकर्ण्य] भो वअस्स ! दिट्ठिआ आगदं ण्हवणअं। भो वयस्य! दिष्ट्या आगतं स्नपनकम्।]

नायकः—[सहर्षं] सखे! यद्येवं किमिदानीमिह स्थितेन?। तदागच्छ। तातं नमस्कृत्य स्नानभूमिमेव गच्छावः।

अन्योन्यदर्शनकृतः समानरूपानुरागकुलवयसाम् ।
केषाञ्चिदेव मन्ये समागमो भवति पुण्यवताम् ॥१४॥

[इति निष्क्रान्ताः।]

इति द्वितीयोऽङ्कः।

दिष्ट्या—दिष्ट्या (अव्यय) (सौभाग्य की बात है कि, बधाई हो) स्नान०= स्नानस्य भूमिः=ताम् (ष० त०) (स्नान-स्थान)।

अन्योन्य०—अन्योन्यं दर्शनं तेन कृतः (एक दूसरे को देखने से पैदा हुआ) समागमः (मेल, विवाह) समान०=रूपं च अनुरागश्च कुलं च वयश्च इति रूप... वयांसि (द्वन्द्व) समानानि रूप...वयांसि येषां तथाभूतानाम् (ब० व्री०) (रूप, अनुराग, कुल तथा उम्र जिनकी बराबर हैं—ऐसे) केषाञ्चित् एव पुण्यवताम् भवति (किन्हीं भाग्यशालियों का होता है) मन्ये (ऐसा मेरा विचार है)। (१४)

नाटककार नायक के मुंह से कहलवाकर परस्पर समान प्रेम, रूप, उम्र तथा कुल में होने वाले विचार को ही महत्त्व देना चाहता है, किन्तु साथ ही वह यह भी स्वीकार करता है कि ऐसा विवाह किसी भाग्यवान का ही होता है, सब का नहीं। अधिकतर विवाह बेमेल विवाह हुआ करते हैं, किन्तु कामशास्त्र की दृष्टि से उनका मूल्य शून्य है। प्रसिद्ध नाटककार भवभूति भी 'मालतीमाधव' नाटक में "इतरेतरानुरागो हि विवाहकर्मणि परार्ध्यं मङ्गलम्" कह कर विवाह के लिए वर-वधू के परस्पर प्रेम को ही जीवन का परार्ध्य मंगल—सबसे बड़ा कल्याण—मानता है। नाट्य-सम्राट् कालिदास ने भी अपने 'मालविकाग्निमित्र' में "अनातुरोत्कण्ठितयोः प्रसिद्धता समागमेनापि रतिर्न मां प्रति। परस्परप्राप्तिनिराशयोर्वरं शरीरनाशोऽपि समानुरागयोः॥" कहकर बिना प्रेम के विवाह के प्रति अवज्ञा तथा परस्पर प्रेम होने की अवस्था में जीवन तक के बलिदान की भावना के प्रति अपनी आस्था दिखाई है।

दूसरा अंक समाप्त

अथ तृतीयोऽङ्कः ।

[ततः प्रविशति मत्तो विचित्रविह्वलवेशश्चषकहस्तो विटः स्कन्धारोपितसुराभाण्डश्चेटश्च।]

विटः—णिच्चं जो पिवइ सुरं जणस्स पिअसंगमञ्च जो कुणइ।
मह दे दो अवि देवा बलदेओ कामदेओ अ ॥१॥

द्वितीय अंक में 'वियोग' को आत्मघात-प्रयत्न की चरम सीमा तक पहुँचा कर नाट्यकार तृतीय अंक में 'संयोग' को उपस्थित करता है। कारण यह है कि 'विप्रलम्भ' के अनन्तर ही प्रणयी-प्रणयिनी का 'संभोग' बताना अधिक आस्वाद-योग्य तथा औचित्य-पूर्ण समझा जाता है। वास्तव में देखा जाय, तो 'संभोग। की परिपुष्टि 'विप्रलम्भ 'से ही हुआ करती है और यही साहित्यिक मर्यादा भी है'

ततः—मत्तः (मदिरा के नशे में मस्त) विचित्र० = विचित्रः विह्वलश्च वेशो यस्य सः (ब० व्री०) (अनोखे और अस्त-व्यस्त हुए वेश—कपड़ों—वाला) चषक० = चषकः हस्ते यस्य सः (ब० व्री०) (हाथ में प्याला रखे हुए) विटः=नाटकों में 'विट' नामक नायक का सहायक एक पात्र-विशेष हुआ करता है जो स्वभावतः धूर्त होते हुए भी वेश-भूषा सेवा-शुश्रूषा एवं संगीत अथवा नृत्य-आदि किसी एक कला में निपुण रहता है और नायक को उसके प्रेम-व्यापारों में बड़ा सहयोग देता है। प्रस्तुत नाटक में 'विट' एक मद्य-सेवी कामुक के रूप में ही दिखाया गया है। स्कन्ध० =स्कन्धे आरोपितः सुरायाः भाण्डो येन सः (ब० व्री०) (कन्धेपर मदिरा के पात्र को रखे हुए) चेटः (नौकर) चेट और चेटी नायक और नायिका के प्रेमसम्बन्धी मामलों में नौकर-नौकरानी का काम देते हैं।

नित्यम्—यः नित्यं सुरां पिबति (जो नित्य मदिरा पीते रहते हैं—ऐसे) बलदेवः=(श्रीकृष्ण के बड़े भाई का नाम; उन्हें मदिरा पीने का व्यसन था) जनस्य प्रिय० = प्रियश्च प्रिया च प्रियौ (एकशेषद्वन्द्व) तयोः सङ्गः तम् (लोगों को प्रियतम या प्रियतमा का समागम करा देनेवाला) कामदेवः (प्रेम का देवता) तौ द्वौ एव मम देवौ (वे दोनों ही मेरे उपास्य देव हैं) शराबी और कामुक क्रमशः इन दोनों देवों की ही भक्ति किया करते हैं। घूर्णन् (झूमता हुआ) शेखरकस्य (यह विट का नाम है)।

[घूर्णन्] सफलं क्खु मे सेहरअस्स जीविदं ।—

वच्छत्थलम्हि दइआ [1]दिण्णुप्पलवासिआ मुहे मइरा ।
सोसम्मि अ सेहरओ णिच्चं विअ संठिआ जस्स ॥२॥

[प्रस्खलन्] अरे! को मं चालेदि? [सहर्षम्] अवस्सं णोमालिआ मं परिहसदि ।

[नित्यं यः पिवति सुरां जनस्य प्रियसङ्गमञ्च यः करोति ।
मम तौ द्वावपि देवौ बलदेवः कामदेवश्च ॥ १ ॥

[घूर्णन्] सफलं खलु मे शेखरकस्य जीवितम् ।
वक्षःस्थले दयिता दत्तोत्पलवासिता मुखे मदिरा ।
शीर्षे च मे शेखरको नित्यमेव संस्थितानि यस्य ॥ २ ॥

[प्रस्खलन्] अरे को मां चालयति? [सहर्षम्] अवश्यं नवमालिका मां परिहसति।]

चेटः—भट्टक! ण अ दाव सा अज्जवि इहागच्छदि । [भर्त्तः! न च तावत्साऽद्यापीहाऽऽगच्छति ।]

विटः—[सरोषम्] पढमपहरे ज्जेव्व मलअवदीए विआहमंगलं णिव्वुत्तं । ता कीस सा दाणीं पभादे वि ण आअच्छदि? । [विचिन्त्य सहर्षम्] अहवा विआहमहोस्सवे सव्वो ज्जेव्व णिअपणइणीजणसणाहो सिद्धविज्जाहरलोओ कुसुमाअरुज्जाणे आवाणअसोक्खमणुभविस्सदि त्ति तक्केमि । तहिं ज्जेव्व णोमालिआ मं अवेक्खमाणा चिट्ठदि । ता तहिं ज्जेव्व गमिस्सं । कीरिसो णोमालिआए विणा सेहरओ? । [प्रथमप्रहरे एव मलयवत्या विवाहमङ्गलं निर्वृत्तम् । तत्कथं सा इदानीं

वक्षः०—वक्षःस्थले (छातीपर) दयिता (प्रिया) मुखे च दत्तो० दत्तानि यानि उत्पलानि तैः वासिता ((ऊपर) दिये—डाले—हुए कमलों से सुगन्धित) मदिरा (शराब) शीर्षे सिरपर शेखरकः शेखरः एव शेखरकः स्वार्थे कः (सिरपर फूलों का हार, ताज) क्योंकि विट नायक का एक कारिन्दा है, इसलिए उसके सिरपर अधिकार-द्योतक पुष्प-हार या भूषण रहता है। चालयति = चल् + णिच् + लट् (हिलाता है) परिहसति (परिहास कर रही है)।

प्रथम०—विवाह० = विवाहस्य मङ्गलम् (मांगलिक विवाह-कृत्य) निर्वृत्तम्=

[1] णीलुप्पल० (नीलोत्पल०)

प्रभातेऽपि नागच्छति ? [विचिन्त्य सहर्षम्] अथवा विवाहमहोत्सवे सर्व एव निजप्रणयिजनसहायः सिद्धविद्याधरलोकः कुसुमाकरोद्याने आपानकसौख्यमनुभविष्यतीति तर्कयामि । तत्रैव नवमालिका मामवेक्षमाणा तिष्ठति । तदहमपि तत्रैव गमिष्यामि । कीदृशो नवमालिकया विना शेखरकः ? [प्रस्खलन् परिक्रामति ।]

चेटी—एदु एदु भट्टके । एदं कुसुमाअरुज्जाणं । विसदु भट्टके । [एतु एतु भर्ता । एतत् कुसुमाकरोद्यानम् । तत् प्रविशतु भर्ता ।] [उभौ प्रवेशं नाटयतः ।]

[ततः प्रविशति स्कन्धन्यस्तवस्त्रयुगलो विदूषकः ।]

विदूषकः—संपुण्णा मणोरहा पिअवअस्सस्स । सुदं क्खु मए वि पिअवअस्सो कुसुमाअरुज्जाणं गमिस्सदि त्ति । ता जाव तहिं ज्जेव्व गमिस्सं । [परिक्रम्य विलोक्य च] इदं कुसुमाअरुज्जाणं, जाव पविशामि इदं । [प्रविश्य भ्रमरबाधां नाटयन्] अरे ! कीस उण दुट्ठमहुअरामं ज्जेव्व अभिभवंति ! [आत्मानमाघ्राय] भोदु जाणिदं, जं तं मलअवदीबंधुजणेण जामातुअस्स पिअवअस्सो त्ति कदुअ सबहुमाणं वण्णकेहिं विलत्तीम्हि । सन्ताणकुसुमसेहरअं च मम सीसे पिणद्धं । सो क्खु एसो अच्चाअरो अणत्थीभूदो । किं दाणिं एत्थ करिस्सं ? अहवा एदेण

(हो गया है) निज० = निजः यः प्रणयिनीजनः तेन सनाथः (अपनी प्रियतमाओं सहित) सिद्ध० = सिद्धाश्च विद्याधराश्च तेषां लोकः (सिद्ध और विद्याधरों का समूह) आपान० = आ = समन्तात् पिबन्ति जनाः यत्रेति आपानम् = पानगोष्ठी (आ + √ पा + ल्युट् सप्तम्यर्थे) अपेक्षमाणा = अप + √ ईक्ष् + शानच् (अपेक्षा–आवश्यकता–रखती हुई)। प्रस्खलन् = प्र + √ स्खल् + शतृ (लड़खड़ाता, गिरता–गिराता हुआ)।

ततः—स्कन्ध० = स्कन्धे न्यस्तं वस्त्रयोः युगलं येन सः (ब० व्री०) (कन्धे पर दो वस्त्रों को रखे हुए) भ्रमर० = भ्रमरकृता बाधा ताम् (मध्यमपदलोपी समास) (भ्रमरोंद्वारा तंग किये जाने का अभिनय करता हुआ) अभिभवन्ति (आक्रमण कर रहे हैं) सबहु० = बहुश्चासौ मानः तेन सहितं यथा स्यात् तथा (क्रियाविशे०) (बड़े आदर के साथ) वर्णकैः = वर्णाः एव वर्णकाः स्वार्थे कः तैः (रंगों से)

ज्जेव्व मलअवदीसआसादो लद्धेण रत्तंसुअजुअलेण इत्थिआवेसं विहि अ उत्तरीअकिदावगुण्ठणो गमिस्सं । पेक्खामि दाव किं दासीए पुत्ता महुअरा करिस्संति । [सम्पूर्णा मनोरथाः प्रियवयस्यस्य । श्रुतं खलु मयाऽपि प्रियवयस्यः कुसुमाकरोद्यानं गमिष्यतीति । तद् यावत् तत्रैव गमिष्यामि। [परिक्रम्यावलोक्य च] इदं कुसुमाकरोद्यानं, यावत् प्रविशामीदम् । [प्रविश्य भ्रमरबाधां नाटयन्] अरे! कथं पुनर्दुष्टमधुकरा मामेव अभिभवन्ति ! [आत्मानमाघ्राय] भवतु ज्ञातं, यत् तन्मलयवतीबन्धुजनेन जामातुः प्रियवयस्य इति कृत्वा सबहुमानं वर्णकैर्विलिप्तोऽस्मि । सन्तानकुसुमशेखरकश्च मम शीर्षे पिनद्धः । सु खलु एषोऽत्यादरो मेऽनर्थीभूतः । किमिदानीमत्र करिष्यामि ? । अथवा एतेनैव मलयवतीसकाशाल्लब्धेन रक्तांशुकयुगलेन स्त्रीवेशं विधाय उत्तरीयकृतावगुण्ठनो गमिष्यामि । पश्यामि तावत् दास्याः पुत्रा दुष्टमधुकराः किं करिष्यन्तीति।] [तथा करोति ।]

विटः—[निरूप्य सहर्षम्] अरे चेडा! [अङ्गुल्या निर्दिश्य सहासम्] एसा क्खु णोमालिआ आअदा मं पेक्खिअ 'अहं चिरस्स आअदो' त्ति कुविदा अवगुण्ठणं कदुअ अण्णदो गच्छदि । ता कण्ठे गेण्हिअ पसादेमि णं । [अरे चेट! [अंगुल्या निर्दिश्य सहासम्] एषा खलु नवमालिका आगता मां प्रेक्ष्य 'अहं चिरस्याऽऽगत' इति कुपिताऽवगुण्ठनं कृत्वाऽन्यतो गच्छति । तत्कण्ठे गृहीत्वा प्रसादयाम्येनाम् ।]

विलिप्तः विविधं लिप्तः (नाना प्रकार से पोत दिया—रँग दिया—है) सन्तान० = सन्तानस्य = कल्पवृक्षस्य कुसुमानां शेखरः (ष० त०) (कल्पवृक्ष के फूलों का शिरोभूषण) पिनद्धः (बाँधा, पहनाया) अत्यादरः (बहुत अधिक आदर) अनर्थी० = अननर्थः अनर्थः सम्पद्यमानः भूतः इति अनर्थीभूतः (अनर्थ—मुसीबत—बन गया) रक्तांशु० = रक्ते अंशुके तयोः युगलेन (लाल वस्त्रों के जोड़े से) उत्तरीय० = उत्तरीयेण कृतम् अवगुण्ठनं येन तथाभूतः (ब० व्री०) (चादर से घूँघट काढ़े हुए)।

अरे०—चिरस्य (अव्यय) (देर से) प्रसादयामि (मनाता हूँ) ताम्बूलम् (पान के पत्ते को) मद्य० = मद्यस्य गन्धः तम् (मदिरा की दुर्गन्धि को) सूचयन् (सूचना करता—जताता—हुआ) पराङ्० = पराक् मुखं यस्य सः (मुँह फेरे हुए) मधुकरा-

[सहसोपसृत्य कण्ठे गृहीत्वा मुखेन ताम्बूलं दातुमिच्छति ।]

विदूषकः—[मद्यगन्धं सूचयन्नासिकां गृहीत्वा पराङ्मुखः स्थित्वा] अहं एक्काणं महुअराणं ससाआदो कहं वि परिब्भट्टो दाणिं अण्णस्स दुट्टमहुअरस्स मुहे पडिदोम्हि। [अहमेकेषां मधुकराणां मुखात्कथमपि परिभ्रष्ट इदानीमन्यस्य दुष्टमधुकरस्य मुखे पतितोऽस्मि।]

विटः—कहं कोवेण परम्मुही भूदा? भोदु, पाएसु पडिअ पसादेह्मि। [कथं कोपेन पराङ्मुखीभूता। भवतु पादयोः पतित्वा प्रसादयामि।] [प्रणामं कुर्वन् विदूषकस्य चरणमात्मनः शिरसि कृत्वा] पसीद णोमालिए पसीद। [प्रसीद नवमालिके, प्रसीद।]

[ततः प्रविशति चेटी]

चेटी—आणत्तम्हि भट्टिदारिआए,—"हञ्जे णोमालिए! कुसुमाअरुज्जाणं गदुअ उज्जाणपालिअं पल्लविअं भणाहि। अज्ज सविसेसं तमालवीहिअं सज्जीकरेहि। मलअवदीसहिदेण जामाउकेण तत्थ गन्तव्वं" त्ति। आणत्ता मए पल्लविआ। ता जाव रअणीविरहवड्ढितोत्कण्ठं पिअवअस्सअं सेहरअं अण्णेसामि। [दृष्ट्वा] एसो सेहरओ। [सरोषम्] कहं अण्णं कम्पि इत्थिअं पसादेदि! ता इह ट्ठिदा ज्जेव्व जाणामि का एसेत्ति। [आज्ञप्ताऽस्मि भर्तृदारिकया—"हञ्जे नवमालिके! कुसुमाकरोद्यानं गत्वा उद्यानपालिकां पल्लविकां भण। अद्य सविशेषं तमालवीथिकां सज्जीकुरु। मलयवतीसहितेन जामात्रा तत्र गन्तव्यम्" इति। आज्ञप्ता मया पल्लविका।

णाम्, मधुकरस्य=पहिले मधुकर का अर्थ भ्रमर है, क्यों कि 'मधु करोति' इति =फूलों में रस बनाता है; दूसरे मधुकर का अर्थ शराबी है, क्योंकि 'मधु करे यस्य सः'=उस के हाथ में शराब रहती है। बेचारे विदूषक ने एक प्रकार के (भ्रमरों) से पिण्ड छुटाया तो दूसरे प्रकार के मधुकर (शराबी, विट) के पल्ले पड़ गया।

आज्ञप्ता०—उद्यान०=उद्यानस्य पालिका ताम् (उद्यान की रक्षिका—मालिन —को) सविशेषम् विशेषेण सहितम् (क्रि० विशे०) (खूब, अच्छी तरह से) तमाल०=तमालानां वीथिका ताम् (प० त०) (तमालवृक्षों वाले मार्ग को)

तद् यावत् रजनीविरहवर्द्धितोत्कण्ठं प्रियवयस्यं शेखरकमन्विष्यामि। [दृष्ट्वा] एष शेखरकः। [सरोषम्] कथमन्यां कामपि स्त्रियं प्रसादयति! तदिह स्थितैव जानामि कैषेति।]

विटः—[सहर्षम्]

हरिहरपिदामहाणं पि गव्विदो जो ण जाणइ णमिदुं।
सो सेहरओ चलणेसु तुज्झ णोमालिए? पडइ॥ ३॥

[हरिहरपितामहानामपि गर्वितो यो न जानाति नन्तुम्।
स शेखरकश्चरणयोस्तव नवमालिके! पतति॥ ३॥]

विदूषकः—दासीए पुत्ता मत्तपालआ कुदो एत्थ णोमालिआ। [दास्याः पुत्र! मत्तपालक! कुतोऽत्र नवमालिका?]

चेटी—[निरूप्य सस्मितम्] कधं मं त्ति करिअ मदपरवसेण सेहरएण अज्ज अत्तेओ पसादिअदि? ता जाव अलीअं कोवं करिअ दुवेवि एदे परिहसिस्सं। [कथं मामिति कृत्वा मदपरवशेन शेखरकेण आर्य्यात्रेयः प्रसाद्यते? तद् यावत् अलीकं कोपं कृत्वा द्वावप्येतौ परिहसिष्यामि।]

सज्जीकुरु (सजाओ) रजनी०=रजन्यां यः विरहः तेन वर्धिता उत्कण्ठा यस्य तथाभूतम् (ब्र० ब्री०) (रात के वियोग ने जिसकी उत्कण्ठा—मुझे मिलने की अभिलाषा—बढ़ा दी है—ऐसे)।

हरिहर०—यः गर्वितः हरि०=हरिश्च हरश्च पितामहश्च तेषाम् (द्व०) व्याकरण के अनुसार द्वितीया होनी चाहिए थी (जो अभिमान में विष्णु, महादेव तथा ब्रह्मा को भी) नन्तुं न जा० (प्रणाम करना नहीं जानता है) पितामह से 'दादा' अर्थ भी लिया जा सकता है अर्थात् हरि-हर के दादों को भी।

दास्याः—दास्याः पुत्र। (हरामी, रँड का छोकरा, बदमाश) मत्त०=मत्तानां पालकः (शराबियों का राजा—गुरुघंटाल—) मामिति कृत्वा ('यह मैं हूँ'—इस भ्रम से) मद०=मदस्य परवशः तेन (मदिरा के अधीन, नशे में चूर) अलीकम् (कृत्रिम, नकली)

चेटः—[चेटीं दृष्ट्वा शेखरकं हस्तेन चालयन्] भट्टका ! सुदं एदं । ण भोदि एसा णोमालिआ । एसा उण रोसारत्तेहिं लोअणेहिं पेक्खंतो आअदा । [भर्त्तः ! मुञ्चैतम् । न भवत्येषा नवमालिका । एषा पुना रोषा-रक्ताभ्यां लोचनाभ्यां प्रेक्षमाणा आगता ।]

चेटी—[उपसृत्य] सेहरअ ! का उण एसा पसादिअदि ? [शेखरक ! का पुनरेषा प्रसाद्यते ?]

विदूषकः—[अवगुण्ठनमवतार्य] भोदि ! कोवि बम्हणो अहं मन्द-भाअधेअपउत्तो । [भवति ! कोऽपि ब्राह्मणोऽहं मन्दभागधेयप्रयुक्तः ।]

विटः—[विदूषकं निरूप्य] अरे कविलमक्कडा ! तुमंपि सेहरअं पदारेसि ! अरे चेड़ा, गण्ह एदं, जाव णोमालिअं पसादेमि । [अरे कपिलमर्कट ! त्वमपि शेखरकं प्रतारयसि ? अरे चेट, गृहाणैनं यावन्नवमालिकां प्रसादयामि ।]

चेटः—जं भट्टको आणवेदि । [यद्भर्ता आज्ञापयति ।]

विटः—[विदूषकं मुक्त्वा चेट्याः पादयोः पतति ।] पसीद णोमालिए ! पसीद । [प्रसीद नवमालिके ! प्रसीद ।]

विदूषकः—[आत्मगतम्] एसो मे अवक्कमिदुं अवसरो । [एष मेऽपक्रमितुमवसरः ।]

[पलायितुमीहते ।]

चेटः—[विदूषकं यज्ञोपवीते गृह्णाति । यज्ञोपवीतं त्रुट्यति ।] कहिं कहिं किलवमंकडा ! पलाअसि ? । [कुत्र कुत्र कपिलमर्कट ! पलायसे ? ।]

[तदुत्तरीयेण गले बद्ध्वाऽऽकर्षति ।]

भर्त्तः—रोषा० = रोषेण आ = समन्तात् रक्ते ताभ्याम् (क्रोध से लाल-लाल) प्रेक्षमाणा (देखती हुई) मन्द० = मन्दं यत् भागधेयं तेन प्रयुक्तः (मन्द भाग्य से प्रेरित—अभागा) कपिल० = कपिलश्चासौ मर्कटः तसम्बोधने (कर्मधा०) (पीले बन्दर !) प्रतारयसि (धोका देते हो, बेवकूफ बनाते हो ?) अपक्रमितुम् अवसरः खिसकने का मौक़ा) शीर्षे निवेश्य (शिर टेककर) राजमित्रम् = राज्ञः मित्रम् (राजा (जीमूतवाहन) का मित्र)

विदूषकः—भोदि णोमालिए ! पसीद । मोश्रावेहि मं । [भवति नवमालिके ! प्रसीद ! मोचय माम् ।]

चेटी—[विहस्य] जइ भूमीए सीसं णिवेसिश्र पादेसु मे पडसि । [यदि भूमौ शीर्षं निवेश्य पादयोर्मे पतसि ।]

विदूषकः—[सरोषं सप्रकम्पञ्च] भो ! राश्रमित्तो वम्हणो भविश्र दासीए धीश्राए पादेसु पडइस्सं ? [भोः ! राजमित्रं ब्राह्मणो भूत्वा दास्याः पुत्र्याः पादयोः पतिष्यामि ?]

चेटी—[अङ्गुल्या तर्जयन्ती सस्मितम्] दाणिं पाडइस्सं । सेहरश्र ! उट्ठेहि, पसण्णा दे अहं । [कण्ठे गृह्णाति ।] एसो उण जामाउकस्स पिश्रवश्रस्सो तुए खलीकिदो । एव्वञ्च सुणिश्र कदावि भट्टा मित्तावसू तव कुप्पइ । ता आदरेण सम्माणेहि णं । [[अङ्गुल्या तर्जयन्ती सस्मितम्] इदानीं पातयिष्यामि । शेखरक ! उत्तिष्ठ । प्रसन्ना तेऽहम् । [कण्ठे गृह्णाति ।] एष पुनर्जामातुः प्रियवयस्यस्त्वया खलीकृतः । एवञ्च श्रुत्वा कदाऽपि भर्ता मित्रावसुस्तुभ्यं कुप्यति । तदादरेण सम्मानयैनम् ।]

विटः—जं णोमालिश्रा आणवेदि । [विदूषकं कण्ठे गृहीत्वा] अज्ज ! तुमं मए सम्बन्धिश्रो त्ति करिश्र परिहसिदो । [घूर्णन्] किं सच्चं ज्जेव्व सेहरश्रो मत्तो ? किदो परिहासो । [उत्तरीयं वर्त्तुलीकृत्य आसनं ददाति ।] इह उपविसदु संबन्धिश्रो । [यन्नवमालिका आज्ञापयति । [विदूषकं कण्ठे गृहीत्वा] आर्य्य ! त्वं मया 'प्रियसम्बन्धिक' इति कृत्वा परिहसितः । [घूर्णन्] किं सत्यमेव शेखरको मत्तः ? कृतः परिहासः । [उत्तरीयं वर्त्तुलीकृत्य आसनं ददाति ।] इह उपविशतु सम्बन्धी ।]

इदानीम्—पातयिष्यामि = √पत् + णिच् + लट् (गिराऊंगी) खलीकृतः = अखलः खलः सम्पद्यमानः कृतः इति खलीकृतः (खल + च्वि + कृ + त) (बुरी गत की, क्लेश पहुंचाया, अपमानित किया) सम्मानय (आदर-सत्कार करो) ।

यन्नव०—सम्बन्धी (रिश्तेदार, दामाद की तरफ का आदमी) । वर्त्तुलीकृत्य = अवर्तुलं वर्तुलं सम्पद्यमानं कृत्वा (अभूततद्भाव में च्वि) (गोल करके) ।

विदूषकः—[स्वगतं] दिट्ठिआ अवगदो विअ से मदावेगो। [दिष्ट्याऽपगत इवाऽस्य मदाऽऽवेगः।] [उपविशति।]

विटः—णोमालिए! उवविस तुमं पि एदस्स पासे, जेण दुवेवि तुम्हे समं ज्जेव्व सम्माणइस्सं। [नवमालिके! उपविश त्वमप्येतस्य पार्श्वे, येन द्वावपि युवां सममेव संमानयिष्यामि।]

चेटी—[विहस्योपविशति।]

विटः—[चषकमादाय] अरे चेडअ, सुभरिदं क्खु एदं चसअं करेहि अच्छसुराए। [अरे चेटक! सुभृतं खल्वेतच्चषकं कुरु अच्छसुरया।]

चेटः—[नाट्येन चषकभरणं करोति।]

विटः—[स्वशिरःशेखरात् पुष्पाणि गृहीत्वा चषके विन्यस्य जानुभ्यां स्थित्वा नवमालिकाया उपनयति।] णोमालिए! चक्खिअ देहि एदं एदस्स। [नवमालिके! आस्वाद्य देह्येतमेतस्मै।]

चेटी—[सस्मितम्] जं सेहरओ भणादि। [यत् शेखरको भणति।] [तथा कृत्वा विटस्यार्पयति।]

विटः—[विदूषकस्य चषकमर्पयति।] एदं णोमालिआमुहसंसग्गसविसेसवासिअरसं सेहरआअण्णेण केणवि अणासादिदपुरुव्वं, ता पिबेहि एद। किं दे अवरं सम्माणं करिस्सं? [एतत् नवमालिकामुखसंसर्गसविशेषवासितरसं शेखरकादन्येन केनाप्यन्येनानास्वादितपूर्वं, तत् पिबैतत्। किं ते अतोऽप्यपरं सम्मानं करिष्यामि?]

दिष्ट्या—दिष्ट्या (सौभाग्य से) अपगत इव (दूर हुआ-सा) मदावेगः मदस्य आवेगः (नशे का वेग)।

अरे चेट—सुभृतम् (अच्छी तरह–छलाछल–भरा हुआ) चषक (प्याला) अच्छ० = अच्छा = स्वच्छा या सुरा तया (अच्छी मदिरा से)

एतत्—नव० = नवमालिकायाः मुखस्य संसर्गेण (ष० त०) सविशेषं यथा स्यात् तथा (क्रियाविशे०) वासितः रसः यस्य तथाभूतम् (ब० व्री०) (नवमालिका के मुख के सम्पर्क से खूब सुगन्धित हुए स्वादवाला) अनास्वा० न पूर्वम् आस्वादितम् इति अनास्वा० (पहिले न चखा हुआ) सवैलक्ष्यस्मितं (आश्चर्यपूर्वक मुस्कराहट)

विदूषकः—[सवैलक्ष्यस्मितं कृत्वा] सेहरअ ! बम्हणो क्खु अहं। [शेखरक ! ब्राह्मणः खल्वहम् ।]

विटः—जदि तुमं बम्हणो, ता कहिं दे बम्हसुत्तं ? [यदि त्वं ब्राह्मणः, तत् क्व ते ब्रह्मसूत्रम् ?]

विदूषकः—तं क्खु इमिणा चेडेण कड्ढीअमाणं छिण्णं । [तत् खलु अनेन चेटेनाऽऽकृष्यमाणं छिन्नम् ।]

चेटी—[विहस्य] जइ एव्वं, ता वेदक्खराइं पि दाव कति वि उदाहर । [यद्येवं तद् वेदाक्षराण्यपि तावत् कत्यपि उदाहर ।]

विदूषकः—भोदि ! इमिणा सीहुगन्धेण मे विणद्धाइं वेदक्खराइं। अहवा—किं मम भोदीए समं विवादेण ? एसो बम्हणो पादेसु दे पडदि। [भवति ! अनेन शीधुगन्धेन पिनद्धानि मे वेदाक्षराणि ? अथवा किं मम भवत्या समं विवादेन ? एष ब्राह्मणः पादयोस्ते पतति ।] [इति पादयोः पतितुमिच्छति ।]

चेटी—[हस्ताभ्यां निवार्य्य] मा क्खु एव्वं करेदु अज्जो । सेहरअ! ओसर ओसर, बह्मणो क्खु एसो । [विदूषकस्य पादयोः पतति।] अज्ज ण तुए कुविदव्वं, सम्बन्धिआनुरूवो क्खु एसो मए परिहासो किदो। [मा खल्वेवं करोत्वार्य्यः। शेखरक ! अपसर अपसर, ब्राह्मणः खल्वेषः। [विदूषकस्य पादयोः पतति ।] आर्य्ये ! न त्वया कोपितव्यं सम्बन्ध्यनुरूपः खल्वेष मया परिहासः कृतः ।]

यदि—ब्रह्मसूत्रम् (यज्ञोपवीत, जनेऊ) कृष्यमाणम् (खींचा जाता हुआ) छिन्नम् (टूट गया) वेदाक्षराणि (वेद के अक्षरों-शब्दों-को) उदाहर (कहो)

भवति—शीधुनः गन्धः तेन (मदिरा की गन्ध से) पिनद्धानि (बाँधे गए, रोके गए हैं) अर्थात् जहां मदिरा पी जा रही है, वहाँ क्या वेदमन्त्र पढ़ना ? न कोपितव्यम् (गुस्सा नहीं करना चाहिए) सम्बन्ध्य० = सम्बन्धिनः अनुरूपः (सम्बन्धी के योग्य, अर्थात् जैसे सम्बन्धी के साथ किया ही जाता है) ।

विटः—अहंपि णं पसादेमि। [पादयोर्निपत्य] मरिसेदु मरिसेदु अज्जो, जं मए मद्‌वरवसेण अवरद्धं, जेण अहं णोमालिआए सह आवाणअं गमिस्सं। [अहमप्येनं प्रसादयामि। [पादयोर्निपत्य] मर्षयतु मर्षयत्वार्यः, यत् मया मदपरवशेनापराद्धम्; येनाहं नवमालिकया सह आपानकं गमिष्यामि।]

विदूषकः—मरिसिदं मए, गच्छ तुम्हे, अहंपि पिअवअस्सं पेक्खामि। [मर्षितं मया, गच्छतं युवाम्। अहमपि प्रियवयस्यं प्रेक्षे।]

[निष्क्रान्तो विटश्चेट्या सह चेटश्च।]

विदूषकः—अदिक्कंतो बह्मणस्स अकालमिच्चू। ता जाव अहंपि मत्तपालअसङ्गदूसिदो इध दिग्घिकाए ण्हाइस्सं। [तथा करोति। नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] एसो पिअवअस्सो वि रुक्किणीं पिअ हरी मलअवदीं अवलम्बिअ इदो ज्जेव्व आअच्छदि, ता जाव पासपरिवत्ती। [अतिक्रान्तः ब्राह्मणस्याऽकालमृत्युः। तद्यावदहमपि मत्तपालसङ्गदूषित इह दीर्घिकायां स्नास्यामि। [तथा करोति। नेपथ्याभिमुखमवलोक्य] एष प्रियवयस्योऽपि रुक्मिणीमिव हरिर्मलयवतीमवलम्ब्य इत एवागच्छति। तद्यावत् पार्श्ववर्ती भवामि।]

अहम्—मर्षयतु (क्षमा करो) मदपरवशेन (नशे की हालत में) अपराद्धम् (अपराध किया है) आपानकम्=आ समन्तात् पीयते मदिरा यत्र (मदिरा पीने का स्थान)।

अतिक्रान्तः—अकालमृत्युः=काले मृत्युः (स० तत्पु०) न कालमृत्युः अकाल० (नञ् तत्पु०) (असामयिक मृत्यु) अतिक्रान्तः (टल गई) विदूषक का अभिप्राय यह है कि सज्जनों का दुष्ट शराबियों के साथ समागम अकालमृत्यु जैसा दुःखदायी होता है। विटादियों के चले जाने पर वह बला टली। मत्त०=मत्तानां पालकस्य सङ्गेन दूषितः (शराबियों के सरदार के सम्पर्क से अपवित्र हुआ) दीर्घिकायाम् (बावड़ी में) हरिः रुक्मिणीमिव (जिस प्रकार कृष्ण भगवान रुक्मिणी को पकड़ लाये थे, उसी तरह) अवलम्ब्य (हाथ से पकड़कर) पार्श्ववर्ती=पार्श्वे वर्तते इति पार्श्ववर्ती (उपपदतत्पु०) (समीपस्थ, निकटवर्ती)। परिहास संभोग शृङ्गार का विशेष अङ्ग हुआ करता है, अतएव नाटककार ने आगे दिखाई देनेवाले नायक-नायिका के संभोग की पृष्ठभूमिस्वरूप यह परिहासप्रधान विट-चेटादि प्रसङ्ग उपस्थित किया है।

[ततः प्रविशति गृहीतवरनेपथ्यो नायको, मलयवती विभवतश्च परिवारः।]

नायकः—[मलयवतीमवलोक्य सहर्षं]

दृष्टा दृष्टिमधो ददाति, कुरुते नाऽऽलापमाभाषिता,
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति, बलादालिङ्गिता वेपते।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते,
जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥ ४॥

[मलयवतीं पश्यन्] **प्रिये मलयवति !—**

हुङ्कारं ददता मया प्रतिवचो यन्मौनमासेवितं
यद् दावानलदीप्तिभिस्तनुरियं चन्द्रातपैस्तापिता।

ततः—गृहीत० = गृहीतं वरस्य नेपथ्यं येन सः (ब० व्री०) (वर की वेश-भूषा में) विभवतः (सज-धज के साथ) परिवारः (नौकर-चाकर)

दृष्टा—दृष्टा (देखी जाती हुई अर्थात् जब मैं उसे देखता हूँ। दृष्टिम् अधः ददाति (आँख नीचे कर देती है) आभाषिता (कही जाती हुई) आलापं न कु० (बात नहीं करती) शय्या...ति (शय्यापर मुंह फेर कर बैठती है) बलात् (हठपूर्वक) आलिङ्गिता (गले लगाई गई) वेपते (काँपती है) सखीषु वासभवनात् निर्यान्तीषु (सति सप्तमी) (कमरे से सखियों के बाहर चले जाने पर) निर्गन्तुम् एव (जाना ही) ईहते (चाहती है) नवोढा प्रिया = नवं यथा स्यात् तथा ऊढा = (नयी-नयी ब्याही हुई, नवविवाहिता प्रियतमा) वामतया एव वामायाः = विरुद्धायाः भाव इति वामता तया (उल्टेपन—विपरीत आचरण—से ही) अद्य मे सुतरां प्रीत्यै जाता (आज अच्छी तरह मेरे लिए प्रसन्नता का कारण बनी हुई है) अर्थात् वैसे तो वह स्वभावतः आनन्द देनेवाली है, किन्तु आज तो विपरीत आचरण से वह और भी अधिक आनन्द देनेवाली बन गई है। (४)

हुङ्कारम्—हुङ्कारम् ('हुं' यह शब्द) प्रतिवचः (उत्तर) ददता (देते हुए) मया यत् मौनम् आसेवितम् (मैंने जो चुप साधी थी) यत् दावा० = दावस्य = वनस्य ("वने च वनवह्नौ च दवो दाव इहेष्यते" इति यादवः) यः अनलः तस्य दीप्तिरिव दीप्तिर्येषां तैः (ब० व्री०) (वनाग्नि के से तेजवाले अर्थात् उसकी तरह

ध्यातं यत् सुबहून्यनन्यमनसा नक्तन्दिनानि प्रिये !
तस्यैतत् तपसः फलं मुखमिदं पश्यामि यत्तेऽधुना ॥ ५ ॥

नायिका—[अपवार्य्य] हञ्जे चदुरिए ! ण केवलं दंसणीओ, पिअं पि भणिदुं जाणादि । [हञ्जे चतुरिके ! न केवलं दर्शनीयः, प्रियमपि भणितुं जानाति ।]

चेटी—[विहस्य] अयि पडिपक्खवादिणि ! सच्चं ज्जेव्व एदं, किं एत्थ पिअवअणं ? [अयि प्रतिपक्षवादिनी ! सत्यमेवैतत् । किमत्र प्रियवचनम् ?]

नायकः—चतुरिके ! आदेशय मार्गं कुसुमाकरोद्यानस्य ।

चेटी—एदु एदु भट्टा । [एतु एतु भर्त्ता ।]

जला देनेवाले) चन्द्रा० = चन्द्रस्य आतपाः तैः (ष० त०) चन्द्रमा के प्रकाशों से, चान्दनियों से) इयं तनुः (यह शरीर) तापिता (तपाया है) विरही लोगों को चाँदनी आग उगलती है, देखिए कालिदास—"विसृजति हिमगर्भैरिन्दुरग्निं मयूखैः" शाकु० । अनन्य० = न विद्यते अन्यस्मिन् इति अनन्यम् तादृशं यत् मनः तेन (न दूसरी ओर लगे हुए मन से अर्थात् एकाग्र चित्त से) सुबहूनि नक्तंदिनानि रात्रिदिनानि (काल के अत्यन्त संयोग में द्वितीया) (बहुत से रातदिन) ध्यातम् ((तुम्हारा ही) ध्यान किया) हे प्रिये, तस्य तपसः एतत् फलम् यत् (प्रिये, उस तपस्या का (ही) यह फल है कि) ते मुखम् अधुना पश्यामि (आज तुम्हारा मुख देख रहा हूँ) अर्थात् जिस तरह कोई योगी मौन रख कर पञ्चाग्निसाधन करता हुआ दिनरात ध्यान-मग्न हो तपस्या करता है, उसी प्रकार मैंने भी तुम्हारे ध्यान में रह कर ऐसी ही घोर तपस्या की, तब जा कर कहीं तुम्हें प्राप्त कर सका । (५)

चतुरिके—दर्शनीय = दृश् + अनीय (देखने योग्य अर्थात् सुन्दर) भणितुम् = भण् + तुम् (बोलना) प्रतिपक्ष० = प्रतिपक्षे वदतीति प्रतिपक्षवादिनी तत्सम्बुद्धौ (प्रतिकूल बोलनेवाली) आदेशय (बताओ) स्वैरं० = (धीरे-धीरे)

नायकः—[परिक्रम्य नायिकां निर्दिश्य] स्वैरं स्वैरमागच्छतु भवती।

खेदाय स्तनभार एव किमु ते मध्यस्य हारोऽपरः?
श्राम्यत्यूरुयुगं नितम्बभरतः काञ्च्याऽनया किं पुनः?
शक्तिः पादयुगस्य नोरुयुगलं वोढुं कुतो नूपुरौ?
स्वाङ्गैरेव विभूषिताऽसि वहसि क्लेशाय किं मण्डनम्?॥६॥

चेटी—एदं क्खु तं कुसुमाअरुज्जाणं, ता पविसदु भट्टा। [एतत् खलु तत् कुसुमाकरोद्यानं, तत् प्रविशतु भर्ता।]

[सर्वे प्रविशन्ति।]

नायकः—[विलोक्य] अहो नु कुसुमाकरोद्यानस्य परा श्रीः! इह हि—

निष्यन्दश्चन्दनानां शिशिरयति लतामण्डपे कुट्टिमान्ता-

खेदाय—स्तन० = स्तनयोः भारः (स्तनों का भार ही) ते मध्यस्य खेदाय (तुम्हारी कमर की थकावट के लिए काफ़ी है) अपरः हारः किमु? ((बोझ के लिए) दूसरा हार क्यों?) नितम्ब० = नितम्बयोः भरः तस्मात् (नितम्बों के भार के कारण) ऊरु० = ऊर्वोः युगम् (दोनों जंघायें) श्राम्यति (थकी जाती हैं) अनया काञ्च्या (इस मेखला—तागड़ी—से) पुनः किम् (फिर क्या?) पाद० = पादयोः युगं तस्य (दोनों पैरों की) शक्तिः (ताक़त) ऊरुयुगलं वोढुं न (दोनों जंघाओं को वहन करने की नहीं) नूपुरौ (वोढुम्) कुतः (पायजेबों को वहन करने की तो कहाँ?) स्वाङ्गै...ऽसि (अपने अङ्गों से ही अलंकृत हो) क्लेशाय मण्डनं किं वहसि (क्लेश के लिए गहना क्यों पहनती हो?)। (६)

अहो—परा श्रीः (महान शोभा)

निष्यन्द०—चन्दनानां निष्यन्दः (चन्दनवृक्षों का बहता हुआ रस) लता० = लताभिर्निर्मितः मण्डपः तस्मिन् (मध्यमपदलोपी समास) (लताओं द्वारा बनाये गये मण्डप—बैठने के स्थान—में) कुट्टि० = कुट्टिमानाम् अन्ताः तान् (फ़र्शों के किनारों को) शिशि० = शिशिरं करोतीति शिशिरयति शिशिर + णिच् (नामधातु)

नाराद् धारागृहाणां ध्वनिमनु तनुते ताण्डवं नीलकण्ठः।
यन्त्रोन्मुक्तश्च वेगाद् चलति विटपिनां पूरयन्नालवाला-
नापातोत्पीडहेलाहृतकुसुमरजःपिञ्जरोऽयं जलौघः ॥७॥

अपि च—

अमी गीतारम्भैर्मुखरितलतामण्डपभुवः
परागैः पुष्पाणां प्रकटपटवासव्यतिकराः।
पिबन्तः पर्य्याप्तं सह सहचरीभिर्मधुरसं

(शीतल बना रहा है) आरात् (अव्यय) (समीप में ही) नीलकण्ठः (मोर) धारागृहाणाम् (जलप्रपात-गृहों—फ़व्वारों—के) ध्वनिम् अनु (अनु के योग में द्वितीया) (शब्द के पीछे—शब्द को लक्ष्य करके—(मेघ-भ्रम से)) ताण्डवं तनुते (नृत्य कर रहा है) यन्त्रो० = यन्त्रेभ्यः उन्मुक्तः (जलयन्त्रों से छूटा हुआ) आपात० = आपाते यः उत्पीडः (चलनम्) तेन हेलया (सुगमतया) हृतं यत् कुसुमानां रजः तेन पिञ्जरम् (गिरकर बहने से अनायास ही ली जाती हुई फूलों की धूलि से पीला बना हुआ) अयं जलौघः = जलस्य ओघः (यह पानी का समूह) विटपिनाम् आलवालान् (वृक्षों के थावलों (Basins) को) पूरयन् (भरता हुआ) वेगात् चलति (तेज़ी से चल रहा है)

अमी०—गीता० = गीतानाम् आरम्भैः (गीतों के प्रारम्भों से अर्थात् आरम्भ किये हुए (अपने) गीतों से) मुखरित० = मुखरिताः लतामण्डपानां भुवः यैस्तथाभूताः (ब० व्री०) (लतामण्डपों की भूमियों को गुंजाते हुए) पुष्पाणां परागैः (फूलों की धूलियों से) प्रकट० = प्रकटः पटवासस्य व्यतिकरः येषु ते (ब० व्री०) (स्पष्ट दिखाई देनेवाले कुंकुमचूर्ण को धारण किये हुए) सहचरीभिः सह (अपनी संगिनी भ्रमरियों के साथ) मधुरसम् (मकरन्द—पुष्परस—को) पर्याप्तं यथा स्यात् तथा (क्रियावि०) पिबन्तः (छक कर पीते हुए) मधुपाः = मधु पिबन्तीति मधुपाः (भ्रमर) समन्तात् (चारों ओर) आपान० = आपानस्य उत्सवः तम् (ष० त०) (मदिरा-पान का उत्सव) अनुभवन्ति (अनुभव कर रहे—मना रहे—हैं)। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार विवाह के उपलक्ष्य में गीत-वाद्य के साथ हम सब कुंकुमचूर्ण से

समन्तादापानोत्सवमनुभवन्तीव मधुपाः ॥ ८॥

विदूषकः—[उपसृत्य] जेदु जेदु भवं। सोत्थि भोदीए। [जयतु जयतु भवान्। स्वस्ति भवत्यै।]

नायकः—वयस्य ! चिराद् दृष्टोऽसि।

विदूषकः—भो वअस्स ! लहुं ज्जेव्व आअदोम्हि । किं उण विआहमहूसवमिलिदसिद्धविज्जाहराणं आपाणदंसणकोदूहलेण परिब्भमंतो एत्तिअं वेलं चिट्ठिदोम्हि। ता तुमं पि दाव पेक्ख। [भो वयस्य! लघु एवागतोऽस्मि। किं पुनर्विवाहमहोत्सवमिलितसिद्धविद्याधराणामापानदर्शनकौतूहलेन परिभ्रमन्नेतावतीं वेलां स्थितोऽस्मि। तत् त्वमपि तावत् प्रेक्षस्व।]

नायकः—यथाऽऽह भवान्। [समन्तादवलोकयन्] वयस्य, पश्य, पश्य—

दिग्धाङ्गा हरिचन्दनेन, दधतः सन्तानकानां स्रजो,
माणिक्याऽऽभरणप्रभाव्यतिकरैश्चित्रीकृताऽच्छांशुकाः।

रँगी प्रियाओं सहित पर्याप्त मधु (मदिरा) पीते हुए पानोत्सव मना रहे हैं, ठीक उसी प्रकार भ्रमर भी मधु (मकरन्द) पीते हुए पानोत्सव का सा आनन्द ले रहे हैं। (८)

भो वयस्य—लघु...स्मि (शीघ्र ही आया हुआ होता) किं पुनः (किन्तु) विवाह० = विवाहस्य महोत्सवे मिलिताः ये सिद्धाश्च विद्याधराश्च तेषाम् (विवाहोत्सव में इकट्ठे हुए सिद्धों और विद्याधरों के) आपान० = आपानस्य यत् दर्शनं तस्य कौतूहलेन (मदिरापान को देखने के कौतुक से) परिभ्रमन् (इधर-उधर घूमते-घामते) एता० (इतने समय (उधर ही) रह गया)।

दिग्धा०—हरिचन्दनेन (पीले चन्दन के रस से) ('छेदे रक्तं कषे पीतं हरिचन्दनमुच्यते') दिग्धा० = दिग्धानि (लिप्तानि) अङ्गानि येषां ते (ब० व्री०) (अंगों को लिप्त किये हुए) सन्तानकानां स्रजः (कल्पवृक्षों के हार) दधतः (धारण करते हुए) माणिक्या० = माणिक्यानाम् यानि आभरणानि तेषां याः प्रभाः तासां व्यतिकरैः (ष० त०) (मणियों के भूषणों की चमकों के (परस्पर) मिलने से)

१-भवतीह।

साईं सिद्धजनैर्मधूनि दयितापीतावशिष्टान्यमी
मिश्रीभूय पिबन्ति चन्दनतरुच्छायासु विद्याधराः ॥ ९ ॥

तदेहि वयमपि तां तमालवीथिं गच्छामः। [परिक्रामति।]

विदूषकः—एसा क्खु तमालवीहिआ। एदं संचरंती दाव परिखेदिदा विअ भोदी दीसई। ता इध ज्जेव्व फटिअमणिसिलाअले उवविसिअ वीसमम्ह। [एषा खलु तमालवीथिका। एतां सञ्चरन्ती तावत् परिखेदितेव भवती दृश्यते। तदिहैव स्फटिकमणिशिलातल उपविश्य विश्राम्यामः।]

नायकः—वयस्य! सम्यगुपलक्षितम्—

एतन्मुखं प्रियायाः शशिनं जित्वा कपोलयोः कान्त्या।
तापानुरक्तमधुना कमलं ध्रुवमीहते जेतुम् ॥ १० ॥

[नायिकां हस्ते गृहीत्वा] प्रिये! इहोपविशामः।

नायिका—जं अज्जउत्तो आणवेदि। [यदार्य्यपुत्र आज्ञापयति।]

[सर्वे उपविशन्ति।]

चित्री०=चित्रीकृतानि अंशुकानि येषां ते (ब० व्री०) (जिनके वस्त्र चित्र-विचित्र बने हुए हैं—ऐसे) सिद्धजनैः सार्धं मिश्रीभूय (सिद्ध लोगों के साथ मिलकर) अमी विद्याधराः (ये विद्याधर) चन्दन०=चन्दनस्य ये तरवः तेषां छायासु (ष० त०) (चन्दन-वृक्षों की छायाओं में) दयिता०=दयिताभिः पीतात् अवशिष्टानि (प्रियाओं के पीने से बची हुई उनकी जूठी) मधूनि (मदिराओं को) पिबन्ति (पी रहे हैं)।

तमालवी०—तमाल०=तमालानां वीथिः (ताड़वृक्षोंवाला मार्ग) परिखेदिता इव (थकी हुई-सी)।

एतन्मु०—प्रियायाः एतत् मुखम् (प्रिया का यह मुंह) कपोलयोः कान्त्या (गालों की शोभा से) शशिनं जित्वा (चाँद को जीत कर) अधुना तापा०=तापेन अनुरक्तम् (सत्) (अब धूप से लाल-लाल हुआ) कमलं जेतुम् (कमल को जीतना) ईहते (चाहता है) ध्रुवम् (अव्यय) (ऐसा प्रतीत होता है, मानो)।

१ विहरवा।

नायकः—[नायिकाया मुखमुन्नमय्य पश्यन्] प्रिये ! वृथैव त्वमस्माभिः कुसुमाकरोद्यानदर्शनकुतूहलिभिः परिखेदिताऽसि । कुतः ?—

एतत्ते भ्रूलतोल्लासि पाटलाऽधरपल्लवम् ।
मुखं नन्दनमुद्यानमतोऽन्यत्केवलं वनम् ॥ ११ ॥

चेटी—[सस्मितं विदूषकं निर्दिश्य] सुदं तुए, भट्टिदारिश्र कहं वण्णेदि ? श्रज्ज उण श्रहं तुमं वण्णेमि । [श्रुतं त्वया, भर्तृदारिकां कथं वर्णयति ? आर्य पुनरहं त्वां वर्णयामि ।]

विदूषकः—[सहर्षम्] भोदि ! जीविदोम्हि । ता करेदु भोदी पसादं, जेण एसो मं पुणोवि ण भणादि, जहा तुमं ईरिसो तारिसो कविल

नायकायाः—उन्नमय्य (ऊपर उठा कर) कुसुमो० =कुतूहलम् एषामस्तीति कुतूहलिनः (कुतूहल+इन् मत्वर्थे) कुसुमाकरोद्यानस्य कुतूहलिनः इति कुसु० (कुसुमाकर उद्यान का कौतुक रखने वाले) खेदिता (थकाया है) ।

एतत्ते—भ्रूलतो० =भ्रूवौ एव लते भ्रूलते ताभ्याम् उद्भासते इति भ्रू० (उपपदत०)=(भौहों रूपी लताओं द्वारा शोभित हुआ) पाटला० =पाटलः अधर एव पल्लवः यत्र तथाभूतम् (ब० व्री०) (लाल-लाल अधर रूपी पत्ते वाला) एतत् ते मुखं. . .नम् (यह तुम्हारा मुँह आनन्द देने वाला उपवन है) अतः अन्यत्... नम् (इसके अतिरिक्त केवल वन (ही) है) । नन्दनम्=नन्दयतीति नन्दनम्=आनन्द देनेवाला । इस अर्थ के अतिरिक्त नन्दन शब्द से नायक को इस नाम वाला स्वर्ग का उपवन भी विवक्षित है अर्थात् तुम्हारा आनन्ददायक मुख ही स्वर्ग का 'नन्दन' उपवन है; कुसुमाकर आदि उपवन तो वन ही हैं; व्यर्थ ही मैं तुम्हें यहाँ लाया हूँ । 'वन' की व्युत्पत्ति एक टीकाकार ने—"वनति=उपतापयतीति वनम् (वन उपतापे+अच्)"=अर्थात् 'काँटे आदियों से कष्ट देने वाला' यों की है । (११)

श्रुतम्—'वर्णयामि' में वर्ण धातु के दो अर्थ हैं—वर्णन—वखान—करना और रँगना । विदूषक पहिले अर्थ को लेता है और चेटी दूसरे अर्थ को । विदूषक में समझ की इस भूल के कारण ही चेटी उस को वेवकूफ़ वनाती है । जीवितोऽस्मि (बड़भागी हूँ, धन्य है !) कपिल० =कपिलः यः मर्कटः तस्य आकार इव आकारो यस्य सः (ब० व्री०) (पीले, भूरे बन्दर की सी आकृतिवाला) ।

मंकडाआरोस्ति। [भवति! जीवितोऽस्मि। तत् करोतु भवती प्रसादं, येनैष मां पुनरपि न भणति, यथा त्वमीदृशः तादृशः कपिलमर्कटाकार इति।]

चेटी—अज्ज! तुमं मए विआहजाअरणे णिद्दाअमाणणिमीलिअअच्छो सोहन्तो दिट्ठो। ता तह ज्जेव्व चिट्ठ, जेण वण्णेमि। [आर्य्य! त्वं मया विवाहजागरेण निद्रायमाणो निमीलिताक्षः शोभमानो दृष्टः। तत्तथैव तिष्ठ, येन वर्णयामि।]

विदूषकः—[तथा करोति।]

चेटी—[स्वगतम्] जाव एसो णिमीलिअअच्छो चिट्ठदि दाव णीलरसाणुआरिणा तमालपल्लवरसेण मुहं से कालीकरिस्सं। [यावदेव निमीलिताक्षस्तिष्ठति तावन्नीलरसानुकारिणा तमालपल्लवरसेन मुखम् अस्य कालीकरिष्यामि।] [उत्थाय तमालपल्लवं निष्पीड्य विदूषकस्य मुखं कालीकरोति। नायको नायिका च विदूषकस्य मुखं पश्यतः।]

नायकः—वयस्य! धन्यः खल्वसि, योऽस्मासु तिष्ठत्सु भवानेवं वर्ण्यते!।

नायिका—[नायकस्य मुखं दृष्ट्वा स्मितं करोति।]

नायकः—[नायिकामुखं दृष्ट्वा]—

आर्य त्वम्—विवाह० = विवाहे यत् जागरणं तत्र (स० तत्पु०) (विवाह की रात वाले जागरण में) निद्रा० = निद्रायमाणश्च निमीलिताक्षश्च इति निद्रा०, निद्रां करोति इति निद्रायते निद्रा + क्यङ् (नामधातु), निद्रायते इति निद्रायमाणः निमी० = निमीलिते अक्षिणी यस्य सः (ब० व्री०) (नींद का अनुभव करते और आँख मूंदे हुए) शोभनः (सुन्दर)।

यावत्—नील० = नीलस्य (नील पौदे के) रसम् अनुकरोति तेन (उपपद-तत्पु०) (नील का रस = जैसा) तमाल० तमालस्य पल्लवाः तेषां रसः तेन (ष० त०) (तमाल वृक्ष के पत्तों के रस से) काली० = अकालं कालं सम्पद्यमानं करिष्यामि इति काली० (काल + च्वि + कृ + लृट्) (काला कर दूंगी)।

स्मितपुष्पोद्गमोऽयं ते दृश्यतेऽधरपल्लवे ।
फलं त्वन्यत्र मुग्धाक्षि ! चक्षुषोर्मम पश्यतः ॥ १२॥

विदूषकः—भोदि ! किं तुए किदं ? [भवति ! किं त्वया कृतम् ?]

चेटी—णं वरिणदोसि । [ननु वर्णितोऽसि ।]

विदूषकः—[हस्तेन मुखं प्रमृज्य हस्तं दृष्ट्वा सरोषं दण्डकाष्ठमुद्यम्य] दासीए धीए ! राअउलं क्खु एदं । किं तव करिस्सं ? । [नायकमुद्दिश्य] भो, तुम्हाणं पुरदो एव्व अहं दासीए धीआए खलीकिदो ! ता किं मम इध ट्ठिदेण ? । अण्णदो गमिस्सं । [आः दास्याःपुत्रि ! राजकुलं खल्वेतत् किं तव करिष्यामि ? [नायकमुद्दिश्य] भोः ! युष्माकं पुरत एवाऽहं दास्याःपुत्र्या खलीकृतोऽस्मि तत् किं ममेह स्थितेन ? । अन्यतो गमिष्यामि ।]

चेटी—कुविदो मम अज्ज अत्तेओ, जाव णं गदुअ पसादेमि [निष्कामति] । [कुपितः मम आर्य्य आत्रेयः, यावदेनं गत्वा प्रसादयामि ।] [गन्तुमिच्छति ।]

स्मित॰—मुग्धाक्षि॰ = मुग्धे अक्षिणी यस्याः सा तत्संबोधने (ब॰ व्री॰) (हे भोली-भाली आँखों वाली !) ते अधर॰ = अधरः एव पल्लवः तस्मिन् (कर्मधा॰) (होंठरूपी पत्ते में) अयं स्मित॰ = स्मितम् एव पुष्पं तस्य उद्गमः (मुस्कराहटरूपी फूल का प्रकट होना अर्थात् मुस्कराहट का फूल प्रकट हो रहा है) फलं तु अन्यत्र (किन्तु फल दूसरी जगह) पश्यतः मम चक्षुषोः ((तुम्हें) देखते हुए मेरे आँखों में है) । यहां नायिका का ओंठ तो बना है पत्ता और उसमें सफ़ेद फूल बना है उस की मुस्कराहट; फूल के अनन्तर फल लगता है, किन्तु आश्चर्य की बात है कि फल फूल में न लगकर दूसरी ही जगह अर्थात् नायक की आँखों में हुआ । फल है—'प्रिया के मुख को देखने का आनन्द' ।

हस्तेन—प्रमृज्य (मिटाकर) दण्डकाष्ठम् (लकड़ी का डंडा) उद्यम्य (उठाकर) दास्याःपुत्रि ! (बदमाश !) राजकुलम् (राजगृह) विदूषक लाठी मारना ही चाहता था कि इस विचार से रुक गया है कि एक तो राजा जीमूतवाहन के सामने कानून को अपने हाथ में लेना ठीक नहीं, दूसरे, स्वयं राजा भी चेटीद्वारा किये गये अपराध में सम्मिलित है । खलीकृतः (मुझे बेवकूफ़ बनाया है, मेरा अपमान किया है)।

नायिका—हञ्जे चदुरिए! किं मं एआइणीं उज्झिअ गच्छसि? [हञ्जे चतुरिके! किं मामेकाकिनीमुज्झित्वा गच्छसि?]

चेटी—[नायकं निर्दिश्य सस्मितम्] एव्वं एआइणी चिरं होहि। [एवमेकाकिनी चिरं भव।] [इति निष्क्रान्ता।]

नायकः—[नायिकाया मुखं पश्यन्]—

दिनकरकरामृष्टं बिभ्रत् द्युतिं परिपाटलां
दशनकिरणैः संसर्पद्भिः स्फुटीकृतकेसरम्।
अयि मुखमिदं मुग्धे! सत्यं समं कमलेन ते
मधु मधुकरः किन्त्वेतस्मिन् पिबन्न विभाव्यते?॥ १३॥

नायिका—[विहस्य मुखमन्यतो नयति।]

नायकः—[तदेव पठति।]

चेटी—[पटाक्षेपेण प्रविश्य, उपसृत्य] एसो क्खु अज्ज मित्तावसू

दिन०—अयि मुग्धे, दिन० = दिनकरस्य करैः आमृष्टम् (सूर्य की किरणों से छुआ गया हुआ) (अतएव) परिपाटलाम् = परितः पाटलाम् (चारों तरफ से लाल-लाल) द्युतिम् बिभ्रत् (कान्ति को धारण करता हुआ) संसर्पद्भिः (इधर-उधर पड़ती हुई) दशन० = दशनानां किरणाः तैः (दांतों की किरणों से) स्फुटी० = स्फुटीकृताः केसराः यत्र तथाभूतम् (ब० व्री०) (जहाँ केसर–रेशे–प्रकट कर दिये गए हैं–ऐसा) इदं ते मुखम् (यह तुम्हारा मुख) सत्यं कमलेन समम् (सचमुच कमल–जैसा है) किन्तु एतस्मिन् मधुकरः (परन्तु इसपर भ्रमर) मधु पिबन् (मकरन्द–रस–पीता हुआ) न विभाव्यते (नहीं दिखाई देता) मुख की कमल से और दाँतों के किरण की कमल के सफेद-सफेद केसरों से तुलना करके नायक मुख-कमलपर रसपान करते हुए भ्रमर की कमी बताने के बहाने स्वयं भ्रमर-जैसा बनकर अधरपान की अनुमति माँगता है। (१३)

पटा०—'पटाक्षेपेण'—यह नाटक का पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ होता है—"परदे को हटा कर" अर्थात् जब रंगभूमि का परदा नहीं उठाया जाता है, किन्तु नया पात्र हाथ से परदे के किनारे को हटा कर प्रवेश करता है, तब "पटाक्षेपेण" कहा जाता है, किन्तु ऐसा प्रवेश अत्यन्त आवश्यक कार्य आ पड़ने पर ही होता है।

केणविकज्जेण कुमारं पेक्खिदुं आअदो। [एष खलु आर्य्यमित्रावसुः केनापि कार्य्येण कुमारं द्रष्टुमागतः।]

नायकः—प्रिये! गच्छ त्वमात्मनो गृहम्। अहमपि मित्रावसुं दृष्ट्वा त्वरितमागत एव।

नायिका—[चेट्या सह निष्क्रान्ता।]

[ततः प्रविशति मित्रावसुः।]

मित्रा०—

अनिहत्य तं सपत्नं कथमिव जीमूतवाहनस्याहम्।
कथयिष्यामि हृतं तव राज्यं रिपुणेति निर्लज्जः?॥१४॥

अनिवेद्य च न युक्तं गन्तुमिति निवेद्य गच्छामि। कुमार! मित्रावसुः प्रणमति।

नायकः—[मित्रावसुं दृष्ट्वा] मित्रावसो! इत आस्यताम्।

मित्रावसुः—[निरूप्य उपविशति।]

नायकः—[निरूप्य] मित्रावसो! संरब्ध इव लक्ष्यसे?

मित्रा०—कः खलु मतङ्गहतके संरम्भः?

नायकः—किं कृतं मतङ्गेन?

संभोग शृंगार को चरम शिखर पर चढ़ा कर अब नाटककार मित्रावसु का प्रवेश कराता हुआ वीररस की भूमिका बाँधता है। शृंगार से वीररस को पुष्टि मिलती है, अतः उसे वीररस का अङ्ग बन कर नाटक में गौणरूप से प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए।

अनिहत्य०—जीमू० तं सपत्नम् (जीमूतवाहन के उस शत्रु को) अनिहत्य =न+निहत्य (विना मारे) निर्लज्जः=निर्गता लज्जा यस्य सः (ब० ब्री०) (लज्जा-रहित हो) तव राज्यं रिपुणा हृतम् (तुम्हारा राज्य शत्रु ने ले लिया है) इति कथम् इव कथ० (यह किस तरह कहूँगा अर्थात् मतङ्ग को मारे विना यह सूचना देना मेरे लिए लज्जा की बात है)। (१४)

अनिवेद्य—अनिवेद्य (विना सूचना दिये) आस्यताम् (विराजिए) संरब्धः इव (क्षुब्ध-से, उत्तेजित जैसे) मतङ्गः-हतके (मुए मतंग पर) कः संरम्भः (क्या उत्तेजना) अर्थात् उस साधारण से शत्रु का शीघ्र ही विनाश कर दिया जायगा। यहाँ इस बात

मित्रा०—स्वनाशाय किल युष्मदीयं राज्यमाक्रान्तम्।

नायकः—[सहर्षमात्मगतम्] अपि नाम सत्यमेतत् स्यात्?

मित्रा०—अतस्तदुच्छित्तये आज्ञां दातुमर्हति कुमारः। किं बहुना?—

संसर्पद्भिः समन्तात् कृतसकलवियन्मार्गयानैर्विमानैः
कुर्वाणाः प्रावृषीव स्थगितरविरुचः श्यामतां वासरस्य।
एते याताश्च सद्यस्तव वचनमितः प्राप्य युद्धाय सिद्धाः,
सिद्धश्चोद्वृत्तशत्रुक्षयभयविनमद्राजकं ते स्वराज्यम्॥ १५॥

अथवा, किं बलौघैः—

पर ध्यान दीजिए कि मित्रावसु तो 'मतङ्ग-हतकः' कहता है, किन्तु जवाब में जीमूतवाहन 'मतङ्गेन' कहता है; इससे नायक के उदार चरित का आभास मिल जाता है कि वह किसी को अपना शत्रु ही नहीं समझता। यही बात आगे 'अपि नाम... स्याम्' से भी ध्वनित होती है। उच्छित्तये=उद्+छिद्+तिः (विनाश के लिए)

संसर्पद्भिः—समन्तात् संसर्प० (चारों तरफ से चलते, मँडराते हुए) कृत०=कृतं सकलस्य वियन्मार्गस्य (वियतः मार्गस्य) यानं यैस्तथाभूतैः (ब० व्री०) (सारे आकाश-मार्ग का भ्रमण करते हुए) विमानैः (वायुयानों से) स्थगित०= स्थगिताः रवेः रुचः यस्मिन् (रोक दिया गया है सूर्य का प्रकाश जिसमें—ऐसे) प्रावृषि इव (वर्षाकाल में जैसे) वासरस्य श्यामतां कुर्वाणाः (दिन को अन्धकारमय बनाते हुए अर्थात् जिस तरह वर्षा-ऋतु में दिन मेघों से ढक कर अन्धेरा हो जाता है उसी प्रकार मेघों की तरह आकाश में छाये वायुयानों से सूर्य को ढक कर चारों तरफ अन्धकार पैदा करते हुए) एते सिद्धाः (ये सिद्ध लोग) तव वचनं प्राप्य सद्यः इतः युद्धाय याताः च (आपकी आज्ञा प्राप्त करके तत्काल यहाँ से युद्धार्थ गये कि) उद्वृत्त...राजकम्=उद्वृत्तः यः शत्रुः तस्य क्षयात् यत् भयं तेन विनमत् राजकं यस्मिन् तत् (ब० व्री०) (दुराचारी शत्रु के विनाश से भय के कारण नम्र हो गया है राजाओं का समूह जिस में—ऐसा) स्वराज्यं ते सिद्धं च (अपना राज्य आपको प्राप्त हुआ (समझिए))। एक शत्रु की ऐसी हालत देखकर फिर भविष्य में कोई भी राजा आपके विरुद्ध शिर उठाने का साहस नहीं करेगा। (१५)

बलौघैः=बलानाम् ओघाः तैः (सेनाओं के समूहों से)

एकाकिनापि हि मया रभसावकृष्ट-
निस्त्रिंशदीधितिसटाभरभासुरेण ।
आरान्निपत्य हरिणेव मतङ्गजेन्द्र-
माजौ मतङ्गहतकं हतमेव विद्धि ॥ १६ ॥

नायकः—[आत्मगतम् । कर्णौं पिधाय] अहह दारुणमभिहितम् । अथवैवं तावत् । [प्रकाशम्] मित्रावसो कियदेतत् । बहुतरमतोऽपि बाहुशालिनि त्वयि सम्भाव्यते । किन्तु—

स्वशरीरमपि परार्थे यः खलु दद्यादयाचितः कृपया ।
राज्यस्य कृते स कथं प्राणिवधक्रौर्यमनुमनुते ॥ १७ ॥

एकाकिना०—रभसावकृष्ट...भासुरेण=रभसेन अवकृष्टः यः निस्त्रिंशः तस्य दीधितयः सटा इव (उपमितस०) तासां भरेण भासुरः (वेग से खींची हुई तलवार के केसरों—अयालों—की जैसी कान्तियों के समूह से देदीप्यमान) यह विशेषण 'हरि' की तरफ भी लगता है; वहाँ 'दीधिति—सटा—' का विग्रह यों होगा—दीधितिवत् याः सटाः (अर्थात्...तलवार की कान्तियों—जैसी अयालों के समूह से...) निस्त्रिंशः=निर्गतः त्रिंशतः अङ्गुलिभ्यः इति अर्थात् ३० अंगुल से जो बड़ी होती है=तलवार। एकाकिना अपि मया (अकेले मेरे ही द्वारा) आजौ आरात् निपत्य (लड़ाई में पास से ही आक्रमण करके) हरिणा (सिंहद्वारा) मतङ्गजेन्द्रम्=मतङ्गजानाम् इन्द्रः तम् इव (गजराज की तरह) मतङ्गहतकम् (मुए मतंग को) हतम् एव विद्धि (मारा हुआ ही समझो)। (१६)

अहह=दारुणम् (कठोर) अभिहितम् (कहा है) नायक का दिल मतङ्ग के मारने की बात से एकदम दहल जाता है। बाहुशालिनि=बाहुभ्यां शालते=शोभते तस्मिन् (विशाल भुजाओं वाले, वीर पुरुष के विषय में) अतोऽपि बहुतरं सम्भाव्यते (इस से भी और अधिक की आशा की जाती है)।

स्वशरीरम्=यः खलु अयाचितः कृपया परार्थे स्वशरीरम् अपि दद्यात् (वास्तव में जो विना मांगे दया के कारण दूसरों के लिए अपने शरीर तक को भी दे देवे) सः राज्यस्य कृते (वह राज्य के खातिर) प्राणि०=प्राणिनां वधः एव क्रौर्यम्=क्रूरस्य भावः तम् (प्राणियों के वध रूपी निर्दयता को) कथम् अनुमनुते (किस तरह अनुमति देवे)। अहिंसा बौद्ध सिद्धान्त की प्रमुख चीज़ है। (१७)

अपि च—क्लेशान् विहाय मम शत्रुबुद्धिरेव नान्यत्र । यदि त्वमस्मत्प्रियं कर्तुमीहसे, तदनुकम्प्यतामसौ राज्यस्य कृते क्लेशदासीकृतस्तपस्वी ।

मित्रावसुः—[सामर्षम् सहासं च] कथं नानुकम्पनीय ईदृशोऽस्माकमुपकारी कृतज्ञश्च ।

नायकः—[स्वगतम्] अनिवार्यसंरम्भः कोपाविष्टचेता न तावदयं शक्यते निवर्तयितुम् । तदेवं तावत् । [प्रकाशम्] मित्रावसो, उत्तिष्ठ । अभ्यन्तरमेव प्रविशावः । तत्रैव तावत् त्वां बोधयिष्यामि । सम्प्रति परिणतमहः । तथाहि—

निद्रामुद्रावबन्धान्मधुकरमनिशं पद्मकोशादपास्य-
न्नाशापूरैककर्मप्रवणनिजकरप्रीणिताशेषविश्वः ।

अपि च—क्लेशान् विहाय (क्लेशों को छोड़कर) क्लेश बौद्धसिद्धान्तानुसार पाँच बातों को कहते हैं—अविद्या, अस्मिता (अहंकार), राग, द्वेष और अभिनिवेश (स्वत्व-ग्रह)—ये मानसिक बुराइयां ही मनुष्य की असली शत्रु हैं । मारना हो, तो इन्हें ही मारना चाहिए । अनुकम्प्यताम् (लोट् कर्मवा०) (दया कीजिए) । क्लेशदासीकृतः = क्लेशानां दासः क्लेशदासः अक्लेशदासः क्लेशदासः सम्पद्यमानः कृतः इति क्लेशदासीकृतः (क्लेशों का दास बनाया गया हुआ) । तपस्वी (बेचारा, मतङ्ग) व्यङ्ग्य—ताने—के—साथ कहा गया है ।

सामर्षम्—कथं न...कृतज्ञश्च = यह व्यङ्ग्य—ताने—के—साथ कहा गया है । असली अर्थ यह है कि ऐसा बुरा करनेवाले दुष्ट पर जरा भी दया नहीं होनी चाहिए ।

अनिवार्य०—अनि० = निवारयितुं योग्यः निवार्यः न निवार्यः संरम्भो यस्य सः (ब० ब्री०) (जिस का क्रोध दूर नहीं किया जा सकता—ऐसा) । कोपा० = कोपेन आविष्टं चेतो यस्य सः (ब० ब्री०) (जिसका चित्त क्रोध से भरा हुआ है) । अहः (दिन) ।

सम्प्रति०—परिणतम् = (ढल गया है) । अहः (दिन) ।

निद्रा०—निद्रा एव मुद्रा तस्या अवबन्धो यस्मिन् सः तस्मात् (जिसपर निद्रारूपी छाप लगी हुई है अर्थात् मुर्झाये हुए) । पद्मकोशात् = पद्मस्य कोशः तस्मात् (कमल की कली में से) मधुकरम् अनिशम् अपास्यन् (भ्रमर को नित्यप्रति बाहर करता हुआ, बन्धन से छुड़ाता हुआ) आशा० = आशानां = दिशानां पूरः = पूरणम् एव एकं कर्म तस्मिन् प्रवणैः = प्रवृत्तैः निजकरैः = स्वकिरणैः प्रीणितम् अशेषं विश्वं येन तथाभूतः (ब० ब्री०) (दिशाओं को (प्रकाश द्वारा) भरने के एकमात्र कार्य में लगे हुए अपने किरणों से सकल संसार को प्रसन्न करने वाला) । अस्तं गच्छन् अपि (अस्त होता हुआ भी) प्रसक्त० = प्रसक्ताभिः =

दृष्टः सिद्धैः प्रसक्तस्तुतिमुखरमुखैरस्तमप्येष गच्छन् ।
एकः श्लाघ्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयासः ॥१८॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति तृतीयोऽङ्कः ।

प्रारब्धाभिः अर्थात् क्रियमाणाभिः स्तुतिभिः मुखराणि=वाचालितानि मुखानि येषां तथाभूतैः (ब० ब्री०) (की गई स्तुतियों से शब्दायमान हुए मुखों वाले अर्थात् सायंसंध्या में मुख से स्तुति-मन्त्र पढ़ते हुए) सिद्धैः दृष्टः (सिद्धजाति के लोगों से देखा जाता हुआ, सिद्ध लोग जिसका दर्शन करते हैं—ऐसा) यस्य प्रयासः परहितकरणाय एव (जिसका परिश्रम दूसरों की भलाई करने के लिए ही हुआ करता है) एषः विवस्वान् एकः श्लाघ्यः (यह सूर्य भगवान ही एकमात्र प्रशंसा-योग्य है) । सूर्य नायक का कुलदेवता है । उसकी स्तुति करने के साथ-साथ कलाकार को इस श्लोक में व्यङ्ग्यरूप से परोपकारी दानी पुरुष का वर्णन करना भी अभीष्ट है । दानी पुरुष की तरफ यह अर्थ है—दानी पुरुष निद्रा०= निद्रा=नींद, आलस्य, लोगों को धन देने में टालबराई । मुद्रावबन्धः=छाप (Seal) लगना, अर्थात् दान के आज्ञापत्र पर सरकारी मोहर लगा करती है तब रुपया मिलता है, यस्मिन् तथाभूतात् पद्मकोशात्=पद्मानां=पद्मसंख्याकानां द्रव्याणां कोशात् अर्थात् अरबों-खरबों की संख्या में जहाँ धन पड़ा हुआ है—ऐसे खज़ाने में से मधुकरम्=भ्रमर—जैसे बन्द पडे धन को अपास्यत् बाहर निकालता हुआ, दीन-प्रजाको बाँटता हुआ । खजाञ्ची लोग देने में निद्रा=लापरवाही रखते हैं और साथ ही सरकारी छाप भी लगना जरूरी होती है, किन्तु दानी राजा इन प्रतिबन्धों को तोड़-ताड़कर अपना खज़ाना गरीबों के लिए खोल देता है । आशा०=(लोगों की आशाओं—उम्मीदों—को पूरा कर देने में लगे.हुए हाथों से सारे.संसार को धन द्वारा प्रसन्न कर देने वाला) । अस्तमपि गच्छन्=(पीछे हालत गिरने पर भी) प्रसक्त०=सिद्धैः दृष्टः (धन द्वारा सफल हुए लोगों से प्रशंसापूर्वक आशा में देखा जाता हुआ) अर्थात् दानी पुरुष का जब सारा खज़ाना दान में खाली हो जाता है तब भी वे लोग—जिनकी उसने पहिले सहायता की थी—आकर दानी की बड़ी प्रशंसा करते हैं और यह आशा बांधे कि अब भी और धन मिलेगा, उसको तकते रहते हैं । यस्य प्रयासः पर० (जो दानी पुरुष रातदिन परोपकार ही करता रहता है, वही एकमात्र प्रशंसा के योग्य है) । वास्तव में कवि सूर्य और दानी राजा के वर्णन द्वारा अपने ही व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश डाल रहा है, क्योंकि श्रीहर्ष इतिहास में एक ऐसा राजा हुआ है जो हमेशा दीन प्रजा के लिए अपने खज़ाने को लुटा दिया करता था । (१८)

तीसरा अंक समाप्त

चतुर्थोऽङ्कः ।

[ततः प्रविशति कञ्चुकी गृहीतरक्तवस्त्रयुगलः प्रतीहारश्च ।]

कञ्चुकी—

अन्तःपुराणां विहितव्यवस्थः पदे पदेऽहं स्खलनानि रक्षन् ।
जरातुरः सम्प्रति दण्डनीत्या सर्वां नृपस्यानुकरोमि वृत्तिम् ॥१॥

प्रतीहारः—आर्य ! वसुभद्र ! क न खलु भवान् प्रस्थितः ।

कञ्चुकी—नाटक का एक पारिभाषिक शब्द है। यह उस व्यक्ति को कहते हैं, जो राजाओं के घरों में प्रबन्धक हुआ करता है। कञ्चुक एक लम्बे चोगे को बोलते हैं; जिसे वह पहने रहता है। गृहीत० = वस्त्राणां युगलं वस्त्र-युगलं (ष० त०) गृहीतं रक्तं वस्त्रयुगलं येन सः (ब० व्री०) (लाल वस्त्रों के जोड़े को पकड़े हुए) प्रतीहार = (द्वारपाल)।

अन्तःपुराणाम्—अन्तःपुराणाम् = ((१) रानियों के निवासगृहों का (२) नगरों के भीतर)। विहित० = विहिता व्यवस्था = प्रबन्धः येन सः (ब० व्री०) दण्डनीत्या = ((१) दण्डस्य नीतिः = ग्रहणम् तया लाठी पकड़ करके (२) दण्डः = दमनम् तस्य नीत्या = उपायेन दमन की नीति से, दण्ड व्यवस्था से) पदे पदे = ((१) कदम कदम पर (२) स्थान स्थान पर। स्खलनानि = ((१) पतन को, ठोकरों को (२) दोषों को, अपराधों को) रक्षन् बचाता हुआ। जरातुरः = ((१) जरया आतुरः (तृ० तत्पु०) वृद्धावस्था के कारण अशक्त (२) जरायां आतुरः (स० तत्पु०) (लोक-प्रशंसा का इच्छुक)। अहं सम्प्रति नृपस्य सर्वां वृत्तिम् अनुकरोमि (मैं इस समय राजा का सारा काम कर रहा हूँ। इस श्लोक में कञ्चुकी राजा के साथ अपनी तुलना कर रहा है। शब्द प्रायः सभी ऐसे हैं जो दो-दो अर्थ रखने वाले हैं, इस तरह वे कञ्चुकी की तरफ़ लगते हैं और राजा की तरफ भी। कञ्चुकी अन्तःपुर का प्रबन्ध करता तथा लाठी के सहारे कदम-कदम पर अपने को ठोकर खाने से रोकता हुआ बुढ़ापे के कारण दुर्बल है। राजा नगरों के भीतर का प्रबन्ध करता हुआ दण्ड-व्यवस्था (कानून) से लोगों को जुर्म करने से बचाता हुआ अपनी प्रशंसा का इच्छुक रहता है। ये दोनों अर्थ उपरोक्त श्लोक से निकल जाते हैं। (१)

कञ्चुकी—आदिष्टोऽस्मि देव्या मित्रावसुजनन्या । यथा कञ्चुकिन् त्वया दशरात्रं यावन्मलयवत्या जामातुश्च रक्तवासांसि नेतव्यानीति। राजदुहिता मलयवती च श्वशुरकुले वर्तते। जीमूतवाहनोऽपि युवराजेन मित्रावसुना सह समुद्रवेलां द्रष्टुमद्य गत इति मया श्रुतम्। तन्न जाने किं राजपुत्र्याः सकाशं गच्छामि । अथवा जामातुरिति ।

प्रतीहारः—आर्य, वरं राजपुत्र्याः सकाशं गन्तव्यम् । तत्र हि कदाचिदस्यां वेलायां जामाता स्वयमेवागतो भविष्यति ।

कञ्चुकी—साधूक्तम् । अथ भवान् पुनः क्व प्रस्थितः ?

प्रतीहारः—आदिष्टोऽस्मि महाराजविश्वावसुना—यथा भोः सुनन्द, गच्छ मित्रावसुं ब्रूहि । अस्मिन् दीपप्रतिपदुत्सवे मलयवत्या जामातुश्च यत् किञ्चित् प्रदीयते । तदुत्सवानुरूपं किञ्चिदागत्य चिन्त्यतामिति । [इति निष्क्रान्तौ]

विष्कम्भकः ।

[ततः प्रविशति जीमूतवाहनो मित्रावसुश्च]

नायकः—

शय्या शाद्वलमासनं शुचिशिला सद्म द्रुमाणामधः

आदिष्टः—आदिष्टः अस्मि=(मुझे आज्ञा मिली है) दशरात्रम्=दशानां रात्रीणां समूहः (दस रात) । समुद्र०=समुद्रस्य वेला ताम् (समुद्र के ज्वारभाटे को) । दीपप्रति०=दीपप्रतिपदः उत्सवः तस्मिन् (दीपावली के प्रतिपत् उत्सव पर, भाईदूज पर)।

'विष्कम्भक' नाटक का पारिभाषिक शब्द है । 'प्रवेशक' की तरह इसमें भी नाटक की वे बीती हुई बातें, जो रंगमञ्च पर नहीं दिखलाई गई हैं तथा वे बातें, जो भविष्य में होने वाली हैं-उनकी दो पात्रों के परस्पर कथोपकथन द्वारा प्रेक्षकों को सूचना दी जाती है । 'प्रवेशक' और 'विष्कम्भक' में अन्तर इतना ही है कि 'प्रवेशक' में तो सूचना देने का यह काम निम्न जाति के पात्रों द्वारा किया जाता है, किन्तु 'विष्कम्भक' में उच्च-जातीय पात्रों द्वारा किया जाता है। (देखिए साहित्यदर्पण—"वृत्त-वर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः । विष्कम्भकः...")

शय्या—शाद्वलं=शादाः=हरिततृणानि अस्मिन्सन्ती शाद्वलम् (हरी घास वाला स्थान) शय्या (बिस्तर है) । शुचिशिला (साफ़ पत्थर) आसनम् (बैठने

शीतं निर्झरवारि पानमशनं कन्दाः सहाया मृगाः ।
इत्यप्रार्थितलभ्यसर्वविभवे दोषोऽयमेको वने
दुष्प्रापार्थिनि यत् परार्थघटनावन्ध्यैर्वृथा स्थीयते ॥ २ ॥

मित्रावसुः—[ऊर्ध्वमवलोक्य] कुमार, त्वर्यतां त्वर्यतां समयोऽयं चलितुमम्बुराशेः ।

नायकः—[आकर्ण्य] सम्यगुपलक्षितम् ।

उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धतः
सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः कुर्वन् प्रतिध्वानिताः ।

का स्थान है)। द्रुमाणाम् अधः सद्म (पेड़ों के नीचे घर है)। शीतं निर्झरवारि पानम् (झरनों का ठण्डा पानी पीने को है)। कन्दाः अशनम् (कन्द-मूल भोजन है)। मृगाः सहायाः (हिरन साथी हैं)। इति अप्रार्थित० = अप्रार्थिताः लभ्याः सर्वविभवाः यत्र तथाभूते (ब० ब्री०) (जहाँ विना मांगे सब विभव—आनंद—मौज—की चीजें प्राप्त हो सकती हैं—ऐसे) दुष्प्राप० = दुःखेन प्राप्याः अर्थिनः यत्र (जहाँ मांगने वाले मुश्किल से ही मिलते हैं—ऐसे) वने (वन में) यत् परार्थ० = परेषाम् अर्थः परार्थः तस्य या घटना = सम्पादनम् तत्र वन्ध्यैः = विफलैः (जो परोपकार करने में विफल हुए) (अस्माभिः) वृथा स्थीयते (हमें व्यर्थ रहना पड़ता है) (इति) अयम् एकः दोषः (यही एक खराबी है)। (२)

इस श्लोक से नायक के व्यक्तित्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। वन में सब प्रकार की सुविधायें मिलने पर भी परोपकार करने को लोग नहीं मिलते, इससे वह वनवास अच्छा नहीं समझता। उसका जीवन ही परोपकारमय है।

उन्मज्जत्०—यथा (जैसे, क्योंकि) उन्मज्जत्० = उन्मज्जन्तः ये जलकुञ्जरेन्द्राः तेषां रभसेन यः आस्फालः तस्य अनुबन्धेन उद्धतः (उठते हुए जल-गजराजों के वेग से थपेड़ों के सिलसिले से पैदा हुआ)। सर्वाः पर्वत० = पर्वतानां यानि कन्दराणि तेषां यत् उदरम् तस्य भुवः (सब पहाड़ों की गुफाओं के भीतरी प्रदेश को) प्रतिध्वानिताः कुर्वन् (गुंजाता हुआ) अयं श्रुति० = श्रुतिपथम् उन्मथ्नाति इति (उपपदतत्पु०) (यह कानों के पर्दों को फाड़ देनेवाला) उच्चैः ध्वनिः उच्चरति (ऊंचा शब्द उठ रहा है) तथा (उससे पता लगता है कि) प्रायः (लगभग) प्रेङ्खत्० = प्रेङ्खत्

उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथायं तथा
प्रायः प्रेङ्खदसंख्यशङ्खधवला वेलेयमागच्छति ॥ ३ ॥

मित्रावसुः—नन्वियमागतैव । पश्य

कवलितलवङ्गपल्लवकरिमकरोद्गारिसुरभिणा पयसा ।
एषा समुद्रवेला रत्नद्युतिरञ्जिता भाति ॥ ४ ॥

तदेह्यस्माज्जलप्रसरणमार्गादपक्रम्यानेनैव गिरिसानुसमीपमार्गेण परिक्रमावः । [परिक्रम्यावलोक्य च]

नायकः—मित्रावसो, पश्य पश्य शरत्समयपाण्डुभिः पयोदपटलैः प्रावृताः प्रालेयाचलशिखरश्रियमुद्वहन्त्येते मलयसानवः ।

मित्रावसुः—कुमार, नैवामी मलयसानवः । नागानामस्थिसंघाताः खल्वमी ।

ये असंख्याः शङ्खाः तैः धवला (इधर–उधर चल रहे असंख्य शंखों से सफेद बना) इयं वेला आगच्छति (यह ज्वारभाटा आ ही गया है) । यथा–तथा = 'क्योंकि ...इसलिए' इस अर्थ में वाक्य-संयोजक हैं । (३)

कवलित०—कवलित० = कवलिताः लवङ्गपल्लवाः यैः तथाभूताः (ब० व्री०) ये करिणः मकराश्च (द्वन्द्व) तेषाम् उद्गारेण सुरभिणा (लवंग के पत्तों को खाये हुए हाथियों और मगरमच्छों के श्वास-वायु द्वारा सुगन्धित जल से) (उपलक्षिता = युक्त) एषा समुद्रवेला = (यह समुद्र का ज्वारभाटा) रत्न० = रत्नानां द्युतिः तया रञ्जिता (रत्नों की कान्ति से रँगा हुआ) भाति (प्रतीत हो रहा है) । (४)

तद्—जल० = जलस्य प्रसरणम् तस्य मार्गात् (जल आने के रास्ते से) अपक्रम्य (हट कर) गिरि० = गिरेः सानुः तस्य समीपे यः मार्गः तेन (पहाड़ की चोटी के पासवाले मार्ग से) ।

मित्रावसो०—शरत्० = शरदः समयः तद्वत् पाण्डुभिः (शरत् ऋतु के जैसे सफेद सफेद) पयोदपटलैः = (बादलों के समूहों से) प्रावृताः (घिरी हुई) मलयसानवः (मलयाचल की चोटियाँ) प्रालेय० = प्रालेयं = हिमम् तस्य यः अचलः = पर्वतः अर्थात् हिमालयपर्वतः तस्य यानि शिखराणि तेषां श्रियम् (हिमालय पर्वत की चोटियों की सी शोभा को) । उद्वहन्ति (धारण करती हैं) ।

कुमार०—अस्थि० = अस्थ्नां संघाताः (हड्डियों के ढेर) संघातत्वम् (ढेर रूप में मौतें, सामूहिक मृत्युओं) । स्वपक्ष० = स्वपक्षयोः पवनेन अपास्तः समस्तः सागर-

नायकः—[सोद्वेगम्] कष्टं किं निमित्तममी संघातमृत्यवो जाताः।

मित्रावसुः—कुमार, नैवामी संघातमृत्यवः। श्रूयतां यथैतत्। इह किल स्वपक्षपवनापास्तसमस्तसागरतलपूरं रसातलादुद्धृत्य प्रतिदिनमेकैकं नागमाहारयति वैनतेयः।

नायकः—[सोद्वेगम्] कष्टमतिदुष्करं करोति। ततस्ततः।

मित्रावसुः—ततः सकलनागलोकविनाशशङ्किना नागराजेन वासुकिना गरुत्मानभिहितः।

नायकः—[सादरम्] किं मां प्रथमं भक्षयेति।

मित्रावसुः—नहि नहि।

नायकः—किमन्यत्।

मित्रावसुः—इदमभिहितम् गरुत्मन्। त्वदभिपातसन्त्रासात् सहस्रशः स्रवन्ति भुजङ्गमाङ्गनानां गर्भाः। शिशवश्च पञ्चत्वमुपयान्ति एवं च सन्ततिविच्छेदोऽस्माकम्। तव चैवं स्वार्थहानिः। तत् यदर्थमभिपतति भवान् नागलोकं तमिह नागमेकैकमनुदिनं प्रेषयामि।

नायकः—कष्टमेवं रक्षिता नागराजेन पन्नगाः।

जिह्वासहस्रद्वितयस्य मध्ये नैकापि सा तस्य किमस्ति जिह्वा।

तलस्य पूरः यस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा (क्रियावि०) (अपने पंखों की हवा से समुद्रतल के समस्त जल को हटाते हुए)। रसातलात् (पाताल से) आहारयति (आहार बनाता है, खाता है)।

ततः—सकल० = सकलश्चासौ नागलोकः तस्य यः विनाशः तं शङ्कते इति (उपपदतत्पु०) (सारे नागलोक के नष्ट हो जाने की शंका से)। गरुत्मान् (गरुड़)।

इदम्—त्वद्० = तव यः अभिपातः तस्मात् सन्त्रासात् (तुम्हारे आक्रमण के डर से) स्रवन्ति (गिर जाते हैं) सन्तति० = सन्ततीनां विच्छेदः (सन्तानों का नाश) अनुदिनम् (प्रतिदिन)।

जिह्वा०—तस्य जिह्वा० = जिह्वानां यत् सहस्रद्वितयम् = सहस्रद्वयम् तस्य (दो हजार जिह्वाओं के मध्ये बीच अर्थात् उनमें से) तस्य एका अपि जिह्वा न अस्ति किम् (क्या उसकी एक भी जिह्वा ऐसी नहीं निकली कि यया (जिससे) (सः)

एकाहिरक्षार्थमहिद्विषेऽद्य दत्तो मयात्मेति यथा ब्रवीति ॥ ५ ॥

मित्रावसुः—प्रतिपन्नं तत् पक्षिराजेन ।

इत्येष भोगिपतिना विहितव्यवस्थो
यान् भक्षयत्यहिपतीन् पतगाधिराजः ।
यास्यन्ति, यान्ति च, गताश्च दिनैर्विवृद्धिं,
तेषाममी तुहिनशैलरुचोऽस्थिकूटाः ॥ ६ ॥

नायकः—आश्चर्यम् ! ।

सर्वाऽशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः ।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते ! ॥ ७ ॥

ब्रवीति (वह) (बोले) कि । एकाहि० = एकस्य अहेः रक्षार्थम् (एक भी साँप की रक्षा के निमित्त) अहिद्विषे = अहीन् द्वेष्टि इति अहिद्विट् तस्मै (उपपदतत्पु०) (सर्पों के शत्रु—गरुड़—के लिए) अद्य आत्मा मया दत्तः (आज मैंने अपने आपको अर्पण कर दिया) । (५)

प्रति०—प्रतिपन्नम् (स्वीकार कर लिया) पक्षिराजेन = पक्षिणां राजा तेन (पक्षियों के राजे—गरुड़—ने) !

इत्येष—इति भोगि० = भोगाः = फणाः एषां सन्तीति भोगिनः भोग + इन् तेषाम् पतिः तेन (साँपों के स्वामी—वासुकि—द्वारा) विहित० = विहिता व्यवस्था यस्य सः (ब० व्री०) (जिसकी व्यवस्था की गई है, ऐसा) एष पक्षिराजः (यह गरुड़) यान् अहिपतीन् (जिन नागराजों को) भक्षयति (खाता है) तेषाम् अमी (उनके ये) तुहिन० = तुहिनस्य शैलः तस्य रुचिरिव रुचिर्येषां तथाभूताः (ब० व्री०) (हिमालय की सी कान्तिवाले, हिमालय—जैसे) अस्थि० = अस्थ्नाम् कूटाः (हड्डियों के ढेर) दिनैः वृद्धिं गताः यान्ति यास्यन्ति च (दिन—दिन बढ़ते गये, बढ़ते रहे हैं और बढ़ते रहेंगे । (६)

सर्वा०—सर्वाशुचि० = सर्वाणि यानि अशुचीनि (वस्तूनि) तेषां निधानस्य (सर्व अपवित्र (मूत्रविष्ठादि) वस्तुओं का घर, आश्रय) कृतघ्नस्य, विनाशिनः (कृतघ्नी और विनाशवान) शरीरकस्य = कुत्सितं शरीरम् शरीरकम् तस्य (कुत्सार्थे कप्रत्ययः) (गन्दे शरीर के) कृते (लिए) मूढाः पापं कुर्वन्ति (मूर्ख लोग पाप किया करते हैं) (७)

अहो! कष्टमनवसानेयं विपत्तिर्नागानाम्। [आत्मगतम्] अपि शक्नुयामहं स्वशरीरसमर्पणेन एकस्यापि नागस्य प्राणपरिरक्षां कर्तुम्!

[ततः प्रविशति प्रतीहारः।]

प्रती०—आरूढोऽस्मि गिरिशिखरं, यावन्मित्रावसुमन्विष्यामि। [परिक्रम्य] अयं मित्रावसुर्जामातुः समीपे तिष्ठति। [उपसृत्य] विजयेतां कुमारौ।

मित्रा०—सुनद! किंनिमित्तमिहागमनम्?

प्रतीहारः—[कर्णे कथयति।]

मित्रा०—कुमार! तातो मामाह्वयति।

नायकः—गम्यताम्।

मित्रा०—कुमारेणापि बहुप्रत्यवायेऽस्मिन् प्रदेशे न चिरं स्थातव्यम्। [इति निष्क्रान्तः।]

नायकः—यावदहमप्यस्माद्गिरिशिखरादवतीर्य समुद्रतटमवलोकयामि। [परिक्रामति।]

[नेपथ्ये] हा पुत्तअ संखचूड! कहं वावादिअमाणो अज्ज किल तुमं मए पेक्खिदव्वो? [हा पुत्रक शङ्खचूड! कथं व्यापाद्यमानोऽद्य किल त्वं मया प्रेक्षितव्यः?]

नायकः—[आकर्ण्य] अये! योषित इवार्त्तप्रलापः! केयम्? कुतो वाऽस्या भयमिति स्फुटीकरिष्ये। [परिक्रामति।]

अहो—कष्टम् (अव्यय) (दुःख की बात है) अनवसाना नास्ति अवसानं यस्याः सा (ब० व्री०) (न समाप्त होनेवाली)। अपि (क्या यह संभव है कि) स्वशरी०= स्वं शरीरम् तस्य समर्पणेन (अपने शरीर के बलिदान से) प्राण०=प्राणानां रक्षाम् (जीवनरक्षा को)।

कुमारेण—बहु०=बहवः प्रत्यवायाः यस्मिन् तथाभूते (ब० व्री०) (बहुत विघ्नोंवाले) अवतीर्य (उतर कर)

हा पुत्रक—अनुकम्प्यः पुत्रः पुत्रकः (अनुकम्पार्थे कन्) व्यापाद्यमानः= वि+आ+पद्+णिच्+कर्मणि शानच् (मारा जाता हुआ) योषितः इव (स्त्री का जैसा) आर्त्तप्र०=आर्त्तस्यासौ प्रलापः (दुःखभरा विलाप) स्फुटी०=अस्फुटं स्फुटं सम्पद्यमानं करिष्ये इति स्फुटीकरिष्ये (स्पष्ट करूंगा, पता लगाऊँगा)।

[ततः प्रविशति रुदत्या वृद्धयाऽनुगम्यमानः शङ्खचूडो गोपायितवस्त्रयुगलश्च किङ्करः ।]

वृद्धा—[सास्रम्] हा पुत्तत्र संखचूड ! कहं वावादिअमाणो अज्ज किल तुमं मए पेक्खिदव्वो ? [चिबुकं गृहीत्वा] इमिणा मुहचंदेण विरहिअं दाणीं अंधआरीभविस्सदि पाआलं । [[सास्रम्] हा पुत्रक शङ्खचूड ! कथं व्यापाद्यमानोऽद्य किल त्वं मया प्रेक्षितव्यः ? [चिबुकं गृहीत्वा] अनेन मुखचन्द्रेण विरहितमिदानीमन्धकारीभविष्यति पातालम् ।]

शङ्ख०—अम्ब ! किमिति वैक्लव्येन सुतरां न पीडयसि ?

वृद्धा—[निर्वर्ण्य पुत्रस्याङ्गानि स्पृशन्ती] हा पुत्त ! कहं दे अदिट्ठ-सूरकिरणं सुउमारं सरीरं णिग्घिणहिअओ गलुडो आहालइस्सदि ?। [हा पुत्र ! कथं ते अदृष्टसूर्य्यकिरणं सुकुमारं शरीरं निर्घृणहृदयो गरुड आहारयिष्यति ?] [कण्ठे गृहीत्वा रोदिति ।]

शङ्खचूडः—अम्ब ! अलं परिदेवितेन । पश्य—

क्रोडीकरोति प्रथमं यदा जातमनित्यता ।

ततः—अनुगम्यमानः = अनु + गम् + कर्मणि शानच् (पीछा किया जाता हुआ) गोपा० = गोपायितं वस्त्रयोः युगलं येन तथाभूतः (ब० व्री०) (दो वस्त्रों को छिपाए हुए) किङ्करः (नौकर) ।

हा पुत्रक—पुत्रक (अनुकम्पा अर्थ में कन्) दया के पात्र बच्चे ! मुख० = मुखम् एव चन्द्रः तेन (मुख-रूपी चाँद से) विरहितमिव (शून्य जैसा) अन्धकारी० (अन्धकारमय हो जायगा) । वैक्लव्येन = विक्लवस्य भावः तेन (विकलता से) अदृष्ट० = न दृष्टाः सूर्यस्य किरणाः येन तथाभूतम् (ब० व्री०) (जिसने सूर्य का प्रकाश तक नहीं देखा है—ऐसे) निर्घृण० = निर्गता घृणा यस्मात् तत् (ब० व्री०) निर्घृणं हृदयं यस्य सः (ब० व्री०) (जिसके हृदय से दया चली गई है, निर्दयी) । परिदेवितेन अलम् (रोने-धोने से क्या होता है) ।

क्रोडी०—यदा अनित्यता (नश्वरता) जातं (उत्पन्न हुए बालक को) प्रथमं क्रोडीकरोति (नाम धातु) (पहिले गोदी में ले लेती है) पश्चात् जननी धात्री इव (पीछे मां दाई की तरह ही गोदी में लेती है) तदा शोकस्य कः क्रमः ? (तो फिर शोक का कौन-सा अवसर है ?) भाव यह है कि जब प्राणी का जन्म होता है, तभी अनित्यता उसके पीछे लग जाती है, क्योंकि "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" इस

धात्रीव जननी पश्चात्तदा शोकस्य कः क्रमः ? ॥ ८ ॥

[गन्तुमिच्छति ।]

वृद्धा—पुत्तश्र ! चिट्ठ मुहुत्तश्रं, जाव दे वश्रणं पेक्खामि । [पुत्रक ! तिष्ठ मुहूर्तम्, यावत् ते वदनं प्रेक्षे ।]

किङ्करः—एहि कुमाल संखचूड ! किं ते पदाए भणंतीए ? पुत्तसिणेहमोहिदा क्खु एसा, ण जाणेदि लाश्रकज्जं । [एहि कुमार शङ्खचूड ! किं ते एतया भणन्त्या ? पुत्रस्नेहमोहिता खल्वेषा, न जानाति राजकार्यम् ।]

शङ्खचूडः—अयमागच्छामि ।

किङ्करः—[अग्रतोऽवलोक्य आत्मगतम्] आणीदो क्खु एसो मए वज्झसिलासमीवे । ता वज्झचिण्हं दाइस्सं । [आनीतः खल्वेष मया वध्यशिलासमीपे, तद् वध्यचिह्नं दास्यामि ।]

नायकः—इयमसौ योषित् । [शङ्खचूडं दृष्ट्वा] नूनमनेन अस्याः सुतेन भवितव्यम्; तत् किमाक्रन्दति ? [समन्तादवलोक्य] न खल्वस्या

गीतावाक्य के अनुसार 'जो जन्मेगा वह अवश्य मरेगा'। माता तो दाई की तरह बालक को पीछे ही गोद लेती है, पहिले तो अनित्यता ही उसे अपनी गोद दे देती है। (देखिए—भागवत "मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते। अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ॥")। (८)

एहि—पुत्र० =पुत्रस्य स्नेहः तेन विमोहिता (पुत्र के प्रति प्रेम होने के कारण मोह को प्राप्त हुई)। वध्य० =हन्तुं योग्यः वध्यः तत्सम्बन्धिनी शिला अथवा हन्यते अस्याम् इति वध्या (अधिकरणार्थे ण्यत्) शिला तस्याः समीपे (मारने की शिला के पास) वध्यचिह्नम् वध्यस्य चिह्नम् (मारे जाने वाले का चिह्न)। जिसको मारा जाता था, उस का विशेष चिह्न हुआ करता था। मृच्छकटिक नाटक में जब चारुदत्त को मारने के लिए ले जाया गया, तो उसके सारे शरीर पर 'लाल चन्दन का लेप' किया हुआ था। मालतीमाधव नाटक में भी जब मालती की बलि दी जाने वाली थी, तो वह "न्यस्तालक्तकरक्तमाल्यवसना" थी।

इयमसौ—आलापः प्रसक्तः एव (बातचीत आरम्भ ही हुई है) अभिव्यक्ति (अभिप्राय की स्पष्टता, रोने के रहस्य का भेद) विटपा० =विटपैः अन्तरितः (तृ० तत्पु०) (पेड़ की शाखाओं के पीछे छिपा हुआ)।

भयकारणं किञ्चित् पश्यामि, कुतोऽस्या भयमिति ? यावदुपसर्पामि। प्रसक्त एवायमेतेषामालापः, कदाचिदत एवास्याभिव्यक्तिर्भविष्यति। तद्विटपान्तरितस्तावच्छृणोमि । [तथा करोति ।]

किङ्करः—[साश्रं कृताञ्जलिः] कुमाल संखचूड ! एसो सामिणो आदेशो त्ति करिअ ईरिसं णिट्ठुरं मन्तीअदि । [कुमार शङ्खचूड ! एष स्वामिन आदेश इति कृत्वा ईदृशं निष्ठुरं मन्त्र्यते ।]

शङ्खचूडः—भद्र, कथय ।

किङ्करः—नागलाओ वासुई आणवेदि ।[नागराजो वासुकिराज्ञापयति।]

शङ्खचूडः—[शिरस्यञ्जलिं बद्ध्वा सादरम्] किमाज्ञापयति देवः ?

किङ्करः—'एदं लत्तंसुअजुअलं परिहिअ आलुह वज्झसिलं जेणलत्तंसुअं उवलक्खिअ गलुडो आहालइस्सदि'त्ति। [इदं रक्तांशुकयुगलं परिधाय आरोह वध्यशिलां, येन रक्तांशुकमुपलक्ष्य गरुड आहारयिष्यति ' इति ।]

नायकः—[श्रुत्वा] कथमसौ वासुकिना परित्यक्तः ?

किङ्करः—कुमाल ! गेण्ह एदं वसणजुअलं । [कुमार ! गृहाणैतद्वसनयुगलम् ।] [इत्यर्पयति ।]

शङ्खचूडः—[सादरम्] उपनय। [गृहीत्वा] शिरसि स्वाम्यादेशः।

वृद्धा—[पुत्रस्य हस्ते वाससी दृष्ट्वा सोरस्ताडम्] हा वच्छ ! एदं क्खु वज्जपाडसरिणभं संभावीअदि । [हा वत्स ! इदं खलु वज्रपातसन्निभं सम्भाव्यते ।] [मोहं गता ।]

सास्रम्—अस्रेण सहितं यथा स्यात् तथा (क्रियाविशे०) (आँसू बहाते हुए) निष्ठुरम् (क्रियावि०) (निर्दयता के साथ, कठोर) मन्त्र्यते (कहा जा रहा है)

इदम्—रक्ता० = रक्तयोः अंशुकयोः युगलम् (लालवस्त्रों की जोड़ी को) परिधाय (पहनकर) उपलक्ष्य (देखकर) आहारयिष्यति (खा जायगा)

उपनय—उपनय (लाओ, दो) शिरसि स्वाम्या० (प्रभु की आज्ञा शिरोधार्य है) वाससी (दो वस्त्र) सोरस्ताडम् (क्रियावि०) उरसः ताडः उरस्ताडः तेन सहितम् यथा स्यात् तथा (छाती पीटती हुई) वज्र० = वज्रस्य पातः तेन सन्निभम् (वज्र पड़ने की तरह, गाज जैसा) सम्भाव्यते (मालूम पड़ता है) मोहम् (मूर्छा को)

किङ्करः—आसण्णा गलुडस्स आगमणवेला, ता लहुँ गच्छामि। [आसन्ना गरुडस्याऽऽगमनवेला, तल्लघु गच्छामि।] [इति निष्क्रान्तः।]

शङ्खचूडः—अम्ब! समाश्वसिहि।

वृद्धा—[समाश्वस्य, सास्रं] हा पुत्तअ! हा मणोरहसदलद्ध! कहिं पुणा तुमं पेक्खिस्सं? [हा पुत्रक! हा मनोरथशतलब्ध! क्व पुनस्त्वां प्रेक्षिष्ये?] [कण्ठे गृह्णाति।]

नायकः—अहो नैर्घृण्यं गरुडस्य! अपि च—

मूढाया मुहुरश्रुसन्ततिमुचः कृत्वा प्रलापान् बहून्
कस्त्राता तव पुत्रकेति कृपणं दिक्षु क्षिपन्त्या दृशम्।
अङ्के मातुरवस्थितं शिशुमिमं त्यक्त्वा घृणामश्नतः
[1]चञ्चुर्नैव खगाधिपस्य हृदयं वज्रेण मन्ये कृतम् ॥ ९ ॥

शङ्खचूडः—[आत्मनोऽश्रूणि निवारयन्] अम्ब! किमतिवैक्लव्येन।

आसन्ना—आगम० = आगमनस्य वेला (आने का समय) लघु (शीघ्र) मनोरथ० = मनोरथानां शतं तेन लब्धा (सैकड़ों मनोरथों—आशाओं—से प्राप्त हुए!) अर्थात् तुम्हारे उत्पन्न होने पर मैं 'यह मेरा पुत्र यह करेगा, वह करेगा' इत्यादि आशायें बांधी हुई थीं। नैर्घृण्यम् = निर्घृणस्य भावः (निर्दयता)।

मूढायाः—मूढायाः (मूर्छा को प्राप्त हुई, शोक से विकल) मुहुः अश्रु० = अश्रूणां सन्ततिं मुञ्चतीति तस्याः (उपपदतत्पु०) (बार-बार आँसू बहाती हुई) बहून् प्रलापान् कृत्वा (बहुत विलाप करके) 'पुत्रक, का तव त्राता' इति ('दया के पात्र मेरे बच्चे, कौन तेरा रक्षक है'—इस तरह, दिक्षु दृशं करुणं क्षिपन्त्याः (चारों तरफ करुणापूर्वक आँखों को दौड़ाती हुई, चारों ओर दीन दृष्टि डालती हुई) मातुः अङ्के अवस्थितम् (माता की गोद में बैठे हुए) इमं शिशुम् (इस बालक को) घृणां त्यक्त्वा अश्नतः (दया को छोड़कर खाते हुए) खगा० = अधिकं पातीति अधिपः खगानाम् अधिपः तस्य (पक्षिराज—गरुड़—की) चञ्चुः एव न (चोंच ही नहीं) (प्रत्युत) हृदयम् (अपि) वज्रेण कृतं मन्ये (हृदय भी वज्र से बना हुआ समझता हूँ) (९)

[1] १ घ्नतः। २ चञ्चुर्वज्रेण।

यैरत्यन्तदयापरैर्न विहिता वन्ध्याऽर्थिनां प्रार्थना,
यैः कारुण्यपरिग्रहान्न गणितः स्वार्थः परार्थं प्रति।
ये नित्यं परदुःखदुःखितधियस्ते साधवोऽस्तं गता
मातः! संहर वाष्पवेगमधुना कस्याग्रतो रुद्यते? ॥ १० ॥

ननु समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

वृद्धा—[सास्रम्] कहं समस्ससिस्सं? किं एक्कपुत्तओ त्ति कदुअ साणुकंपेण णाअराएण पेसिदोसि? हा! कहं अविच्छिण्णे जीअलोए मम पुत्तओ सुमरिदो? सव्वधा अहं म्हि मंदभग्गा। [कथं समाश्वसिष्यामि? किमेकपुत्रक इति कृत्वा सानुकम्पेन नागराजेन प्रेषितोऽसि? हा! कथमविच्छिन्ने जीवलोके मम पुत्रकः स्मृतः? सर्वथाऽहमस्मि मन्दभाग्या।] [मूर्च्छति।]

नायकः—[सकरुणम्]

आर्त्तं कण्ठगतप्राणं परित्यक्तं स्वबन्धुभिः।

यैः—अत्यन्त० =दया परं येषां ते (ब० व्री०) अत्यन्तं दयापराः इति अत्यन्त० (अत्यन्त दयालु) यैः (जिन पुरुषों ने) अर्थिनां प्रार्थना (प्रार्थियों की प्रार्थना) वन्ध्या न विहिता (बेकार नहीं की अर्थात् पूरी कर दी) कारुण्य०= करुणस्य भावः कारुण्यम् तस्य परिग्रहात् (करुणा—दया—स्वीकार करने के कारण) यैः परार्थं प्रति स्वार्थः न गणितः (जिन्होंने परोपकार के लिए स्वार्थ की परवाह नहीं की) ये नित्यं परदुःख० =परेषां दुःखानि तैः दुःखिता धीः येषां ते (जो दूसरों के दुःखों से मन में दुःखी होनेवाले हैं) ते साधवः अस्तं गताः (वे सज्जन लोग चल बसे) हे मातः! वाष्पवेगं संहर (हे माताजी! आँसुओं के वेग को रोको) अधुना कस्य अग्रतः रुद्यते (अब किसके आगे रो रही हो?) (१०)

कथम्—सानुक०—अनुकम्पया सह वर्तमानः तेन (ब० व्री०) (दयालु, कृपालु) अविच्छिन्ने (न मारे जाने पर, जीवित रहते) जीवलोके=जीवानां लोकः तस्मिन् (सति सप्तमी) (प्राणिलोक—संसार—के) मूर्च्छति (मूर्छित हो जाती है)।

आर्त्तम्—आर्त्तम् (दुःखित) कण्ठ० =कण्ठं गताः प्राणाः यस्य सः तम् (ब० व्री०) (जिसके प्राण कण्ठ में आये हुए हैं, मरणासन्न) स्वबन्धुभिः परित्यक्तम्

त्राये नैनं यदि ततः कः शरीरेण मे गुणः ॥ ११ ॥

तद्यावदुपसर्पामि ।

शङ्खचूडः—अम्ब ! संस्तम्भयाऽऽत्मानम् ।

वृद्धा—हा पुत्तअ ! जदा णाअलोअपरिरक्खएण वासुइणा परिच्चत्तोसि, तदा को दे अवरो परित्ताणं करिस्सदि ? । [हा पुत्रक ! यदा नागलोकपरिरक्षकेण वासुकिना परित्यक्तोऽसि, तदा कस्तेऽपरः परित्राणं करिष्यति ?]

नायकः—[उपसृत्य] नन्वहम् ।

वृद्धा—[नायकं दृष्ट्वा ससम्भ्रममुत्तरीयेण पुत्रकमाच्छाद्य नायकमुपसृत्य जानुभ्यां स्थित्वा] विणदाणंदण ! वावादेहि मं । अहं दे णाअराएण आहारणिमित्तं परिकप्पिदा । [विनतानन्दन ! व्यापादय माम् । अहं ते नागराजेनाहारनिमित्तं परिकल्पिता ।]

नायकः—[सास्रम्] अहो पुत्रवात्सल्यम् ।

(अपने बन्धु-बान्धवों द्वारा छोड़े गये) एनं यदि न त्राये (इसे यदि नहीं बचाता हूँ) ततः मे शरीरेण कः गुणः ? (तो मेरे शरीर से क्या लाभ) ? (११)

अम्ब—संस्तम्भय (रोको, (अपने आपको) दृढ़ बनाओ) नागा० = नागानां लोकः तस्य परितः रक्षकेण (नागलोक के रक्षक) परित्राणम् (रक्षा)

ससंभ्रमम्—(घबराहट के साथ) विनता० = विनतायाः नन्दन (विनता के पुत्र ! गरुड़ जी !) व्यापादय (मारो) आहारनिमित्तं परिकल्पिता (भोजन के लिए निश्चित, भोजन बनाई गयी हूँ) वृद्धा को सामने से आते हुए नायक पर गरुड़ का भ्रम हो गया कि यह मेरे लड़के को खाने आ गया है, इसलिए उसने पुत्र को तो छिपा दिया और अपने आपको भोजनार्थ अर्पण कर दिया कि मैं ही आपके भोजनार्थ भेजी गई हूँ ।

अहो—पुत्र० = वत्से कामः अस्य अस्तीति वत्सलः (वत्स + लच्) वत्सलस्य भावः वात्सल्यम् पुत्रे वात्सल्यम् पुत्र० (स० तत्पु०) (पुत्र के प्रति प्रेम) ।

अस्या विलोक्य मन्ये पुत्रस्नेहेन विक्लवत्वमिदम् ।
अकरुणहृदयः करुणां कुर्वीत भुजङ्गशत्रुरपि ॥ १२ ॥

शङ्ख०—अम्ब ! अलं त्रासेन ? न नागशत्रुः । पश्य—

महाहिमस्तिष्कविभेदमुक्तरक्तच्छटाचर्चितचण्डचञ्चुः ।
क्वासौ गरुत्मान् ? क्व च नाम सौम्यस्वभावरूपाकृतिरेष
साधुः ? ॥ १३ ॥

वृद्धा—अहं क्खु तुज्झ मरणभीआ सव्वं जेव्व लोअं गलुडमअं पेक्खामि । [अहं खलु तव मरणभीता सर्वमेव लोकं गरुडमयं पश्यामि ।]

अस्याः—पुत्र० =पुत्रे स्नेहः तेन (पुत्र के प्रति प्रेम होने के कारण) अस्याः इदं विक्लवत्वं विलोक्य (इस वृद्धा की विकलता को देख करके) अकरुण० =न विद्यते करुणा यस्य तत् इति अकरुणम् (ब० ब्री०) अकरुणं हृदयं यस्य तथाभूतः (ब० ब्री०) (निर्दय हृदय वाला) भुजङ्ग० =भुजङ्गानां शत्रुः (सपों का शत्रु-गरुड़ -भी) करुणां कुर्वीत (दया कर दे) (इति) मन्ये (ऐसा मेरा विचार है) । (१२)

महाहि०—महा० =महान्तः ये अहयः तेषां यानि मस्तिष्काणि तेषां विभेदेन मुक्ताः या रक्तस्य च्छटाः ताभिः चर्चिता चण्डा च चञ्चुः यस्य तथाभूतः (ब० ब्री०) (बड़े-बड़े सपों के मस्तकों के भेदन से निकलती हुई खून की धाराओं से लथपथ भीषण चोंचवाला) असौ गरुत्मान् क्व (यह गरुड़ कहाँ और) सौम्य० =स्वभावश्च आकृतिश्च इति स्वभावाकृती (द्वन्द्व) सौम्ये (सोमवत् =चन्द्रवत् इति सौम्ये) स्वभा० यस्य सः (ब० ब्री०) (सुन्दर स्वभाव रूप और चेहरे वाला) एषः साधुः नाम क्व च (यह सज्जन पुरुष कहाँ !) अर्थात् इस सज्जन में और गरुड़ में बड़ा भेद है; वह भीषण आकार और स्वभाव का और यह मधुर और सुन्दर स्वभाव का, इसलिए इसे गरुड़ मत समझो । (१३)

अहं खलु—गरुडः एव गरुडमयः तम् गरुड+मयट् स्वरूपार्थे (गरुड़-रूप, गरुड़ ही गरुड़) मा भैषीः (मत डरो) 'मा' के साथ लोट् के स्थान में लुङ् और अडभाव । त्वत्सुत० =तव सुतः त्वत्सुतः तस्य संरक्षणाय इति त्वत्सु० (तुम्हारे पुत्र की रक्षा के लिए) कर्मणा एव सम्पादयामि (क्रियात्मक रूप में करता हूँ अर्थात् बोलकर क्या, करके ही दिखाता हूँ) ।

१ करिष्यति ।

नायकः—अम्ब ! मा भैषीः । नन्वयमहं विद्याधरस्त्वत्सुतसंरक्षणार्थमेवायातः ।

वृद्धा—[सहर्षं] पुत्तअ ! पुणो पुणो एव्वं भण । [पुत्रक ! पुनः पुनरेवं भण ।]

नायकः—अम्ब ! किं पुनःपुनरभिहितेन ? ननु कर्मणैव सम्पादयामि ।

वृद्धा—[शिरस्यञ्जलिं बद्ध्वा] पुत्तअ ! चिरं जीअ । [पुत्रक ! चिरं जीव ।]

नायकः—

ममैतदम्बार्पय वध्यचिह्नं प्रावृत्य यावद्विनताऽऽत्मजाय ।
पुत्रस्य ते जीवितरक्षणाय स्वदेहमाहारयितुं ददामि ॥ १४ ॥

वृद्धा—[कर्णौ पिधाय] पडिहदं अमंगलं । तुमं पि संखचूडणिव्विसेसो पुत्तो । अहवा संखचूडादो वि अहिअअरो, जो एव्वं बंधुजणपरिच्चत्तं वि पुत्तअं मे सरीरपदाणेण रक्खिदुमिच्छसि । [प्रतिहतममङ्गलम् । त्वमपि शङ्खचूडनिर्विशेषः पुत्रः, अथवा शङ्खचूडादप्यधिकतरः, य एवं बन्धुजनपरित्यक्तमपि पुत्रकं मे शरीरप्रदानेन रक्षितुमिच्छसि ।]

मम—अम्ब, एतत् वध्यचिह्नं मम अर्पय (माताजी ! मारे जानेवाले का चिह्न अर्थात् ये दो लाल कपड़े मुझे दे दो) प्रावृत्य ((इनसे अपने को) ढक कर) ते पुत्रस्य जीवितरक्षणाय (तुम्हारे पुत्र के प्राणों को बचाने के लिए) विनतात्मजाय (विनता के पुत्र—गरुड़—के लिए) आहारयितुम् (खाने को) स्वदेहं यावत् ददामि (अपना शरीर दे दूँ) । (१४)

कर्णौ—पिधाय (बन्द करके) प्रतिहतम् अमङ्गलम् (अमंगल—बुरी बात—नष्ट होवे) अर्थात् ऐसी अमंगलमय बात मत कहो । शङ्ख०=न विद्यते विशेषः=भेदः यस्य सः निर्विशेषः=सदृशः शङ्खचूडेन निर्विशेषः (तृ० तत्पु०) (शङ्खचूड जैसा) अधिकतरः (और भी अधिक) बन्धु०=बन्धुजनेन परित्यक्तम् (बन्धु-बान्धवों से छोड़े गये) ।

शङ्ख०—अहो !! जगद्विपरीतमस्य महासत्त्वस्य चरितम् । कुतः?—

विश्वामित्रः श्वमांसं श्वपच इव पुराऽभक्षयद्यन्निमित्तं,
नाडीजङ्घो निजघ्ने कृततदुपकृतिर्यत्कृते गौतमेन ।
पुत्रोऽयं काश्यपस्य प्रतिदिनमुरगानत्ति तार्क्ष्यो यदर्थं,

अहो—जगत्० = जगतः विपरीतम् (संसार के विपरीत) महा० = महत् सत्त्वं= स्वभावो यस्य सः तस्य (उदात्त स्वभाववाले, महात्मा का)

विश्वा०—यन्निमित्तम् (जिनके लिए) पुरा (प्राचीन काल में) विश्वामित्रः (इस नाम का एक मुनि) श्वपच इव श्वानम् = श्वमांसम् पचतीति श्वपचः (चाण्डाल की तरह श्वमांसम् = शुनः मांसम् (ष० त०) (कुत्ते का मांस) अभक्षयत् (खा गया था) । महाभारत में कथा आती है कि एक बार घोर दुर्भिक्ष के समय विश्वामित्र ऋषि को जब खाने को कुछ नहीं मिला, तो रात को वे एक चाण्डाल के घर घुस गए । घरवाले सब नींद में सो रहे थे । विश्वामित्र चुपके चुपके भीतर गए और एक हाँडी उठा ली, जिसमें पका हुआ कुत्ते का मांस रखा था । शब्द सुनकर चाण्डाल जाग गया, तो ऋषि को चोरी करते पाया । उसने उन्हें बहुत समझाया कि ऋषि होकर ऐसा पाप क्यों करते हो, किन्तु पेट की आग के सामने अनसुनी करके विश्वामित्र प्राणरक्षणार्थं कुत्ते का मांस खा ही गये । देखिये मनुस्मृति १०।१०८ —"क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागात् विश्वामित्रः श्वजाघनीम्" । यत्कृते = येषां कृते (अव्यय) (जिनके लिए) गौतमेन (इस नामवाले ब्राह्मण ने) कृत० = कृता तस्य उपकृतिः येन सः (ब० ब्री०) (जिसने उसका उपकार किया था—उसी) नाडीजङ्घः (इस नाम वाले बगुलों के राजा को) निजघ्ने (मार डाला था) । महाभारत में ही एक और कथा आती है कि गौतम नाम का एक बड़ा ब्राह्मण था । वह इधर-उधर घूमते-फिरते एक समय बकराज नाडीजङ्घ के पास आया । नाडीजङ्घ ने उसकी बुरी हालत देखकर विरूपाक्ष नाम के किसी दानी राक्षस के पास भेज दिया कि वहां उसे कुछ मिल जायगा । विरूपाक्ष ने सचमुच गौतम को बहुत सा धन दे दिया । धन लेकर ब्राह्मण जब वापस आया तो नाडीजङ्घ के पास ठहरा । ब्राह्मण बड़ा भूखा था! उसने क्या किया कि रात को जब नाडीजङ्घ सो गया, तो उसे ही मार कर खा गया! भूखे ब्राह्मण को अपने प्राण जो बचाने थे ! पीछे विरूपाक्ष को मालूम होनेपर

प्राणांस्तानेष साधुस्तृणमिव कृपया यः परार्थं ददाति ॥१५॥

[नायकमुद्दिश्य] भो महासत्त्व। त्वया दर्शितैवाऽऽत्मप्रदानव्यवसायात् निर्व्याजा मयि दयालुता। तदलं निर्बन्धेन। पश्य—

जायन्ते च म्रियन्ते च मादृशा क्षुद्रजन्तवः।
परार्थे बद्धकक्षाणां त्वादृशामुद्भवः कुतः? ॥ १६ ॥

तत् किमनेन निर्बन्धेन? मुच्यतामयमध्यवसायः।

नायकः—शङ्खचूड! न मे चिरात्लब्धावसरस्य परार्थसम्पादनमनोरथस्यान्तरायं कर्त्तुमर्हसि। तदलं विकल्पेन। दीयतामेतद् वध्यचिह्नम्।

शङ्खः—भो महासत्त्व! किमनेन वृथाऽऽत्मायासेन? न खलु शङ्खधवलं शङ्खपालकुलं शङ्खचूडो मलिनीकरिष्यति। यदि ते वयम-

उसने कृतघ्नी गौतम ब्राह्मण को मार दिया! यदर्थम् (जिनके लिए) कश्यपस्य पुत्रः अयं तार्क्ष्यः (कश्यप का पुत्र यह गरुड़) प्रतिदिनम् उरगान् अत्ति (नित्य प्रति सर्पों को खाता है) तान् एव प्राणान् (उन्हीं प्राणों को) कृपया (दया के कारण) परार्थम् (दूसरे के लिए) तृणम् इव यः जहाति (तृण की तरह जो दे रहा है) चित्रम् (अचम्भे की बात है)। (१५)

त्वया—आत्म० = आत्मनः प्रदानम् तस्य व्यवसायः तस्मात् (अपने आपको दे डालने के निश्चय के कारण) निर्व्याजा = निर्गतः व्याजः = यस्याः तथाभूता (ब० व्री०) (निष्कपट, सच्ची) कृपालुता = कृपा अस्यास्तीति कृपालुः तस्य भावः कृपा + आलुच् + तल् (दयालुता) निर्बन्धेन (आग्रह—हठ—से (बस करो)।

जायन्ते—मादृशाः अहम् इव पश्यन्ति इति मादृशाः (मेरे—जैसे) क्षुद्र० = क्षुद्राश्च ते जन्तवः (क्षुद्र जीव) जायन्ते म्रियन्ते च (जन्मते हैं और मरते हैं) परार्थे बद्ध० = बद्धः कक्षः यैस्तथाभूतानाम् (ब० व्री०) (दूसरों के प्रयोजन के लिए कमर कसे हुए—तय्यार—) त्वादृशाम् उद्भवः कुतः (तुम—जैसों का जन्म कहाँ होता है?) अर्थात् तुम—जैसे दुर्लभ जन्मवालों का इस तरह प्राण दे देना ठीक नहीं। (१६)

तत्०—मुच्यताम् = √मुच् कर्मवाच्ये लोट् (छोड़ दो) अध्यवसायः (निश्चय)

१ दत्तदेहानां

नुकम्पनीयाः, तदियमस्मद्विपत्तिविक्लवा न यथा जीवितं जह्यात्, तथाऽभ्युपायश्चिन्त्यताम्।

नायकः—किमत्र चिन्त्यते? चिन्तित एवाभ्युपायः। स तु त्वदायत्तः।

शङ्खचूडः—कथमिव।

नायकः—

म्रियते म्रियमाणे या त्वयि जीवति जीवति।
तां यदीच्छसि जीवन्तीं रक्षात्मानं ममासुभिः ॥ १७॥

चिरात्०=चिरात् लब्धः अवसरो येन तथाभूतस्य (ब० ब्री०) (जिसे बहुत समय के बाद अवसर मिला है—उसका) परार्थ०=परेषाम् अर्थः तस्य सम्पादना=अनुष्ठानम् एव मनोरथो यस्य तथाभूतस्य (ब० ब्री०) (दूसरों का मतलब बनाने की अभिलाषा रखने वाले) अन्तरायम्=अन्तर्=मध्ये+आ एति (बीच में आ पड़ने वाला अर्थात् विघ्न) न कर्तुम् अर्हसि (नहीं डालना चाहिए) अलं विकल्पेन (सन्देह से बस करो अर्थात् द्विविधा में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं)।

भो—आत्मा०=आत्मनः आयासः तेन (अपने को कष्ट देने से) शङ्ख०-शङ्खवत् धवलम् (शङ्ख की तरह सफेद) शङ्खपाल०=शङ्खपाल नाम वाले नाग के वंश को) नागों में आठ मुख्य माने जाते हैं, जैसे—"अनन्तं वासुकिं शेषं पद्मनाभं च कम्बलम्। धृतराष्ट्रं शङ्खपालं तक्षकं कालियं तथा।" मलिनी०=अमलिनं मलिनं सम्पद्यमानं करिष्यसि इति मलिनी० मलिन+च्वि+कृ+लृट् (मैला बनायेगा, कलंकित करेगा)। ते वयम् अनुकम्पनीयाः (तुम्हारी हम पर अनुकम्पा-कृपा—हो तो) अस्मत्०=मम या विपत्तिः तया विक्लवा (मुझ पर पड़ी (मृत्युरूपी) मुसीबत से विकल हुई) अभ्युपायः (उपाय)।

किमत्र—त्वदायत्तः=त्वयि आयत्तः (स० तत्पु०) (तुझ पर अवलम्बित है)

म्रियते—त्वयि म्रियमाणे=√मृ+शानच् (तुम्हारे मरने पर) या म्रियते (जो मरती है, अर्थात् मर जायगी) त्वयि जीवति या जीवति (तुम्हारे जीने पर जो जी जायगी) ताम् जीवन्तीम् यदि इच्छसि (उसको जीती यदि चाहते हो तो) मम असुभिः आत्मानं रक्ष (मेरे प्राणों से अपने को बचाओ) । (१७)

—अयमभ्युपायः । तदर्पय त्वरितं वध्यचिह्नं यावदनेनाऽऽत्मानं प्रच्छाद्य वध्यशिलामारोहामि । त्वमपि जननीं पुरस्कृत्याऽस्माद्देशान्निवर्तस्व । कदाचिदस्याऽवलोक्य सन्निकृष्टं घातस्थानं स्त्रीस्वभावकातरत्वेन जीवितं जह्यात् । किं न पश्यति भवानिदं विपन्नपन्नगाऽनेककङ्कालसङ्कुलं महाश्मशानम् ? । तथाहि—

चञ्चच्चञ्चूद्धृतार्द्धच्युतपिशितलवग्राससंवृद्धगर्द्धै-
र्गृद्धैरारब्धपक्षद्वितयविधुतिभिर्बद्धसान्द्रान्धकारे ।
वक्त्रोद्वान्ताः पतन्त्यश्छमिति [1]शिखिशिखाश्रेणयोऽस्मिन् शिवाना-

अयमभ्यु०—प्रच्छाद्य (ढक कर) पुरस्कृत्य (आगे-आगे करके) सन्निकृष्ट (समीपस्थ, पास वाले) घात० = घातस्य स्थानम् (ष० त०) (वध-स्थान को) स्त्री० = स्त्रियाः स्वभावः स्त्रीस्वभावः तस्य कातरत्वेन = कातरभावेन (स्त्रीस्वभाव के भीरु होने से) विपन्न० = विपन्नाः ये पन्नगाः तेषाम् अनेके ये कङ्कालाः तैः सङ्कुलम् (मरे हुए सर्पों के अनेकों कंकालों—अस्थिपञ्जरों—से भरे हुए) महाश्मशानम् (बड़े भारी मरघट को) ।

चञ्चत्०—चञ्चत्...गर्द्धैः = चञ्चन्ती = इतस्ततः परिभ्रमन्ती या चञ्चुः तया उद्धृतः अथ च अर्धच्युतः = अर्धमार्गे च्युतः इति अर्ध० (मध्यमपदलोपी समास) अथवा अर्धात् = अर्धांशात् च्युतः (प० तत्पु०) यः पिशितस्य = मांसस्य लवः = खण्डः तस्य ग्रासे = भक्षणे संवृद्धः गर्द्धः येषां तथाभूतैः (ब० व्री०) (इधर-उधर घूमती—फड़कती—हुई चोंच से उठाए तथा बीच मार्ग में ही गिरे हुए (अथवा आधे भागमें से गिरे हुए) मांस के टुकड़े को पकड़ कर खाने के लिए बढ़े हुए लोभ वाले) आरब्ध...ततिभिः = आरब्धाः पक्षयोः द्वितयस्य विधुतयः यैः तादृशैः (ब० व्री०) (अपने दोनों पक्षों—पंखों—को फड़फड़ाते हुए) गृध्रैः (गीधों से) बद्ध० = बद्धः = कृतः सान्द्रः अन्धकारः यस्मिन् तथाभूते (ब० व्री०) (जहाँ घना अन्धकार किया गया है—ऐसे) अस्मिन् (इस श्मशान में) शिवानाम् (शृगालियों के) वक्त्रो० = वक्त्रेभ्यः उद्वान्ताः (मुखों से बाहर निकली) पतन्त्यः (गिरती हुई) शिखि० = शिखिनः शिखानां श्रेणयः (आग की लपटों के समूह) । शृगालों को

१ शमित०

मस्त्रस्रोतस्यजस्रस्रुतबहलवसावासविस्रे स्वनन्ति ॥ १८॥

शङ्ख:०—कथं न पश्यामि ?—

प्रतिदिनमशून्यमहिनाऽऽहारेण विनायकाऽऽहितप्रीति ।
शशिधवलाऽस्थिकपालं वपुरिव रौद्रं श्मशानमिदम् ॥ १९॥

'उल्कामुखाः' कहते हैं, क्योंकि उनके मुख से आग की लपट (शिखिशिखा) निकला करती है। अजस्र० = अजस्रम् = निरन्तरम् स्रुता या बहला वसा तया वासः तेन विस्रः = दुर्गन्धिः तेन (निरन्तर टपकती हुई बहुत सी चर्बी के संसर्ग से दुर्गन्धवाली) अस्र० = अस्र० = अस्रस्य स्रोतः तस्मिन् (खून की धार में) छिम् इति स्वनन्ति (छिम्–छिम्–छिम् शब्द कर रहे हैं)। अर्थात् खून में जब शृगालों के मुंह से निकलती हुई आग की ज्वाला पड़ती है, तो बुझती हुई वह छिम्–छिम् कर रही है। यह श्लोक बीभत्स रस का उदाहरण है। (१८)

प्रतिदिनम्—प्रतिदिनम् (नित्यप्रति) (१) आहारेण अहिना (आहार-रूप अर्थात् खाद्य बने हुए साँप से) अशून्य (जो शून्य नहीं है अर्थात् मरा हुआ) (२) महादेव के पक्ष में—हारेण अहिना अशून्य (हार बने हुए साँप से युक्त) विनायक० = (१) वीनाम् = पक्षिणाम् नायकः (गरुडः) तस्य आहिता = कृता प्रीतिः = सन्तोषः येन तथाभूतः (पक्षिराज–गरुड–को सन्तोष देनेवाला) (२) महादेव के पक्ष में—विनायक–गणेश–को आनन्द देनेवाला) शशि० = (१) शशिवत् धवलानि अस्थीनि कपालानि च यस्मिन् तथाभूतः (चाँद जैसी सफेद हड्डियां और खोपड़ियां वाला) (२) महादेव के पक्ष में—(शशिना धवलानि अस्थिरूपाणि कपालानि यत्र अथवा शशी च धवलास्थिकपालानि च यत्र (चन्द्रकला (के प्रकाश) से सफेद बनी हुई हैं खोपड़ियों की हड्डियां जिसमें अथवा चन्द्रकला तथा सफेद खोपड़ियों की हड्डियों को धारण करनेवाला) इदम् श्मशानम् (यह श्मशान-मरघट—)-श्मशान शब्द की व्युत्पत्ति निरुक्तकार यास्क ने—"श्म—शयनम्, श्म—शरीरम्" इस तरह की है अर्थात् वह स्थान जहाँ मुर्दे शरीर पड़े रहते हैं। रौद्रम् = रुद्रस्य इदं रुद्रम् (महादेव का) वपुः इव (शरीर जैसा प्रतीत हो रहा है)। इस श्लोक में कवि ने श्मशान की महादेव के शरीर से समता बतलाई है जो केवल शाब्दिक ही है, क्योंकि शब्द ही ऐसे चुने गये हैं, जो श्मशान और महादेव शरीर—दोनों तरफ लग जाते हैं। (१९)

नायकः—शङ्खचूड ! तद्गच्छ, किमेभिः सामोपन्यासैः ?

शङ्खचूडः—आसन्नः खलु गरुडस्याऽऽगमनसमयः। [मातुरग्रतो जानुभ्यां स्थित्वा] अम्ब ! त्वमपि निवर्त्तस्वेदानीम्।

समुत्पत्स्यामहे मातर्यस्यां यस्यां गतौ वयम्।
तस्यां तस्यां प्रियसुते ! माता भूयास्त्वमेव नः ॥२०॥

[पादयोः पतति।]

वृद्धा—[सास्रं] कहं पच्छिमं से वअणं ? । पुत्तअ ! ण क्खु तुमं उज्झिअ मे पाआ अण्णदो वहंति। इह ज्जेव्व तुए सह चिट्ठिसं। [कथमस्य पश्चिमं वचनम् ? । पुत्रक ! न खलु त्वामुज्झित्वा मे पादावन्यतो वहतस्तदिहैव त्वया सह स्थास्यामि।]

शङ्ख०—[उत्थाय] यावदहमप्यदूरे भगवन्तं दक्षिणगोकर्णं प्रदक्षिणीकृत्य स्वाम्यादेशमनुतिष्ठामि।

[उभौ निष्क्रान्तौ।]

शङ्ख०—सामो० = साम्नः उपन्यासाः तैः (समझाने-बुझाने की बातों से)।

समुत्प०—हे मातः, यस्यां यस्यां गतौ वयं समुत्पत्स्यामहे (हे माताजी, जिस-जिस योनि में (मरने के बाद) मैं जन्म ग्रहण करूँ) तस्यां तस्यां (उस उस में) हे प्रियसुते != प्रियः सुतः (न तु स्वजीवितम्) यस्याः सा तत्सम्बोधने (पुत्र को ही एकमात्र प्रिय समझने वाली)। त्वम् एव नः माता भूयाः (तुम ही मेरी माता बनो)। यहां बोलनेवाला एक होने से 'अस्मदो द्वयोश्च' इस सूत्र से बहुवचन हो गया है। (२०)

कथम्—पश्चिमम् (पीछे का, अन्तिम, आखरी) न अन्यतः वहतः (दूसरी ओर चलते ही नहीं।)

यावत्—अदूरे (पास में ही) दक्षिण-गोकर्णम् (दक्षिण के गोकर्ण महादेव को)। कारवार के समीप मालवार में समुद्रतट पर गोकर्ण महादेव का स्थान है; ये 'गोकर्णमहाबलेश्वर' नाम से प्रसिद्ध है। इन्हें 'दक्षिण' इसलिए कहा जाता है कि ये दक्षिण दिशा में है, उत्तर दिशा में गोकर्ण नेपाल में है। उन्हें उत्तर गोकर्ण कहते हैं। प्रदक्षिणीकृत्य (परिक्रमा करके) स्वाम्या० = स्वामिनः आदेशम् (स्वामी की आज्ञा को) अनुतिष्ठामि (करूँ)।

नायकः—कष्टम् । न सम्पन्नमभिलषितम् । तत् कोऽत्राभ्युपायः।

कञ्चुकी:—[तरसा प्रविश्य] इदं वासोयुगम् ।

नायकः—[दृष्ट्वा सहर्षमात्मगतम्] दिष्ट्या सिद्धमभिवाञ्छितमनेन अतर्कितोपनतेन रक्तांशुकयुगलेन ।

कञ्चुकी—इदं वासोयुगं देव्या मित्रावसुजनन्या कुमाराय प्रेषितम्; तदेतत् परिधत्तां कुमारः ।

नायकः—[सादरम्] उपनय ।

कञ्चुकी—[उपनयति ।]

नायकः—[गृहीत्वाऽऽत्मगतम्] सफलीभूतो मे मलयवत्याः पाणिग्रहः । [प्रकाशं] कञ्चुकिन् ! गम्यतां, मद्वचनादभिवादनीया देवी ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति कुमारः । [इति निष्क्रान्तः ।]

नायकः—

वासोयुगमिदं रक्तं प्राप्ते काले समागतम् ।
महतीं प्रीतिमाधत्ते परार्थे देहमुज्झतः ॥ २१ ॥

तरसा०—तरसा (जल्दी-जल्दी) वासो० =वाससोः युगम् (कपड़ों की जोड़ी, दो कपड़े) दिष्ट्या (सौभाग्य से) अभिवाञ्छितम् (मनोरथ) अतर्कि० =न तर्कितम् उपनतं च (जो सोचा तो न हो, किन्तु प्राप्त हो जाय, एकाएक प्राप्त हुए) रक्तां० = रक्तयोः अंशुकयोः युगलम् तेन (लाल कपड़ों की जोड़ी से) । श्मशान में कंचुकी का नायक को वस्त्र देना असंगत-सा प्रतीत होता है, किन्तु कथाविकास के लिए ही नाटककार को यह करना पड़ा है ।

सफली०—पाणिग्रहः (पाणिग्रहण, विवाह) मद्वचनात् (मेरी ओर से) अभिवादनीया (वन्दना कर देना) देवी (रानी, अर्थात् सास) ।

वासो०—प्राप्ते काले समागतम् (ठीक ही समय पर आये हुए) इदं रक्तं वासोयुगम् (ये दो लाल वस्त्र) परार्थे देहम् उज्झतः (दूसरे के लिए अपने शरीर को देते हुए) (मम) महतीम् प्रीतिम् आधत्ते (मुझे बहुत आनन्द देते हैं) । (२१)

[दिशोऽवलोक्य]। यथाऽयं चलितमलयाचलशिखरशिलासञ्चयः प्रचण्डो नभस्वान्, तथा तर्कयामि, आसन्नीभूतः खलु पक्षिराज इति। तथाहि—

तुल्याः संवर्त्तकाभ्रैः पिदधति गगनं पङ्क्तयः पक्षतीनां
तीरे वेगानिलोऽम्भः क्षिपति भुव इव प्लावनायाम्बुराशेः।
कुर्वन् कल्पान्तशङ्कां सपदि च समयं वीक्षितो दिग्द्विपेन्द्रै-

यथाऽयं—चलित० = चलिताः मलयाचलस्य शृङ्गाणां शिलानां सञ्चयाः येन तथाभूतः (ब० ब्री०) (जिससे मलय पर्वत की चोटियों की शिलाओं के ढेर उड़ रहे हैं ऐसा) प्रचण्डः नभस्वान् (तेज, वायु, तूफ़ान) तर्कयामि (अनुमान लगाता हूँ) आसन्नीभूतः (पास ही है, आ ही पहुँचा)।

तुल्याः—संवर्त्त० = संवर्त्तकाः यानि अभ्राणि तैः तुल्याः (संवर्त्तक मेघों के समान)। कल्प के अन्त में संसार के विनाश के लिए प्रलय के मेघ उमड़ते हैं, वे तीन प्रकार के होते हैं—संवर्त्तक, पुष्कर और आवर्त्तक। पक्षतीनाम् पङ्क्तयः (पक्षमूलों के समूह)। "पक्षतिस्तु भवेत् पक्षमूले च।" इति मेदिनी। अर्थात् फैलाये हुए पंख। गगनम् पिदधति (आकाश को ढक रहे हैं)। अपि + √धा + लट् 'अपि' के 'अ' का विकल्प से लोप हो जाया करता है, इसलिए 'अपिदधति' 'पिदधति'—दोनों रूप होते हैं। वेगानिलः वेगस्य अनिलः (वेग का वायु, ज़ोर से उड़ने की हवा) अम्बुराशेः अम्भः (समुद्र के जल को) भुवः प्लावनाय इव (पृथिवी को डुबाने के लिये मानो) तीरे क्षिपति (तीर पर फेंक रहा है) सपदि च (और शीघ्र ही) कल्पा० = कल्पस्य अन्तः तस्य शङ्काम् (कल्प की समाप्ति की शंका को) कुर्वन् (पैदा करता हुआ) गरुड के उड़ने के वेग से समुद्र का भीषण जल-प्रवाह ऐसा सन्देह पैदा करने लगा कि मानो कल्प समाप्त होने जा रहा हो। 'कल्प' ब्रह्मा के एक दिन और रात को कहते हैं, जो मनुष्यों के ४३२० लाख वर्ष होते हैं। कल्प के अन्त में प्रलय अर्थात् संसार का नाश हो जाने के बाद ब्रह्मा फिर कल्पादि में नयी सृष्टि बनाता है। दिग्० = दिशां द्विपेन्द्राः (द्विपानाम् इन्द्राः) तैः (दिग्गजों के द्वारा)। पौराणिक गाथानुसार आठ दिशाओं के आठ दिक्पाल होते हैं और वे हाथी होते हैं, जिन के नाम ऐरावत, पुण्डरीक

देहोद्योतो दशाऽऽशाः कपिशयति मुहुर्द्वादशादित्यदीप्तिः ॥२२॥

तद् यावदसौ नागच्छेत् शङ्खचूडः, तावत् त्वरिततरमिमां वध्यशिलामारोहामि । [तथा कृत्वा, उपविश्य स्पर्शं नाटयति ।] अहो स्पर्शोऽस्याः !—

न तथा सुखयति मन्ये[1] मलयवती मलयचन्दनरसाऽऽर्द्रा ।
अभिवाञ्छितार्थसिद्ध्यै वध्यशिलेयं यथाऽऽश्लिष्टा[2] ॥ २३ ॥

अथवा किं मलयवत्या ?

आदि हैं । सभयं वीक्षितः (भय के साथ देखा जाता हुआ) द्वादशा० = द्वादश ये आदित्याः तेषां दीप्तिः इव दीप्तिः यस्य सः (ब० ब्री०) (बारह आदित्यों की जैसी कान्ति वाला) । प्रलय-काल में संवर्त्तक—आदि बादल तथा ४९ वायुओं के साथ-साथ बारह सूर्य उदय कर संसार को भून डालते हैं । (देखिए वेणी संहार नाटक—"दग्धुं विश्वं दहनकिरणैर्नोदिताः द्वादशार्काः । वाता वाता दिशि दिशि नवा सप्तधा सप्त भिन्नाः । छन्नं मेघैर्न गगनतलं पुष्करावर्तकाद्यैः......" । देहो० = देहस्य उद्योतः (शरीर का प्रकाश) दशाशाः = दश च ताः आशाः (दशों दिशाओं को) कपिशयति कपिशं करोति इति कपिश० कपिश + णिच् + लट् (नाम धातु) (पीली-सी बना रहा है) । गरुड़ का आगमन प्रलय का सा दृश्य उपस्थित कर रहा है । (२२)

न तथा—मलय० = मलयस्य ये चन्दनाः = चन्दनवृक्षाः तेषां रसेन आर्द्रा (मलयाचल के चन्दनवृक्षों के रस से गीली हुई) मलयवती आश्लिष्टा (सती) (मलयवती आलिंगन की जाती हुई) तथा न सुखयति = सुखं करोतीति सुखयति सुख + णिच् + लट् (नामधातु) (वैसा आनन्द नहीं देती) यथा अभि० = अभिवाञ्छितस्य अर्थस्य सिध्यै (ष० त०) (जैसे अभिलषित (परप्राण-रक्षारूपी) प्रयोजन की सिद्धि के लिए) आश्लिष्टा इयं वध्य-शिला (आलिंगन की जाती हुई यह वध्य-शिला) । (इति) मन्ये ऐसा मेरा विचार है । (२३) जीमूतवाहन को वध्य-शिला पर लेटने से जो आनंद मिल रहा है, वैसा मलयवती के ठंडे ठंडे आलिंगन में भी नहीं था । (२३)

---

१ मनो । २ स्पृष्टा ।

शयितेन मातुरङ्के विस्रब्धं शैशवे न तत् प्राप्तम् ।
लब्धं सुखं मयाऽस्या वध्यशिलाया यदुत्सङ्गे ॥ २४ ॥

तदयमागतो गरुत्मान्, यावदात्मानमाच्छादयामि । [तथा करोति ।]

गरुडः—

क्षिप्त्वा[1] बिम्बं हिमांशोर्भयकृतवलयां संस्मरञ्छेषमूर्त्तिं,
सानन्दं स्यन्दनाश्वत्रसनविचलिते पूष्णि दृष्टोऽग्रजेन ।

शयितेन—शैशवे = शिशोः भावः शैशवम् तस्मिन् (बचपन में) मातुः अङ्के (माता की गोद में) विस्रब्धम् (अव्यय) (निश्शङ्क, बिना डर–भय के) शयितेन मया (सोते हुए मैंने) यत् सुखं न प्राप्तम् (जो सुख मैंने नहीं प्राप्त किया था) तत् सुखम् (वह सुख) अस्याः वध्यशिलायाः उत्सङ्गे प्राप्तम् (इस वध्यशिला की गोद में प्राप्त किया है ।) इस श्लोक में नायक माता की गोद से भी अधिक आनन्द परोपकारार्थ निज बलिदान के लिए वध्यशिला की गोद में लेटे हुए अनुभव कर रहा है । (२४)

क्षिप्त्वा—भय० = भयात् कृतं वलयं यया तथाभूतः (ब० व्री०) (डर के मारे मण्डल बनाए हुए अर्थात् घेरा मार कर बैठे हुए) शेष० = शेषस्य मूर्तिः ताम् (शेष नाग की मूर्ति को) संस्मरन् (याद करता हुआ) । गरुड़जी शेषशायी भगवान विष्णु की सेवा करके वैकुण्ठ लोक से भूतल पर आया करते थे । जब आने लगे तो उन्हें देख कर शेष डर के मारे सिकुड़ कर गोल बन गया कि कहीं मुझे न झपट लें । गरुड़जी शेष की उस हालत को मन में सोचते चले । हिमांशोः हिमवत् (शीतलाः) अंशवो यस्य सः तस्य (चन्द्रमा के) बिम्बम् (मण्डल को) क्षिप्त्वा ((एक तरफ) फेंक कर) अर्थात् अपने पंखों की हवा के वेग से अपने मार्ग से एक तरफ करके । पूष्णि (भगवान् सूर्य के) स्यन्दना० = स्यन्दनस्य ये अश्वाः तेषां त्रसनेन विचलिते (सति) (रथ के घोड़ों के डर जाने –झकोले जाने–अपने स्थान पर से खिसक जाने–पर) । चन्द्रलोक से गरुड़जी जब सूर्य-लोक में जाये तो उन्हें देख कर सूर्य के रथ के घोड़े डर के मारे बिदक गए जिससे रथारूढ सूर्य भगवान को भी अपने स्थान से जरा विचलित होना पड़ा । नाटककार ने चन्द्रमा से नीचे सूर्य को बताने में यहाँ गलती की है; वास्तव में पहिले

१ दृष्ट्वा

एष प्रान्तावसज्जज्जलधरपटलैरायतीभूतपक्षः[1]
प्राप्तो वेलामहीध्रं मलयमहमहिग्राससगृध्नुः क्षणेन ॥२५॥

नायकः—[सपरितोषम्]

संरक्षता पन्नगमद्य पुण्यं मयाऽर्जितं यत्स्वशरीरदानात्।
भवे भवे तेन ममैवमेवं भूयात् परार्थः खलु देहलाभः ॥२६॥

गरुडः—[नायकं निर्वर्ण्य]

सूर्य-लोक आता है और फिर उससे काफी दूरी पर नीचे चन्द्रलोक है, अथवा यहां क्रम विवक्षित न करके यह सामान्य उक्ति समझनी चाहिए अर्थात्—अपने मार्ग में सूर्य और चन्द्र दोनों को भयभीत करते हुए गरुड़ आए। अग्रजेन=अग्रे जायते इति अग्रजः तेन (अपने ज्येष्ठ भाई—अरुण—से) सानन्दं दृष्टः (आनंद के साथ देखा जाता हुआ)। भगवान सूर्य के रथ का सारथि अरुण गरुड़ का बड़ा भाई है; अतः अपने छोटे भाई से भेंट होने पर तथा उसका प्रताप देखकर अरुण का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही है। प्रान्ता०=प्रान्तेषु=अङ्गानां प्रान्त-भागेषु अवसज्जन्तः= सम्मिलन्तः ये जलधराः तेषां पटलैः (अंगों के किनारों को छूते हुए मेघों के समूहों से) आयती०=अनायतौ आयतौ सम्पद्यमानौ भूतौ पक्षौ यस्य सः (ब० व्री०) (लम्बे-लम्बे हुए पंखों वाला) अहि०=अहीनां ग्रासः तस्य गृध्नुः (सपों को खाने का लोभी) एषः अहम् (यह मैं) वेला०=महीं धरतीति महीध्रः वेलायाम्=समुद्रतीरे महीध्रः (समुद्रतीरवर्ती पर्वत) मलयम् क्षणेन प्राप्तः (मलय पर मैं शीघ्र ही पहुँच गया हूँ)(२५)

संरक्षता—स्वशरीर०=स्वस्य शरीरं तस्य दानात् (ष० त०) (अपने शरीर के दे डालने से) पन्नगं संरक्षता (साँप की रक्षा करते हुए) मया अद्य यत् पुण्यम् अर्जितम् (मैंने आज जो पुण्य कमाया है) तेन भवे भवे (उससे जन्म जन्म में) परोपकाराय एव (परोपकार के लिए ही) मम शरीर०=शरीरस्य लाभः (ष० तत्पु०) भूयात् (मुझे शरीर की प्राप्ति होवे)। बोधिसत्त्व जीमूतवाहन का अपना निर्वाण न चाह कर परोपकार के लिए पुनः पुनः चाहना स्वाभाविक ही है, क्योंकि स्वयं बुद्ध भगवान भी लोककल्याणार्थ पुनः पुनः जन्मग्रहण करते रहे हैं। (२६)

[1] पटलात्यायती०।

अस्मिन्वध्यशिलातले निपतितं शेषानहीन् रक्षितुं,
निर्भिद्याऽशनिदण्डचण्डतरया चञ्च्वाऽधुना वक्षसि।
भोक्तुं भोगिनमुद्धरामि तरसा रक्ताम्बरप्रावृतं
दिग्धं मद्भयदीर्य्यमाणहृदयप्रस्यन्दिनेवासृजा ॥ २७ ॥

[इत्यभिपत्य नायकं गृह्णाति। नेपथ्ये पुष्पाणि पतन्ति। दुन्दुभयश्च स्वनन्ति।]

गरुडः—[ऊर्ध्वं दृष्ट्वाऽऽकर्ण्य च] अये पुष्पवृष्टिर्दुन्दुभिध्वनिश्च। [सविस्मयम्] अये!

आमोदानन्दितालिर्निपतति किमियं पुष्पवृष्टिर्नभस्तः?
स्वर्गे किं वैष चक्रं मुखरयति दिशां दुन्दुभीनां निनादः?।

अस्मिन्—शेषान् अहीन् रक्षितुम् (बाकी सापों को बचाने के लिए) अस्मिन् वध्यशिलातले निपतितम् (इस वध्यशिलातल पर पड़े हुए) मद्भय० = मत्तः भयं मद्भयम् तेन दीर्यमाणं यत् हृदयं तस्मात् प्रस्यन्दते इति मद्भय० (उपपद-तत्पु०) (मेरी डर से फटे जाते हुए हृदय से बहते हुए) असृजा (खून से) दिग्धम् इव (भरे हुए मानो) रक्ता० = रक्तं च तत् अम्बरम् तेन प्रावृतम् (लाल वस्त्र से ढके हुए) भोगिनम् (साँप को)। लाल वस्त्र पहने सर्प यों प्रतीत हो रहा था मानो खाये जाने से पूर्व ही डर के कारण उसका हृदय फट गया हो और उसके खून से वह लथपथ हो रहा हो। अशनि० = अशनेः यः दण्डः तस्मात् अधिकं चण्डा तया (वज्र-दण्ड से भी अधिक भीषण) चञ्च्वा (चोंच से) वक्षसि निर्भिद्य (छाती फाड़कर) भोक्तुम् (खाने के लिए) तरसा (जोर से) अधुना उद्धरामि (अब उठाता हूँ)। (२७)

आमोद०—इयम् आमोद० = आमोदेन आनन्दिताः अलयः यया तथाभूता (ब० ब्री०) (जिसने सुगन्ध से भ्रमरों को आनन्दित कर दिया है—ऐसी) पुष्पवृष्टिः पुष्पाणां वृष्टिः (यह फूलों की वर्षा) नभस्तः (आकाश से) किं निपतति (क्यों पड़ रही है?) स्वर्गे एष दुन्दुभीनां निनादः (स्वर्ग में यह नगाड़ों का शब्द) दिशां चक्रम् (दिशाओं के समूह को) किं वा मुखरयति = मुखरं करोति (नामधातु) (क्यों

[विहस्य]

आं ज्ञातं ! सोऽपि मन्ये मम जवमरुता कम्पितः पारिजातः,
सर्वैः संवर्त्तकाभ्रैरिदमपि रसितं जातसंहारशङ्कैः ॥ २८ ॥

नायकः—[आत्मगतम्] दिष्ट्या कृतार्थोऽस्मि ।

गरुडः—[नायकं कलयन्]

नागानां रक्षिता भाति गुरुरेष यथा मम ।
तथा सर्पाशनाकाङ्क्षां व्यक्तमद्यापनेष्यति ॥ २९ ॥

गुँजा रहा है) आं ज्ञातम् (हां, जान लिया है) मम जव-मरुता = जवस्य मरुत् तेन (मेरे वेग के वायु से) सः पारिजातः अपि कम्पितः (वह पारिजात भी (केवल समुद्र ही नहीं) हिल उठा है) इदम् अपि (यह भी) जात० = जाता संहारस्य शङ्का येषां तैः (ब० व्री०) (जिन्हें प्रलयकाल की शंका हो गई है ऐसे) सर्वैः संवर्त्तकाभ्रैः (सब संवर्त्तक मेघों ने) रसितम् = √रस् + त (गर्जना की है)। (इति) मन्ये (समझता हूँ) देवताओं ने तो जीमूतवाहन की परोपकार के लिए प्राणों तक को दे देने की भावना के प्रति प्रशंसा रूप में पुष्पवृष्टि की और नगाड़े बजाए, किन्तु गरुड़ यह समझ रहे हैं कि यह मेरा ही वेग है जिससे कल्पवृक्ष तक हिल उठे और संवर्त्तकों को भ्रम हो गया है कि अब प्रलय-काल आ गया है। (२८)

नागानाम्—यथा एषः नागानां रक्षिता (जिस तरह यह सर्पों की रक्षा करने वाला (सर्प)) मम गुरुः भाति (मुझे भारी मालुम पड़ रहा है) तथा अद्य (उस तरह आज) सर्पाशन० = सर्पाणां भोजने या आकाङ्क्षा = इच्छा, तृष्णा, ताम् (सर्पों को खाने की चाह को) व्यक्तं (यथा स्यात् तथा) अपनेष्यति (निश्चय ही मिटा देगा) अर्थात् आज बड़ा मोटा नाग आया हुआ मालुम पड़ता है, अतः आज खूब छक हो जाऊंगा।

इस उपरोक्त श्लोक से दूसरा अर्थ भी व्यङ्ग्य रूप से निकलता है जो आगे होने वाले कथा-विकास पर हल्का-सा प्रकाश डाल देता है। यह एक नाटकीय परिभाषा की चीज़ है, जिसे 'पताका-स्थान' कहते हैं और इसी का नाटककार ने यहाँ पर प्रयोग किया है :—एषः नागानां रक्षिता (अपने प्राणों तक की बलि दे कर नागों को बचाने वाला जीमूतवाहन) मम गुरुः भाति (मेरा गुरु—उपदेष्टा—मालूम

तद्यावदेनं गृहीत्वा मलयपर्वतमारुह्य यथेष्टमाहारयामि ।

[इति निष्क्रान्तः।]

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे।]

इति चतुर्थोऽङ्कः ।

होता है)। जीमूतवाहन से ही गरुड़ को शिक्षा मिलेगी कि अपने पेट के लिए बेचारे सर्पों की हिंसा करना कितना बुरा कार्य है। तथा अद्य सर्पा० =(सर्पों को खाने की मेरी इच्छा को सदा के लिए मिटा देगा)। वास्तव में जीमूतवाहन के बलिदान के पश्चात् गरुड़ ने सर्प-भक्षण छोड़ दिया। (२६)

चौथा अंक समाप्त

अथ पञ्चमोऽङ्कः ।

[ततः प्रविशति प्रतीहारः ।]

प्रतीहारः—

स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धे पापं विशङ्क्यते स्नेहात् ।
किमु दृष्टबह्वपायप्रतिभयकान्तारमध्यस्थे ? ॥ १ ॥

तथाहि—जीमूतवाहनो जलनिधिवेलाऽवलोकनकुतूहली निष्क्रान्तश्चिरयतीति दुःखमास्ते महाराजविश्वावसुः । समादिष्टश्चास्मि तेन यथा—"सुनन्द ! श्रुतं मया सन्निहितगरुडप्रतिभयमुद्देशं जामाता जीमूतवाहनो गत इति शङ्कित एवास्मि अनेन वृत्तान्तेन । तत् त्वरितं विज्ञायागच्छ किमसौ स्वगृहमागतो न वा" इति । यावत् तत्र गच्छामि । [परिक्रामन्नग्रे दृष्ट्वा] अयमसौ राजर्षिर्जीमूतवाहनस्य पिता

स्वगृहो०—स्निग्धे (स्नेही प्रिय जन के) स्वगृहो० = स्वस्य गृहम् तस्य यत् उद्यानं तस्मिन् गते (अपने घर के ही उद्यान में चले जाने पर भी) स्नेहात् (प्रेम होने के कारण) पापं विशङ्क्यते (पाप—अनिष्ट—की शंका उत्पन्न हो जाती है) प्रेम में हमेशा प्रेमी के विषय में अनिष्ट की ही शंका होती रहती है । कालिदास ने भी कहा है—"अतिस्नेहः पापशङ्की" (शाकुन्तल) । दृष्ट० = दृष्टाः बहवः अपायाः यस्मिन् तथाभूतम् (ब० व्री०) अथ च प्रतिभयम् यत् कान्तारम् तस्य मध्ये तिष्ठतीति तस्मिन् (उपपदतत्पु०) (देख गये बहुत खतरों वाले तथा भयानक वन के मध्य रहते हुए) स्निग्धे = (प्रियजन के) किमु (क्या कहना) । (१)

जलनिधि० = जलनिधेः वेलायाः यत् अवलोकनम् (ष० तत्पु०) तस्मिन् कुतूहलम् अस्य अस्तीति तस्मिन् (कुतूहल + इन् मत्वर्थे) (समुद्र के ज्वारभाटा को देखने का कौतुक वाला) । निष्क्रान्तः (गया हुआ) चिरयति = चिरं करोति (नामधातु) (देरी लगा रहा है) दुःखम् यथा स्यात् तथा (क्रियाविशे०) आस्ते (दुःख—चिन्ता—में हैं) सन्नि० = सन्निहितः य गरुडः = तेन प्रतिभयम् (पास में गरुड़ के रहने से भयानक) उद्देशम् (स्थान में) । उटजा० = उटजस्य अङ्गने (झोपड़ी के आंगन में) स्वधर्म० = स्वस्य धर्म० = स्वधर्मे चरतीति तया (उपपदतत्पु०)

जीमूतकेतुरुदजाङ्गणे सह स्वधर्मचारिण्या राजपुत्र्या वध्वा च पर्युपास्यमानस्तिष्ठति। तथाहि—

> क्षौमे भङ्गवती तरङ्गितदशे फेनाम्बुतुल्ये वहन्
> जाह्नव्येव विराजितः सवयसा देव्या महापुण्यया।
> धत्ते तोयनिधेरयं सुसदृशीं जीमूतकेतुः श्रियं
> यस्यैपान्तिकवर्त्तिनी मलयवत्याभाति वेला यथा ॥ २ ॥

सह (अपनी धर्मपत्नी के साथ)। पर्युपास्यमानः=परि+उप+✓आस् कर्मवाच्य में शानच् (सेवा किया जाता हुआ, सेवित)।

क्षौमे०—भङ्गवती=भङ्गाः (सिकुड़न) सन्ति अनयोः इति (नपुं० द्विवच०) (सिकुड़नों वाले) तरङ्गित०=तरङ्गाः सञ्जाताः आसाम् इति (तरङ्गः+इतच् मत्वर्थे) दशाः (प्रान्तभाग, आँचल) ययोः तथाभूते (ब० व्री०) (जिनके किनारे लहरा रहा हैं—ऐसे) फेना०=फेनयुक्तम् यत् अम्बु फेनाम्बु (मध्यमपदलोपी समास) तेन तुल्ये (फेन-युक्त जल जैसे) क्षौमे (दो रेशमी कपड़ों (धोती और दुपट्टे) को) वहन् (धारण करता हुआ) सवयसाः समानं वयः यस्याः तथाभूतया (समान उम्रवाली) जाह्नवी के पक्ष में—वयांसि=पक्षिणः तैः सह वर्तमानया (ब० व्री०) (पक्षियों वाली) महा० (इस नाम वाली) जाह्नवी के पक्ष में—महत् पुण्यम्=पावनत्वं यस्याः तया (बड़ी पवित्र) देव्या (रानी) जाह्नवी की तरफ—(देवता) जाह्नव्या=जह्नोरपत्यं स्त्री तया (जह्नु कन्या—गंगा—से विराजितः (शोभित) अयं जीमूतकेतुः (यह जीमूतकेतु) तोयनिधेः सुसदृशीम् (समुद्र की जैसी) श्रियं धत्ते (शोभा को धारण कर रहा है)। यस्य एषा अन्तिक०=अन्तिके वर्तते इति (उपपदतत्पु०) मलयवती (जिसके समीप में वर्तमान यह मलयवती) यथा वेला (जैसा तीर होता है) (तथा) आभाति (उस तरह लग रही है)। सफेद रेशमी वस्त्र जिन में सिकुड़न पड़ी हैं और किनारों पर हिल रहे है। जल की तरह दिखाई देने से तथा पास में गंगा-सी धर्मपत्नी तथा वेला-सी पुत्रवधू के होने से समुद्र के साथ तुलना बन गई। (२)

१. तरंगतरले।

तद् यावदुपसर्पामि ।

[ततः प्रविशति पत्नीवधूसमेतो जीमूतकेतुः ।]

जीमूतकेतुः—

भुक्तानि यौवनसुखानि यशोऽवकीर्णं
राज्ये स्थितं स्थिरधिया चरितं तपोऽपि ।
श्लाघ्यः सुतः, सुसदृशान्वयजा स्नुषेयं,
चिन्त्यो मया ननु कृतार्थतयाऽद्य मृत्युः ॥ ३ ॥

सुनन्दः—[सहसोपसृत्य] 'जीमूतवाहनस्य—' ।

जीमूतकेतुः—[कर्णौ पिधाय] शान्तं पापम् ! शान्तं पापम् ।

वृद्धा—पडिहदं क्खु एदं अमंगलं । [प्रतिहतं खल्वेतदमङ्गलम् ।]

मलयवती—वेवदि मे हिअअं इमिणा दुण्णिमित्तेण । [वेपते मे हृदयमनेन दुर्निमित्तेन ।]

जीमू०—[वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा] भद्र ! किं जीमूतवाहनस्य ?

भुक्तानि—यौवन० = यौवनस्य सुखानि (ष० त०) (यौवन के सुख) भुक्तानि (भोग लिये हैं) यशः अवकीर्णम् (यश फैला दिया है) स्थिर० = स्थिरा या धीः तया (कर्मधा०) (स्थिर चित्त से) राज्ये स्थितम् (राज्य में बैठा रहा-राज्य चलाया–) तपः अपि चरितम् (तपस्या भी कर ली है) । सुतः श्लाघ्यः (पुत्र सराहनीय है) इयं स्नुषा स्वसदृश० = स्वेन सदृशः यः अन्वयः (कुलम्) तत्र जाता इति स्वसदृशः (उपपदतत्पु०) (यह पुत्रवधू (भी) अपने ही समान कुल की है) कृतार्थतया मया ननु अद्य मृत्युः चिन्त्यः (सफलमनोरथ हुए मुझे अब मृत्यु का ही विचार बनाना चाहिए) । (३)

शान्तम्—शान्तं पापम् (राम ! राम !! राम !!!) प्रतिहतम् (विनष्ट (होवे)) दुर्निमित्तेन (अपशकुन से) वामाक्षि० = वामम् यत् अक्षि तस्य स्पन्दनम् (बायीं आँख का फड़कना) वार्त्ताम् (समाचार को) आसन्न० = आसन्न

सुनन्दः—जीमूतवाहनस्य वार्त्तामन्वेष्टुं महाराजविश्वावसुना युष्मदन्तिकं प्रेषितोऽस्मि।

जीमू०—किमसन्निहितस्तत्र मे वत्सः?

वृद्धा—[सविषादम्] महाराअ! जइ तहिं ण सण्णिहिदो, ता कहिं गदो मे पुत्तओ भविस्सदि? [महाराज! यदि तत्र न सन्निहितः, तत् क्व गतो मे पुत्रको भविष्यति?]

जीमू०—नूनमस्मत्प्राणयात्रार्थं नितान्तं दूरं गतो भविष्यति।

मल०—[सविषादमात्मगतम्] अहं उण अज्जउत्तं अपेक्खंती अण्णं ज्जेव्व किंपि आसंकामि। [अहं पुनरार्य्यपुत्रमपेक्षमाणा अन्यदेव किमप्याशङ्के।]

सुनन्दः—आज्ञापय। किं मया स्वामिने निवेदनीयम्?।

जीमूतकेतुः—[वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा] 'जीमूतवाहनश्चिरयती'ति पर्य्याकुलोऽस्मि हृदयेन।

स्फुरसि किमु दक्षिणेतर! मुहुर्मुहुः सूचयन्ममानिष्टम्।
हतचक्षुरपहतं ते स्फुरितं, मम पुत्रकः कुशली ॥४॥

[ऊर्ध्वमवलोक्य] अयमेव त्रिभुवनैकचक्षुर्भगवान्सहस्रदीधितिः स्फुटं जीमूतवाहनस्य श्रेयः करिष्यति।

प्राणयात्रा = जीवननिर्वाहः तदर्थम् (हमारे वास्ते जीवननिर्वाहोचित फलमूलादि लाने के लिए)।

स्फुरसि—हे दक्षिणे० = दक्षिणात् इतरः (पं० तत्पु०) तत्सम्बोधने (दायीं से भिन्न अर्थात् बायीं (आँख)) मम अनिष्टं सूचयत् (मेरा अनिष्ट जतलाती हुई) मुहुः मुहुः किं स्फुरसि (बार-बार क्यों फड़क रही है?) हे हतचक्षुः (ए मुई आँख!) ते स्फुरितम् अपहतं (भवतु) (तेरा फड़कना नष्ट होवे)। पुरुषों का बायाँ अंग-आँख आदि-तथा स्त्रियों का दाहिना अंग फड़कना अशुभ लक्षण गिना जाता है। मम पुत्रकः कुशली (मेरा पुत्र कुशलपूर्वक है) (४)

अयमेव—त्रिभुवन० = त्रयाणां भुवनानां समाहारः त्रिभुवनम् (समाहार द्विगु) तस्य एकं चक्षुः (तीनों लोकों का एकमात्र नेत्र) सहस्र० = सहस्रं दीधितयः यस्य सः (ब० व्री०) (हजार किरणों वाला—सूर्य भगवान्)।

[विलोक्य सविस्मयम्]

आलोक्यमानमतिलोचनदुःखदायि-
रक्तच्छटानिजमरीचिरुचो विमुञ्चत् ।
उत्पातवाततरलीकृततारकाभ-
मेतत्पुरः पतति किं सहसा नभस्तः ? ॥५॥

कथं चरणयोरेव पतितम् ?

[सर्वे निरूपयन्ति ।]

जीमूतकेतुः—अये ! कथं लग्नसरसमांसकेशश्चूडामणिः ! कस्य पुनरयं स्यात् ?

देवी—[सविषादम्] महाराअ, पुत्तअस्स विअ मे एदं चूडरअणं [महाराज, पुत्रस्येव मे एतच्चूडारत्नम् ।]

मल०—अम्ब ! मा एव्वं भण । [अम्ब ! मैवं भण ।]

आलोक्य०—आलोक्यमानम् (देखा जाता हुआ, देखने में) अतिलोचन०=लोचनेभ्यः दुखं ददातीति लोचन० (उपपदतत्पु०) अत्यन्तं यथा स्यात् तथा लोचन० (आँखों को अतिशय दुःख देनेवाला) रक्त०=रक्तस्य छटाः इव याः निजमरीचीनाम् रुचः (खून की सी छटावाली अपनी किरणों की कान्तियों को) विमुञ्चत् (छोड़ती हुई) उत्पात०=उत्पात-सूचकः वातः उत्पातवातः (मध्यमपदलोपी समास) तेन तरलीकृता=अतरला तरला सम्पाद्यमाना कृता या तारका तस्याः आभा इव आभा यस्य तथाभूतम् (उत्पात के सूचक वायु द्वारा हिलाये गये तारे की सी कान्ति को रख हुए) जब कोई महान् उत्पात होने को होता है, तो प्रबल वायु चलता है और आकाश से टूटकर उल्कायें—पुच्छलतारे—गिरते हैं। ऊपर से गिरता हुआ चूड़ामणि उल्कापात-सा दीख रहा था । किम् एतत् नभस्तः सहसा पुरः पतति (आकाश से एकाएक यह क्या चीज़ गिर रही है?) (५)

अये !—लग्न०=लग्नं सरसं मांसं केशाश्च यस्मिन् तथाभूतः (ब० व्री०) (जिसपर खून से भरा मांस और बाल लगे हुए है—ऐसा) चूडामणि (सिर का भूषण)

सुनन्दः—महाराज ! मैवमविज्ञाय विक्लवीभूः । अत्र हि—

तार्क्ष्येण भक्ष्यमाणानां पन्नगानामनेकशः ।
उल्कारूपाः पतन्त्येते शिरोमणय ईदृशाः ॥ ६ ॥

जीमू०—देवि ! सोपपत्तिकमभिहितम् । कदाचिदेवमपि स्यात् ।

वृद्धा—सुणंदअ ! जाव इमाए वेलाए ससुरसदणं ज्जेव्व आअदो मे पुत्तओ भविस्सदि । ता गच्छ, जाणिअ लहुं एव्व अह्माणं णिवेदेहि । [सुनन्दक ! यावदनया वेलया श्वशुरसदनमेवागतो मे पुत्रको भविष्यति । तद्गच्छ, ज्ञात्वा लघ्वेवास्माकं निवेदय ।]

सुनन्दः—यदाज्ञापयति देवी । [इति निष्क्रान्तः ।]

जीमू०—देवि ! अपि नागचूडामणिः स्यात् । [ततः प्रविशति रक्तवस्त्रसंवीतः शङ्खचूडः ।]

शङ्ख०—[सास्रम्]

गोकर्णमर्णवतटे त्वरितं प्रणम्य
प्राप्तोऽस्मि तां खलु भुजङ्गमवध्यभूमिम् ।

विक्ल०—मा विक्ल० = विकल मत होओ । 'मा' के योग में लुङ् और 'अट्' का अभाव हुआ करता है ।

तार्क्ष्येण—तार्क्ष्येण (गरुड़द्वारा) भक्ष्यमाणानां पन्नगानाम् (खाये जाते हुए सर्पों की) ईदृशाः उल्कारूपाः = उल्कावत् रूपं येषां ते (ब० व्री०) (ऐसी उल्का-जैसी) एते शिरोमणयः = शिरस्सु मणयः (ये सिरों में होनेवाली मणियाँ) । यह आम प्रवाद है कि सर्पों के सिरों में मणि हुआ करती है । पतन्ति (गिरा करती हैं) ।(६)

देवि !—सोप० = उपपत्त्या सहितम् = (युक्ति-युक्त) । अभिहितम् (कहा है) ।

गोकर्णम्—अर्णव० = अर्णवस्य तटे (समुद्र के किनारे) गोकर्णं प्रणम्य (गोकर्ण को प्रणाम करके) त्वरितं तां भुजङ्गम० = भुजङ्गानां वध्यभूमिः ताम् खलु प्राप्तः अस्मि (शीघ्र ही उस साँपो की वध्यभूमि को पहुँच ही गया हूँ) तं च

१. क्वचित् एतत् गद्यमेवास्ति ।

आदाय तं नखमुखक्षतवक्षसञ्च
विद्याधरं गगनमुत्पतितो गरुत्मान् ! ॥ ७ ॥

[रुदन्] हा महासत्त्व ! हा परमकारुणिक ! हा निष्कारणैकबान्धव ! हा परदुःखदुःखित ! क्व गतोऽसि ? । प्रयच्छ मे प्रतिवचनम् । हा शङ्खचूडहतक ! किं कृतं त्वया ?—

नाऽहित्राणात्कीर्त्तिरेका मयाऽप्ता,
नापि श्लाघ्या स्वामिनोऽनुष्ठिताऽऽज्ञा ।
दत्त्वात्मानं रक्षितोऽन्येन शोच्यो
हा धिक् ! कष्टं ! वञ्चितो वञ्चितोऽस्मि ॥ ८ ॥

नख० = नखानि च मुखं चेति तेषां समाहारः नखमुखम् (समाहार द्वं०) तेन क्षतं वक्षः यस्य तथाभूतम् (ब० व्री०) (जिसकी छाती नखों और मुख से फाड़ डाली गई है—ऐसे) विद्याधरम् आदाय (उस विद्याधर को लेकर) गरुत्मान्=गरुतः अस्य स्तः इति (गरुत्+मतुप्) (गरुड़) गगनम् उत्पतितः (आकाश को उड़ पड़ा) । (७)

हा—परम० = करुणा शीलम् अस्य इति कारुणिकः (करुणा+ठक्) परमश्चासौ कारुणिकः परम० तत्सम्बोधने हे परम० (हे अत्यन्त दयालु !) निष्कार०—निर्गतं कारणं यस्मात् यथा स्यात् तथा (क्रियाविशे०) एकः=प्रधानः बान्धवः तत्सम्बोधने (विना कारण ही एकमात्र बन्धु !) पर०=परेषां दुःखम् तेन दुःखित (दूसरों के दुःख से दुःखी होनेवाले) । प्रतिवचनम् (उत्तर) ।

नाहि०—अहि०=अहीनां त्राणं तस्मात् (सर्पों को बचाने के कारण) एका कीर्तिः मया न प्राप्ता (मैंने कोई भी यश प्राप्त नहीं किया) स्वामिनः श्लाघ्या आज्ञा अपि न अनुष्ठिता (स्वामी की प्रशस्त आज्ञा का भी पालन नहीं किया) आत्मानं दत्त्वा अन्येन रक्षितः (अहम्) शोच्यः (अपने आपको बलि देकर दूसरे से बचाया गया मैं शोचनीय हूँ) हा धिक् कष्टं वञ्चितः वञ्चितः अस्मि (हा ! मुझे धिक्कार है कि मैं वञ्चित ही रह गया—ठगा गया—हूँ) । (८)

तन्नाहमेवंविधः क्षणमपि जीवन्नुपहास्यमात्मानं करोमि। यावदेतदनुगमनं प्रति यतिष्ये। [परिक्रामन् भूमौ दत्तदृष्टिः]

आदावुत्पीडपृथ्वीं प्रविरलपतितां स्थूलविन्दुं ततोऽग्रे
ग्रावस्वापातशीर्णप्रसृततनुकणां कीटकीर्णां स्थलीषु।
दुर्लक्ष्यां धातुभित्तौ घनतरुशिखरे स्त्याननीलस्वरूपा-
मेनां तार्क्ष्यं दिदृक्षुर्निपुणमनुसरन् रक्तधारां व्रजामि ॥९॥

तन्नाहम्—उपहास्यम्=उपहसितुं योग्यम् (उपहास किये जाने योग्य) एतद०= एतस्य अनुगमनम् प्रति (इसके पीछे पीछे जाने का) यतिष्ये=(प्रयत्न करूँगा)।

आदौ—तार्क्ष्यं दिदृक्षुः=द्रष्टुमिच्छुः √दृश+सन्+उ (गरुड़ को देखना चाहता हुआ) आदौ उत्पीड०=उत्पीडेन=निष्पीडनेन विदारणेनेति यावत् पृथ्वीम्= पृथु+स्त्रियां ङीप्=पृथुलाम् (पहिले-पहिले तो छाती के विदारण करने के कारण मोटी-मोटी) ततः अग्रे प्रविरल०=प्रविरलं यथा स्यात् तथा पतिताम् (तथापि) स्थूलविन्दुम्=स्थूलाः विन्दवः यस्यां तथाभूताम् (ब० व्री०) (उसके बाद विरली-विरली पड़ी हुई भी मोटे-मोटे बूँदोंवाली), ग्रावसु आपात०=आपातेन शीर्णाः प्रसृताः तनवः कणाः यस्याः तथाभूताम् (ब० व्री०) (पत्थरों पर गिरने के कारण बिखरे, और फैले हुए पतले-पतले कणों वाली) स्थलीषु कीट०=अकृत्रिमं स्थलम् इति स्थली=स्थल+ङीप् अकृत्रिमार्थे, तासु; कीटैः=कीर्णां ताम् (अकृत्रिम भू-भागों—तलहटियों—में चीटियों से व्याप्त) धातु०=धातुना=गैरिकादिना भिन्ने=मिश्रिते, सम्भरिते (स्थले) दुर्लक्ष्याम्=दुःखेन लक्षयितुं योग्याम् (गैरिकादि धातुओं वाली भूमि पर कठिनाई सी दिखाई देने वाली)। धातु लाल होते हैं, खून भी लाल होता है, इस कारण खून की धारा वहाँ पर नहीं दिखलाई पड़ती थी। घन०=घनाः ये तरवः तेषां शिखरे (जातौ एकवचनम्) (घने वृक्षों के अग्रभागों पर) स्त्यान०=स्त्यानम् अथ च नीलं स्वरूपं यस्याः तथाभूताम् (ब० व्री०) (जमी और नीली-नीली पड़ी हुई) एनां रक्तधाराम् (खून की इस धार को) निपुणम् अनुसरन् व्रजामि (अच्छी तरह पीछा करते करते जाता हूँ)। (६)

शिखरे स्त्यानरूपा।

वृद्धा—[ससाध्वसं] महाराअ! एसो ससोओ विअ रुदिदवअ इदो ज्जेव्व तुरिदं आअच्छंतो हिअअं मे आकुलीकरेदि। ता जाणीअ दाव को एसो त्ति। [महाराज! एष सशोक इव रुदितवदन इत ए त्वरितमागच्छन् हृदयं मे आकुलीकरोति। तत् ज्ञायतां तावत् क एष इति।]

जीमूतकेतुः—यथाऽऽह देवी।

शङ्ख०—[साक्रन्दम्] हा त्रिभुवनैकचूडामणे! क्व मया द्रष्टव्योऽसि मुषितोऽस्मि भो मुषितोऽस्मि।

जीमूत०—[आकर्ण्य सहर्षं विहस्य] देवि! मुञ्च शोकम्। अस्या चूडामणिर्नूनं मांसलोभात् केनापि पक्षिणा मस्तकादुत्खायानीयमान ऽस्यां भूमौ पपात।

वृद्धा—[सपरितोषं मलयवतीं समालिङ्ग्य] अविधवे धीरा होहि ए क्खु ईरिसी आकिदी वेहव्वदुक्खं अणुहोदि। [अविधवे! धीरा भव न खल्वीदृशी आकृतिर्वैधव्यदुःखमनुभवति।]

मल०—[सहर्षम्] अम्ब! तुम्हाणं आसिसां पभाएण। [अम्ब युष्माकमाशिषां प्रभावेण। [पादयोः पतति।]

जीमूतकेतुः—[शङ्खचूडमुपसृत्य] वत्स! किं तव चूडामणिरपहृतः

महाराज—सशोक इव=शोकेन सह वर्तमान (ब० ब्री०) (शोकयुक्त-सा) रुदित०=रुदितं वदनं यस्य सः (ब० ब्री०) (रोते हुए मुखवाला) आकुलीकरोति= आकुल+च्वि+कृ+लट् (व्याकुल बना रहा है)

हा—त्रिभुव०=त्रिभुवनस्य एकः चूडामणिः तत्सम्बुद्धौ (तीनों लोकों के एकमात्र शिरोभूषण) मुषितः अस्मि (लुट गया हूँ)

देवी—मांस०=मांसस्य लोभात् (मांस के लोभ से) मस्तकात् उत्खाय (सिर से उखाड़ कर, झपटकर) आनीयमानः (लाया जाता हुआ)

अविधवे—न विधवा अविधवा (नञ् तत्पु०) तत्सम्बोधने (हे सुहागिन सुहागवाली!) वैधव्य०=विगतः धवः पतिः यस्याः सा; विधवायाः भावः वैधव्य तस्य दुःखम् (वैधव्य—राँडपन—का दुःख)

शङ्खचूडः—आर्य ! न ममैकस्य, त्रिभुवनस्यापि ।

जीमूतकेतुः—[शङ्खचूडमवलोक्य] वत्स ! कथमिव ? ।

शङ्खचूडः—दुःखातिभाराद्बाष्पोपरुध्यमानकण्ठो न शक्नोमि कथयितुम् ।

जीमूतकेतुः—[आत्मगतं] हन्त ! हतोऽस्मि । [प्रकाशम्]

आवेदय ममाऽऽत्मीयं पुत्र ! दुःखं सुदुःसहम् ।
मयि सङ्क्रान्तमेतत्ते येन सह्यं भविष्यति ॥ १० ॥

शङ्ख०—श्रूयताम् । शङ्खचूडो नाम नागः खल्वहम् । आहारार्थं वासुकिना वैनतेयाय प्रेषितः । किं बहुना विस्तरेण ? कदाचिदियं रुधिरधारापद्धतिः पांसुभिरवकीर्य्यमाणा दुर्लक्ष्यतामुपयाति, तत् सङ्क्षेपतः कथयामि ।—

विद्याधरेण केनापि करुणाऽऽविष्टचेतसा ।
मम संरक्षिताः प्राणा दत्त्वात्मानं गरुत्मते ॥ ११ ॥

दुःखा०—अतिशयितः भारः अतिभारः दुःखस्य अति० = दुःखा० (दुःख के अतिशय भार के कारण) बाष्पो० = बाष्पेण उपरुध्यमानः कण्ठः यस्य सः (ब० व्री०) (आँसुओं रुँधे हुए गले वाला) ।

आवेदय—हे पुत्र, आत्मीयं सुदुःसहम् दुःखम् मम आवेदय (हे पुत्र, अपना असह्य दुःख मुझे बताओ) । येन मयि संक्रान्तम् एतत् (जिससे मुझ पर बँटा हुआ यह दुःख) ते सह्यं भविष्यति (तेरे लिए सह्य हो जायगा) । (१०)

श्रूय०—वैनतेयाय = विनतायाः अपत्यं पुमान् तस्मै (विनता के पुत्र—गरुड़—के लिए) रुधिर० = रुधिरस्य या धारा तस्याः पद्धतिम् (ष० तत्पु०) (खून की धार का मार्ग—पंक्ति—) पांसुभिरव० = (धूलियों से व्याप्त, धूलि के बिखर जाने पर) दुर्लक्ष्यताम् उप० = (दुर्लक्ष्य—न दिखाई देने योग्य—बन जाय, दीखने से रह जाय)

विद्या०—केन अपि । करुणा० = करुणया आविष्टं चेतः यस्य तथाभूतेन (ब० व्री०) विद्याधरेण (किसी करुणा-भरे हृदय वाले विद्याधर ने) आत्मानं गरुत्मते दत्त्वा (अपने आपको गरुड़ के लिए देकर) मम प्राणाः संरक्षिताः (मेरे प्राण बचा लिये हैं) । (११)

जीमू०—कोऽन्य एवं परहितव्यसनी ? वत्स ! ननु स्पष्टमेवोक्तं जीमूतवाहनेनेति । हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः ।

वृद्धा—हा पुत्तअ ! कहं तुए एदं किदं ? [हा पुत्रक ! कथं त्वया कृतम् ?]

मलयवती—[सास्रम्] कहं, सच्चीभूदं ज्जेव्व दुच्चिंतिदं ! [कथं, सत्यीभूतमेव दुश्चिन्तितम् ?]

[सर्वे मोहं गच्छन्ति ।]

शङ्खचूडः—[सास्रम्] नूनमेतौ पितरौ तस्य महासत्त्वस्य । अ- मप्रियवादिना मया इमामवस्थां नीतौ ! अथवा विषादृते विषधर- मुखात् किमन्यन्निःसरति ? अहो ! प्राणदस्य सुसदृशं प्रत्युप- जीमूतवाहनस्य शङ्खचूडेन । तत् किमधुनैवाऽऽत्मानं व्यापादयामि ! अथवा—समाश्वासयामि तावदेतौ । तात ! समाश्वसिहि । अम्ब समाश्वसिहि । [उभौ समाश्वसितः ।]

वृद्धा—वच्छे, उट्ठेहि, मा रोअ । अह्मे किं जीमूतवाहणेण वि- जीवह्म । ता समस्सस दाव । [वत्से, उत्तिष्ठ, मा रुदिहि । वयं कि जीमूतवाहनेन विना जीवामः ? तत् समाश्वसिहि तावत् ।]

मलय०—[समाश्वस्य] हा अज्जउत्तं, कहिं दाणिं मए तुमं पेक्खि- दव्वो ? [हा आर्यपुत्र, केदानीं मया त्वं प्रेक्षितव्यः ।]

को०—पर० =परेषां हितम् एव व्यसनं अस्य अस्तीति (दूसरों की भलाई का व्यसन वाला) ।

नूनम्—विषाद् ऋते...निःसरति =(विषधर का अर्थ साँप और साँप-स दुष्ट व्यक्ति है, अर्थात् क्योंकि मैं साँप हूँ, इस लिए मुंह से विष ही उगलना मेरा स्वभाव है । दुर्जन व्यक्ति भी मुंह से बुरा ही बोलता है, अच्छा नहीं । मैंने बुरा समाचार उन्हें सुनाया है जिससे ये मूर्च्छित हो गये हैं ।) अहो...शङ्खचूडेन= यह व्यङ्ग्योक्ति है कि जिसने मेरे प्राण बचाये हैं, उसके बदले में मैंने कितना अच्छा काम किया है कि जो मैं उसके माता-पिता की मूर्च्छा का कारण बना हूँ, अर्थात् मैंने बहुत बुरा काम किया है । व्यापादयामि (मार दूँ, आत्मघात कर दूँ) समाश्वासयामि (धीरज बँधाऊँ ।)

जीमूतकेतुः—हा वत्स गुरुचरणशुश्रूषाभिज्ञ!

चूडामणिं चरणयोर्मम पातयता त्वया।
लोकान्तरगतेनापि नोज्झितो विनयक्रमः! ॥ १२ ॥

[चूडामणिं गृहीत्वा] हा वत्स! कथमेतावन्मात्रदर्शनः संवृत्तोऽसि? [हृदये दत्त्वा] अहह!—

भक्त्या सुदूरमवनामितनम्रमौलेः
शश्वत्तव प्रणमतश्चरणौ मदीयौ।
चूडामणिर्निकषणैर्मसृणोऽप्यहिंस्रः
गाढं विदारयति मे हृदयं कथं नु? ॥ १३ ॥

गुरु०—गुर्वोः चरणयोः या शुश्रूषा तस्या विधिं जानातीति तत्सम्बोधने (माता-पिता के चरणों की सेवा के विधि—प्रकार—को जाननेवाले!)

चूडामणिम्—मम चरणयोः चूडामणिं पातयता त्वया (मेरे चरणों पर चूडामणि गिराते हुए तुमने) लोका० = अन्यः लोकः इति लोकान्तरम् तत्र गतेन अपि (दूसरे लोक गये हुए भी, मरते हुए भी) विनय० = विनयस्य क्रमः (नम्रता का मार्ग अर्थात् आते अथवा जाते माता-पिता की चरणवन्दना का शिष्टाचार) न उज्झितः (नहीं छोड़ा) (१२)

हा—एतावत्० = एतावत् एव एतावन्मात्रम्, एता० दर्शनं यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) (इतना ही अर्थात् चूडामणि तक ही है दर्शन जिसका ऐसा, चूडामणि रूप में ही दिखाई देने योग्य रह गये हो)

भक्त्या०—सुदूरम् (बहुत दूर तक, नीचे तक) अवना० = अवनामितः नम्रः मौलिः येन तथाभूतस्य (नम्र शिर झुकाये हुए) भक्त्या शश्वत् मदीयौ चरणौ प्रणमतः (भक्तिपूर्वक सदा मेरे चरणों को प्रणाम करने वाले) तव चूडामणिः (तुम्हारा चूडामणि) निकषणैः मसृणः ((चरणों की) रगड़ों से चिकना) अहिंस्रः अपि (न मारने वाला, अघातक होता हुआ भी) मे हृदयम् (मेरे हृदय को) कथं नु गाढं विदारयति (किस तरह गहरा फाड़ रहा है)। कितना आश्चर्य है कि इतनी सुन्दर वस्तु भी किस प्रकार हृदय को दो-टूक कर रही है।) (१३)

वृद्धा—हा पुत्र जीमूतवाहण! जस्स दे गुरुअणसुस्सूसं वज्जिअ अण्णं सुहं ण रोअदि, सो कहिं दाणिं पिदरं उज्झिअ सग्गसुहमणुहोदुं गदोसि? [हा पुत्र जीमूतवाहन! यस्य ते गुरुजनशुश्रूषां वर्जयित्वा अन्यत् सुखं न रोचते, स कुत्रेदानीं पितरमुज्झित्वा स्वर्गसुखमनुभवितुं गतोऽसि!]

जीमू०—[सास्रम्] देवि! किं जीमूतवाहनेन विना जीवामो वयं येनैवं प्रलपसि?

मल०—[पादयोर्निपत्य कृताञ्जलिः] ता देहि मे अज्जउत्तचिह्नं चूडामणिं, जेण एदं हिअए कदुअ जलणपवेसेण अवणेमि हिअअस्स संदावदुक्खं। [तद् देहि मे आर्य्यपुत्रचिह्नं चूडामणिं, येनैनं हृदये कृत्वा ज्वलनप्रवेशेन अपनयामि हृदयस्य सन्तापदुःखम्।]

जीमू०—पतिव्रते! किमेवमाकुलयसि? ननु सर्वेषामेवास्माकमयं निश्चयः।

वृद्धा—महाराअ! ता किं अम्हेहिं पडिपालीअदि? [महाराज! तत् किमस्माभिः प्रतिपाल्यते?]

जीमू०—न खलु देवि! किञ्चित्। किन्त्वाहिताग्नेर्नान्येनाग्निना संस्कारो विहितः। अतोऽग्निहोत्रशरणादग्नीनादायाऽऽत्मानमुद्दीपयामः।

हा०—गुरु० = (माता-पिता की सेवा को) वर्जयित्वा (छोड़ कर) उज्झित्वा (छोड़ कर) स्वर्ग० = (स्वर्ग का सुख भोगने)

तद्—हृदये कृत्वा (हृदय—छाती—पर रख कर) ज्वलन० = ज्वलतीति ज्वलनः तस्मिन् प्रवेशेन (आग में प्रवेश द्वारा) अपनयामि (मिटाती हूँ)।

किम्—आकुल० = आकुलं करोषि इति आकुल० आकुल + णिच् + लट् (नामधातु) (आकुल कर रही हो) प्रतिपाल्यते = (प्रतीक्षा की जा रही है?)

न खलु०—अहिता० = आहिताः = स्थापिताः अग्नयः = गार्हपत्यादयः त्रयः अग्नयः येन तथाभूतस्य (ब० व्री०) (अग्निहोत्री) गृहस्थ में प्रवेश करने के बाद मनुष्य को नियम से हवन करने का विधान है; जिनमें हवन होता है, वे अग्नियाँ तीन गिनी गई हैं—गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिण। इस तरह नित्य हवन करने वाले को अग्निहोत्री कहते हैं। उसके लिए शास्त्रों में ऐसा विधान है कि जिस अग्नि में वह नित्य हवन करता है, उसी से उसका दाह संस्कार होता है, अन्य अग्नि से नहीं। अग्नि० = अग्निहोत्रस्य शरणम् तस्मात् (अग्निहोत्र के गृह से) उद्दीपयामः (जिलावें)

शङ्खचूडः—[आत्मगतं] कष्टं! ममैकस्य कृते सकलमेवेदं विद्याधरकुलमुच्छिन्नम्। तदेवं तावत्। [प्रकाशं] तात! न खल्वनिश्चित्यैव युक्तमिदमीदृशं साहसमनुष्ठातुम्। विचित्राणि हि दैवविलसितानि। कदाचिन्नायं नाग इति ज्ञात्वा परित्यजेन्नागशत्रुः। तदनयैव दिशा वैनतेयमनुसरामस्तावत्।

वृद्धा—सव्वहा देवदाणं पसादेण जीवंतस्स पुत्तअस्स मुहं दंसेमा। [सर्वथा देवतानां प्रसादेन जीवतः पुत्रस्य मुखं पश्यामः।]

मलयवती—[आत्मगतं] दुल्लहं क्खु एदं मम मंदभग्गाए। [दुर्लभं खल्वेतन्मम मन्दभाग्यायाः।]

जीमूतकेतुः—वत्स! अवितथैषा तव भारती भवतु। तथाऽपि साग्नीनामेवास्माकं युक्तमनुसर्त्तुम्। तदनुसरतु भवान्। वयमप्यग्निशरणादग्निमादाय त्वरितमेवानुगच्छामः। [पत्नीवधूसमेतो निष्क्रान्तः।]

शङ्ख०—तद् यावद् गरुडमनुसरामि। [अग्रतो निर्वर्ण्य]

कुर्वाणो रुधिरार्द्रचञ्चुकषणैर्द्रोणीरिवाद्रेस्तटीः
प्लुष्टोपान्तवनान्तरः स्वनयनज्योतिःशिखाश्रेणिभिः।

कष्टम्—उच्छिन्नम् (विनष्ट हुआ) अनिश्चित्य एव (पूरा-पूरा निश्चय किये विना ही) साहसम् अनुष्ठातुम् (साहस का काम करना) दैव०=दैवस्य विलसितानि (ष० तत्पु०) (भाग्य के खेल) नागशत्रुः (गरुड़)।

वत्स०—अवितथा=तथा=सत्यरूपा न विद्यते इति वितथा न वितथा इति अवितथा (सत्य, सच्ची) साग्नीनाम्=अग्निभिः सह वर्तमानानाम् ((अपनी गार्हपत्यादि) अग्नियों को साथ लेकर ही)। भारती (वाणी)

कुर्वाणः—रुधिरार्द्र०=रुधिरेण आर्द्रा या चञ्चुः तस्याः कषणैः (खून से गीली चोंच की रगड़ों से) अद्रेः तटीः (पहाड़ की ढलानों को) द्रोणीः इव कुर्वन् (नाव—जैसी बनाता हुआ) खून से भीगी हुई चोंच को गरुड़ सुखाने के लिये पहाड़ की ढलानों पर रगड़ता था, उससे ढलानों के मध्यभाग तो उखड़

१ शिलाः।

संज्जद्वज्रकठोरघोरनखरप्रान्तावगाढावनिः,
शृङ्गाग्रे मलयस्य पन्नगरिपुर्दूरादयं दृश्यते ॥ १४॥

[ततः प्रविशत्यासनस्थः पुरःपतितनायको गरुडः ।]

गरुडः—जन्मनः प्रभृति भुजङ्गपतीनश्नता नेदमाश्चर्यं मया दृ पूर्वं यदयं महासत्त्वो न केवलं न व्यथते प्रत्युत प्रहृष्ट इव किमि दृश्यते । तथाहि—

ग्लानिर्नाधिकपीयमानरुधिरस्याप्यस्ति धैर्य्योदधे-
र्मांसोत्कर्त्तनजा रुजोऽपि वहतः प्रीत्या प्रसन्नं मुखम् ।

जाते थे और प्रान्त-भाग वैसेही ऊँचे रहते थे, इसलिए ढलानें किरतियाँ-सी बन गई थीं । स्वनयन० =स्वनयनयोः ज्योतिषः शिखानां श्रेणिभिः (अपनी आँखों की आग की लपटों से) प्लुष्टो० = प्लुष्टम् = दग्धम् उपान्ते = समीपे वनान्तरं येन सः (ब० व्री०) (आसपास के वन के मध्यभाग को आग लगाए हुआ) सज्जद्० = सज्जन्तः (संलग्नाः) वज्रवत् कठोराः ये नखराः तेषां प्रान्तैः अवगाढा अवनिः येन तथाभूतः (ब० व्री०) (लगते हुए वज्र-से कठोर नखों के किनारों से पृथ्वी को धँसाता हुआ) अयं पन्नगरिपुः = पन्नगानां रिपुः (यह गरुड़) मलयस्य शृङ्गाग्रे दूरात् दृश्यते (मलय पर्वत के शिखर के अग्रभाग पर (बैठा हुआ) दूर से दिखलाई दे रहा है) । (१४)

जन्मनः—जन्मनः प्रभृति (जन्म से लेकर) भुजङ्ग० = भुजङ्गानाम् पतीन् (नागराजों को) अश्नता = √ अश्+शतृ (खाते हुए) व्यथते (दुःखित होता है) प्रत्युत (बल्कि) ।

ग्लानिः—अधिक० = अधिकं पीयमानं रुधिरं यस्य तादृशस्य (ब० व्री०) (खून के अधिक पिये जाने पर भी) धैर्य० = धैर्यम् एव उदधिः तस्य (धैर्यरूपी सागर की) ग्लानिः न अस्ति (खेद, ह्रास, कभी नहीं है) । मांसो० = मांसस्य उत्कर्तनम् तेन जाताः (उपपदतत्पु०) (मांस के नोचने से पैदा हुई) रुजः वहतः अपि (वेदनाओं को रखते हुए भी) प्रीत्या मुखं प्रसन्नम् (अस्ति) (भीतरी आनन्द से मुख प्रसन्न है) । यद् गात्रं न विलुप्तम् (जो अङ्ग अभी खाया नहीं गया है)

१ मज्जद्० ।

गात्रं यत्र विलुप्तमेष पुलकस्तत्र स्फुटो लक्ष्यते
दृष्टिर्मय्युपकारिणीव निपतत्यस्यापकारिण्यपि ॥ १५ ॥

ततः कुतूहलमेव जनितमस्यानया धैर्यवृत्त्या। भवतु, न भक्षयाम्येवैनम्। पृच्छामि तावत्कोऽयमिति। [अपसर्पति।]

नायकः—[मांसोत्कर्तनविमुखमुपलक्ष्य]

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत्, किं भक्षणात्त्वं विरतो गरुत्मन्! ॥ १६ ॥

गरुडः—[आत्मगतम्] आश्चर्य्यम्! आश्चर्य्यम्!! कथमस्यामवस्थायामेवमूर्जितमभिधत्ते? [प्रकाशम्] अहो महासत्त्व—

तत्र एषः पुलकः स्फुटः दृश्यते (वहाँ यह रोमाञ्च साफ दीख रहा है)। अस्य दृष्टिः अपकारिणि अपि मयि (मुझे अपकार-बुराई-करने वाले पर भी) उपकारिणि इव (उपकार करनेवाले पर-जैसे) पतति (पड़ रही है) अर्थात् यद्यपि मैंने इसका अपकार ही किया उपकार नहीं; तथापि मुझे यों प्रसन्नता से देख रहा है जैसा कि मैंने इसका उपकार किया हो। (१५)

ततः—कुतूहलम् (कौतुक) जनितम् (उत्पन्न कर दिया है) धैर्य० = धैर्यस्य वृत्तिः तया (धैर्य की वृत्ति ने)। अपसर्पति (हट जाता है)। मांसो० = मांसस्य यत् उत्कर्तनम् तस्मात् विमुखः (मांस नोचने से विमुख अर्थात् रुका हुआ) उपलक्ष्य (देखकर)।

शिरा०—शिरा० = शिराणां मुखैः (धमनियों के अग्रभागों में से) रक्तं स्यन्दते एव (खून बह ही रहा है) अद्य अपि मम देहे मांसम् अस्ति (अब भी मेरे शरीर में मांस है) तव अपि तावत् तृप्तिम् न पश्यामि (तुम्हारी अभी तृप्ति भी नहीं देखता हूँ) हे गरुत्मन्! त्वं भक्षणात् किं विरतः? (हे गरुड़, तुम खाने से क्यों रुक गये हो?) (१६)

आश्चर्यम्—एवम् ऊर्जितम् = ऊर्जः सञ्जातः अस्मिन् कर्मणि यथा स्यात् तथा ऊर्जं इतम् (ओजस्वी ढंग से, उत्साहभरे शब्दों में) अभिधत्ते (कहता है)।

आवर्जितं मया चञ्च्वा हृदयात् तव शोणितम् ।
अनेन धैर्य्येण पुनस्त्वया हृदयमेव नः ॥ १७ ॥

ततः कस्त्वमिति श्रोतुमिच्छामि ।

नायकः—एवं क्षुधाकुलो भवान्न श्रवणयोग्यः । तत् कुरु तावत् प्रथमं मम मांसशोणितेन तृप्तिम् ।

शङ्खचूडः—[सहसोपसृत्य] तार्क्ष्य ! न खलु न खलु साहसमनुष्ठेयम् । नाऽयं नागः । परित्यजैनम् । मां भक्षय । अहं तवाऽऽहारार्थं प्रेषितोऽस्मि वासुकिना । [उरो ददाति ।]

नायकः—[शङ्खचूडं दृष्ट्वा, सविषादमात्मगतं] कष्टं ! विफलीकृतो मे मनोरथः शङ्खचूडेनाऽऽगच्छता ।

गरुडः—[उभौ निरूप्य] द्वयोरपि भवतोर्वध्यचिह्नम् । 'कः खलु नाग' इति नावगच्छामि !

शङ्खचूडः—अस्थाने एव भ्रान्तिः ।

आवर्जितम्—मया तव हृदयात् शोणितं चञ्च्वा आवर्जितम् (मैंने चोंच द्वारा तुम्हारे हृदय से खून (ही) लिया है, निकाला है) त्वया पुनः अनेन धैर्येण नः हृदयम् एव आवर्जितम्) (किन्तु तुमने तो इस धीरज से मेरा हृदय ही ले लिया है) । (१७)

एवम्—क्षुदु० = क्षुधा उपतप्तम् (भूख से तंग हुए) श्रवण० = श्रवणस्य योग्यः (सुनने योग्य) भूखा व्यक्ति क्या सुनेगा ? मांस० = मांसञ्च शोणितञ्च तयोः समाहारः तेन (समाहार द्व०) (मांस और खून से)

तार्क्ष्य०—हे तार्क्ष्य (गरुड़जी) न खलु न खलु = प्रतिषेध पर बल डालने के लिए द्वित्व अर्थात् (बिलकुल नहीं) अनुष्ठेयम् (करना चाहिए) उरः ददाति (छाती को देता है) । विफलीकृतः = विफल + च्वि + कृ + तः (विफल बना दिया है) ।

अस्थाने—अस्थाने (अव्यय) (बिना स्थान के, बेमौके) अर्थात् भ्रान्ति का कोई स्थान अथवा अवसर ही नहीं था । कहाँ तो विद्याधर, और कहाँ नाग ! आप-को भ्रान्ति–गलती नहीं करनी चाहिए थी ।

आस्तां स्वस्तिकलक्ष्म वक्षसि तनौ नालोक्यते कञ्चुकः
जिह्वे जल्पत एव मे न गणिते नाम त्वया द्वे अपि।
तिस्रस्तीव्रविषाग्निधूमपटलव्याजिह्मरत्नत्विषो
नैता दुःसहशोकफूत्कृतमरुत्स्फीताः फणाः पश्यसि! ॥१८॥ फू

आस्ताम्—वक्षसि स्वस्तिक० = स्वस्तिकस्य लक्ष्म (ष० तत्पु०) आस्ताम् ((जीमूतवाहन की) छाती पर स्वस्तिक के चिह्न की बात को रहने दो)। (महापुरुषों के वक्षःस्थल पर स्वस्तिक का चिह्न हुआ करता है।) हे पक्षिराज! यदि आपने स्वस्तिक न देखा हो, तो कोई बात नहीं, क्योंकि छाती वस्त्र से ढकी थी। टीकाकार प्रायः स्वस्तिक चिह्नवाले इस वाक्य को शंखचूड की तरफ़ लगाते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि नागों की छाती पर स्वस्तिक होता ही नहीं। तनौ कञ्चुकः न दृश्यते (किन्तु इसके शरीर में (कहीं भी) कञ्चुक—केंचुली—नहीं दिखाई दे रही है) (क्यों आपने इसे नाग समझा?) मे जल्पतः एव द्वे अपि जिह्वे त्वया नाम न गणिते? (बोलते हुए मेरी दो जीभ तुम शायद न भी गिनो)। नाम (अव्यय) यहाँ सम्भावना के अर्थ में है अर्थात् संभव है कि शंखचूड का भाव यह है कि यदि तुमने मेरी दो जीभ नहीं देखीं तो यह बात किसी तरह संभव भी है, क्योंकि जीभ मुख के भीतर रहती है, किन्तु तीव्र० = तीव्रः यः विषम् एव अग्निः तस्य यः धूमपटलः = धूमसमूहः तेन व्याजिह्माः = वक्रीभूताः हततेजस्काः इति यावत् रत्नानां त्विषः = कान्तयः यासां तथाभूताः (ब० व्री०) (तेज विष की आग के धूमसमूह से जिनकी मणियों की कान्तियाँ फीकी पड़ गई हैं—ऐसी) दुःसह० = दुःसहेन शोकेन यत् फूत्कृतम् = फूं-फूं इति शब्दः तस्य मरुता स्फीताः (असह्य दुःख के कारण किये गये फूत्कार के वायु से फूली हुई) शङ्खचूड के दुःख का कारण गरुड़ द्वारा जीमूतवाहन जैसे महापुरुष का वध है। एताः फणाः न पश्यसि (किम्) (इन फणाओं को क्या नहीं देखते हो?) तात्पर्य यह है कि मुझ में और इस में बड़ा अन्तर है। उसका स्वस्तिक-चिह्न न भी देखा, तो उसके शरीर में केंचुली का अभाव तो प्रत्यक्ष ही था। इसी तरह यदि मेरी दो जीभ तुम्हें नहीं भी दिखाई पड़ीं तो फण तो दिखाई देने चाहिए थे। हम दोनों में इतना भेद होते हुए भी तुमने अक्षम्य गलती की कि इसे खा गये।(१८)

गरुडः—[उभौ निरूप्य, शङ्खचूडस्य फणां दृष्ट्वा] तत् कः खलु मया व्यापादितः ?

शङ्खचूडः—विद्याधरवंशतिलको जीमूतवाहनः। कथमकार्य केन त्वया इदमनुष्ठितम् ?

गरुडः—अये अयमसौ विद्याधरकुमारो जीमूतवाहनः !

मेरौ मन्दरकन्दरासु हिमवत्सानौ महेन्द्राचले।
कैलासस्य शिलातलेषु मलयप्राग्भारदेशेष्वपि।
उद्देशेष्वपि तेषु तेषु बहुशो यस्य श्रुतं तन्मया।
लोकालोकविचारिचारणगणैरुद्गीयमानं यशः ॥ १९ ॥

सर्वथा महत्यंहःपङ्के निमग्नोऽस्मि !।

मेरौ—मेरौ (सुमेरुपर्वत पर) मन्दर० = मन्दरस्य कन्दरासु (मन्दराचल की गुफाओं में) हिमवत्० = हिमम् अस्य अस्तीति हिमवान् तस्य सानौ (हिमालय की चोटी पर) महेन्द्रा० (महेन्द्र पर्वत पर) कैलासस्य शिलातलेषु (कैलास की चट्टानों में) मलय० = मलयस्य प्राग्भारदेशाः = उन्नताः शिखरप्रदेशाः तेषु (मलयाचल की अधित्यकाओं—पठारों—में) तेषु तेषु उद्देशेषु अपि (अन्य तत्तत्-स्थानों में भी) लोका० = लोकालोके विचारिणः = विचरणशीला ये चारणाः = देवानां स्तुति-पाठकाः देवयोनिविशेषाः तेषां गणैः उद्गीयमानम् (लोकालोक पर्वत पर घूमनेवाले चारणों के गणों से गाया जाता हुआ) यस्य तत् यशः मया बहुशः श्रुतम् (जिसका यश मैंने बहुत बार सुना है)। 'लोकालोक' नाम का पुराणों में एक पर्वत बताया गया है, जो समुद्र-जल से परे पृथ्वी के इर्द-गिर्द है; यही पृथ्वी का अन्त है। इसको लोकालोक इसलिए कहते हैं कि इसके इस तरफ से तो लोक = प्रकाश है और उस तरफ अलोक = अन्धकार है। कालिदास ने भी रघुवंश में इसका यों वर्णन किया है—"प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः।" (१९)

सर्वथा—अंहः एव पङ्कः तस्मिन् (पाप-रूपी कीचड़ में)। उद्विग्न (घबराया खिन्न)। किम...वेगस्य = (क्या यह आवेग—घबराहट—व्याकुलता—का स्थान नहीं है ?)

१ दिक्कुञ्जेष्वपि।

नायकः—भोः फणिपते ! किमेवमुद्विग्नोऽसि ? ।

शङ्खचूडः—किमस्थानमिदमावेगस्य ?

स्वशरीरेण शरीरं तार्क्ष्यात् परिरक्षता मदीयमिदम् ।

युक्तं नेतुं भवता पातालतलादपि तलं माम् ? ॥ २० ॥

गरुडः—अये ! करुणार्द्रचेतसा अनेन महात्मना अस्मद्ग्रास-गोचरपतितस्यास्य फणिनः प्राणान् रक्षितुं स्वदेह आहारार्थमुपनीतः । तन्महदकृत्यमेतन्मया कृतम् । किं बहुना, बोधिसत्त्व एवायं व्यापादितः । तस्य महतः पापस्याग्निप्रवेशादृते नान्यत् प्रायश्चित्तं पश्यामि । तत् क नु खलु वह्निं समासादयामि ? [दिशः पश्यन्] अमी ! अमी केऽपि गृहीताग्नय इत एवागच्छन्ति । तद् यावदेतान् प्रतिपालयामि ।

शङ्ख०—कुमार ! पितरौ ते प्राप्तौ ।

नायकः—[ससम्भ्रमम्] शङ्खचूड ! समुपविश्यानेनोत्तरीयेणाच्छादितशरीरं कृत्वा धारय माम् । अन्यथा कदाचिदीदृशं सहसैवं मां दृष्ट्वा पितरौ जीवितं जह्याताम् ।

शङ्खचूडः—[पार्श्वपतितमुत्तरीयं गृहीत्वा तथा करोति ।]

स्वशरी०—मदीयं इदं शरीरम् (मेरे इस शरीर को) स्वशरीरेण तार्क्ष्यात् परिरक्षता (अपने शरीरद्वारा गरुड़ से बचाते हुए) भवता (आप के द्वारा) पातालतलात् अपि तलं नेतुं (किं) युक्तम् ? (पाताल से भी नीचे ले जाना क्या ठीक है ?) अर्थात् अपना शरीर दे कर आपने मुझे बचा तो लिया, पर मैं अब कहीं का भी न रहा, मुझे घोर नरक भोगना पड़ेगा । यह तो मेरा उपकार नहीं बल्कि अपकार ही हुआ । (२०)

अये—करुणा० = करुणया आर्द्रं चेतः यस्य तेन (ब० व्री०) (दया से गीले-कोमल-हुए चित्त वाला) अस्मत्० = अस्माकं ग्रासस्य गोचरे पतितस्य (हमारा ग्रास-भोजन-बने हुए) महत् अकृत्यम् (बहुत बुरा काम) अग्नि० = अग्नौ प्रवेशः तस्मात् ऋते (अग्नि में प्रवेश के अतिरिक्त) समासादयामि (प्राप्त करूँ) गृहीता० = गृहीतः अग्निः यैः तथाभूताः (आग लिये हुए) प्रतिपालयामि (प्रतीक्षा करता हूँ) ।

शङ्ख०—समुपविश्य (आ करके) आच्छा० = आच्छादितं शरीरं यस्य तथाभूतम् (ब० व्री०) (ढके शरीरवाला) ।

[ततः प्रविशति पत्नीवधूसमेतो जीमूतकेतुः ।]

जीमूतकेतुः—[सास्रम्] हा पुत्र जीमूतवाहन !—

आत्मीयः पर इत्ययं खलु कुतः सत्यं कृपायाः क्रमः ?
'किं रक्षामि बहून् किमेक'मिति ते जाता न चिन्ता कथम्?।
तार्क्ष्यात्त्रातुमहिं स्वजीवितपरित्यागं त्वया कुर्वता,
येनाऽऽत्मा, पितरौ, वधूरिति हतं निःशेषमेतत्कुलम्!॥२१॥

वृद्धा—[मलयवतीमुद्दिश्य] जादे ! विरम मुहुत्तअं । अविरतणि-वडंतवाप्पबिंदूहिं अहिहवीअदि अअं अग्गी । [जाते ! विरम मुहूर्त्तकम्।

आत्मीयः—अयम् आत्मीयः अयं परः—इति सत्यं कृपायाः क्रमः कुतः खलु ? (यह अपना है, यह पराया है—इस तरह सचमुच दया का क्रम—विचार क्यों हो ?) अर्थात् दया करते समय अमुक व्यक्ति अपना है, इसलिए उस पर दया करनी चाहिए और अमुक व्यक्ति पराया है, इसलिए उसपर दया नहीं करनी चाहिए ऐसा भेद-भाव ठीक नहीं—यह हम मानते हैं। हम पर दया न करके एक अपरिचित नाग पर दया करना तुम्हारा ठीक ही है (देखिए भर्तृहरि—"अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्..." किन्तु बहून् रक्षामि किम् एकं रक्षामि किम् इति ते चिन्ता कथं न जाता ? (बहुतों की रक्षा करूँ अथवा एक की रक्षा करूँ—यह विचार तुमने क्यों नहीं किया ?) येन तार्क्ष्यात् अहिं त्रातुम् (जिसने गरुड़ से नाग को बचाने के लिए) स्वजीवित० = स्वस्य जीवितम् तस्य परित्यागम् (ष० तत्पु०) (अपना जीवन-परित्याग) कुर्वता त्वया (करते हुए तुमने) आत्मा, पितरौ वधूः एतत् कुलं निःशेषं हतम् (अपने आपको, मातापिता को और अपनी वधू को—इस तरह सारे के सारे कुल को नष्ट कर डाला) यह बुद्धिमानी नहीं है। जहां एक के मर जाने से चार बचते हों, वहां एक को मरने देना ही ठीक है। तुमने एक नाग को मरने देना था, तब हम चार तो नहीं मरते। एक नाग को बचाकर हम चारों को मारने में तुमने मूर्खता की है। (देखिए कालिदास—"अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्" रघुवंश) (२१)

जाते—अविरत० = अविरतं यथा स्यात् तथा निपतद्भिः बाष्पस्य बिन्दुभिः

अविरतनिपतद्बाष्पबिन्दुभिरभिभूयतेऽयमग्निः ।]

[सर्वे परिक्रामन्ति।]

जीमू०—हा पुत्र जीमूतवाहन!

गरुडः—[श्रुत्वा] हा जीमूतवाहन! इति ब्रवीति। तद् व्यक्तमयमस्य पिता। तत् किमेतदीयेनाग्निना आत्मानमुद्दीपयामि? न शक्नोम्यस्य पुत्रघातात्लज्जया मुखं दर्शयितुम्। अथवा किमग्निहेतोः पर्य्याकुलोऽस्मि? समीपस्थ एवास्मि जलनिधेः। तद् यावदिदानीम्—

ज्वालाभङ्गैस्त्रिलोकग्रसनरसचलत्कालजिह्वाग्रकल्पैः
सर्पद्भिः सप्त सर्पिष्कणमिव कवलीकर्त्तुमीशे समुद्रान्।
स्वैरेवोत्पातवातप्रसरपटुतरैर्धुक्षिते पक्षवातै-
रस्मिन् कल्पावसानज्वलनभयकरे वाडवाग्नौ पतामि॥ २२॥

[इत्युत्थातुमिच्छति।]

(लगातार गिरते हुए आंसुओं के बूंदों से) अभिभूयते (बुझ रही है)। व्यक्तम् (साफ) एतदीयेन=एतस्यायम् एतदीयः तेन एतत्+ईय (छ) (इसकी ही (आग से)) पर्याकुलः (परेशान)।

ज्वाला०—उत्पात०=उत्पाते ये वाताः तेषां प्रसरात् अतिशयेन पटुभिः (प्रलय-काल के वायुओं के चलने से और भी तेज़ हुई) स्वैः एव पक्षवातैः (अपने ही पंखों की हवा से भड़की हुई) (अतः एव) त्रिलोक०=त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकम् (समाहारद्वं०) तस्य ग्रसने यः रसः तेन चलन्ती या कालस्य जिह्वा तस्याः अग्रं तत्कल्पैः=तत्सदृशैः (सादृश्यार्थे कल्पप् प्रत्ययः) (तीनों ही लोकों के निगलने के स्वाद के कारण फड़कती हुई काल की जिह्वा के अग्रभाग की तरह) सर्पद्भिः ज्वालाभङ्गैः (फैलती हुई लपटों की तरंगों से) सप्त समुद्रान् (सातों समुद्रों को) सर्पि०=सर्पिषः कणम् इव (घी के कण की तरह) कवली०=अकवलं कवलं सम्पद्यमानं कर्तुम् (च्वि) (ग्रास बनाने—अर्थात् भस्म कर डालने को) ईशे (समर्थ) कल्पा०=कल्पस्य अवसाने यः ज्वलनः तद्वत् भयङ्करे (कल्प की समाप्ति अर्थात् प्रलयकाल की आग की तरह भयानक) अस्मिन् वाडवाग्नौ (इस वाडवानल में) पतामि (गिर पड़ता हूँ)। प्रलय के समय समुद्रों के भीतर चट्टानों के टकराने से घोड़े के मुंह—जैसी आग पैदा होती है, उसे वाडवाग्नि कहते हैं। (२२)

नायकः—भोः पक्षिराज ! अलमनेनाध्यवसायेन । नाऽयं प्रती-
कारोऽस्य पाप्मनः ।

गरुडः—[जानुभ्यां स्थित्वा कृताञ्जलिः] भो महात्मन् ! कस्तर्हि
कथ्यताम् ? ।

नायकः—प्रतिपालय क्षणमेकम् । पितरौ मे प्राप्तौ । यावदेतौ
प्रणमामि ।

गरुडः—एवं क्रियताम् ।

जीमूतकेतुः—[दृष्ट्वा सहर्षम्] देवि ! दिष्ट्या वर्द्धसे । अयमसौ
वत्सो जीमूतवाहनो न केवलं भ्रियते, प्रत्युत पुरः कृताञ्जलिना गरुडेन
शिष्येणेव पर्य्युपास्यमानस्तिष्ठति ।

वृद्धा—महाराअ ! किअत्थम्हि । अक्खदसरीरस्स एव्व पुत्तअस्स
मुहं दिट्ठं । [महाराज ! कृतार्थाऽस्मि । अक्षतशरीरस्यैव पुत्रकस्य मुखं दृष्टम् ।]

मलयवती—अहं अज्जउत्त पेक्खिन्तीवि असंभावणीयं ति करिअ
ण पत्तिआमि । [अहमार्य्यपुत्रं प्रेक्षमाणाप्यसम्भावनीयमिति कृत्वा न प्रत्येमि।]

जीमूतकेतुः—[उपसृत्य] वत्स ! एह्येहि, परिष्वजस्व माम् ।

नायकः—[उत्थातुमिच्छन् पतितोत्तरीयो मूर्च्छति ।]

भोः—अध्यवसायेन (निश्चय से (बस करो)) प्रतीकार (शोध, प्रायश्चित्त)
पाप्मनः = (पाप्मन् पुंल्लि० ष० एकव०) पाप का ।

देवि—दिष्ट्या वर्धसे (बधाई हो) भ्रियते (जी रहा है) प्रत्युत (बल्कि)
पर्युपास्यमानः = परि + उप + √ आस् + (कर्मवाच्य में) शानच् (सेवित किया जाता
हुआ ।)

महाराज—अक्षत० = न क्षतं शरीरं यस्य तथाभूतस्य (ब० व्री०) (जिस का
शरीर क्षत-नष्ट-नहीं है, अर्थात् जीवित, कुशलयुक्त) । असम्भावनीयम् (असम्भव)

वत्स—एह्येहि = एहि + एहि (आओ, आओ) परिष्वजस्व (आलिंगन करो,
गले लगाओ) । पतितो० = पतितम् उत्तरीयं यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) (जिस की
चादर गिर पड़ी है—ऐसा ।) सम्भाविता (सन्मान किया ।)

शङ्खचूडः—कुमार! समाश्वसिहि समाश्वसिहि।

जीमू०—हा वत्स! कथं मां दृष्ट्वापि परित्यज्य गतोऽसि?

वृद्धा—हा पुत्तअ! कहं वाआमेत्तकेण वि तुए ण संभाविदह्मि?।
[हा पुत्रक! कथं वाङ्मात्रेणापि त्वया न सम्भाविताऽस्मि?]

मलयवती—हा अज्जउत्त! कहं गुरुअणो वि दे ण पेक्खिदव्वो?।
[हा आर्यपुत्र! कथं गुरुजनोऽपि ते न प्रेक्षितव्यः]

[सर्वे मोहं गच्छन्ति।]

शङ्खचूडः—हा शङ्खचूडहतक! कथं गर्भ एव न विपन्नोऽसि, येनैवं क्षणे क्षणे मरणातिगं दुःखमनुभवसि?

गरुडः—सर्वमिदं मम नृशंसस्याऽसमीक्ष्यकारिताया विजृम्भितम्। तदेवं तावत् करोमि। [पक्षाभ्यां वीजयन्] भो महात्मन्! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि।

नायकः—[समाश्वस्य] शङ्खचूड! समाश्वासय गुरून्।

शङ्खचूडः—तात! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि। अम्ब! समाश्वसिहि, समाश्वसिहि। समाश्वसितो जीमूतवाहनः, किं न पश्यथ। प्रत्युत युष्मानेव समाश्वासयितुमुपविष्टस्तिष्ठति।

[उभौ समाश्वसितः।]

वृद्धा—पुत्त! कहं पेक्खंताणं ज्जेव्व अम्हाणं किदंतहदएण अवहारीअसि?। [पुत्र कथं प्रेक्षमाणानामेवास्माकं कृतान्तहतकेनापह्रियसे?]

हा—विपन्नः = वि + √ पद् + क्तः (नष्ट, मृत) मरणा० = मरणम् अतिक्रम्य गच्छतीति (मृत्यु से भी अधिक) नृशंसस्य (कठोर, निर्दयी) असमीक्ष्य० = सम् + √ ईक्ष् + ल्यप् = समीक्ष्य न करोतीति असमीक्ष्यकारी तस्य भावः तत्ता तया (बिना सोचे-समझे किये का) विजृम्भितम् (प्रसार, कार्य, फल) वीजयन् (पंखा करता हुआ)

पुत्र०—प्रेक्षमाणानाम् एव अस्माकम् (Absolute Phrase) (हमारे देखते-देखते) कृतान्त० = हतः एव हतकः कृतान्तश्चासौ हतकः तेन (दुष्ट मृत्युद्वारा) अपह्रियसे = अप + √ हृ + कर्मवाच्ये लट् (छिना—चुराया—जा रहा है)। अम-अमङ्गल = अमङ्गलं वदतीति अमङ्गल + √ वद् + णिनि + ई (अमंगल बोलने वाली)

जीमूतकेतुः—देवि! मैवममङ्गलवादिनी भव। भ्रियत एव युष्मान्। तद् वधूः समाश्वास्यताम्।

वृद्धा—[मुखं वस्त्रेणावृत्य रुदती] पडिहदममंगलम्। ण रोइस्सम् मलअवदि! समस्सस! वच्छे! उट्ठेहि उट्ठेहि। वरं एत्ति अवेलं तु भत्तुणो मुहं पेक्ख। [प्रतिहतममङ्गलम्। न रोदिष्यामि। मलयवति! समाश्वसिहि। वत्से। उत्तिष्ठ उत्तिष्ठ। वरमेतस्यां वेलायां त्वं भर्त्तुर्मुखं प्रेक्षस्व।]

मलयवती—[समाश्वस्य] हा अज्जउत्त! [हा आर्य्यपुत्र!]

वृद्धा—[मलयवत्या मुखं पिधाय] वच्छे मा! एव्वं करेहि। पडिहदं क्खु एदं। [वत्से! मैवं कुरु। प्रतिहतं खल्वेतत्।]

जीमूतकेतुः—[सास्रमात्मगतम्]—

विलुप्तशेषाङ्गतया प्रयातान् निराश्रयत्वादिव कण्ठदेशम्।
प्राणाँस्त्यजन्तं तनयं निरीक्ष्य कथं न पापः

शतधा व्रजामि ॥२३॥

मलयवती—हा अज्जउत्त! अदिदुक्खरकारिणी क्खु अहं, जा ईरिसं अज्जउत्तं पेक्खंती अज्जवि जीविअ ण परिच्चआमि! [हा आर्य्यपुत्र! अतिदुष्करकारिणी खल्वहं, या ईदृशमार्यपुत्रं प्रेक्षमाणाऽद्यापि जीवितं न परित्यजामि!]

वृद्धा—[नायकस्याङ्गानि स्पृशन्ती गरुडमुद्दिश्य] णिसंस! कहं दाणि तुए एदं आपूरिअमाणणवरूवजोव्वणसोहं तं ज्जेव्व एदावदवत्थं पुत्त

विलुप्त०—विलुप्तानि = उत्कृत्य खादितानि शेषाणि (कण्ठं विहाय) अन्यानि अङ्गानि यस्य सः (ब० व्री०) तस्य भावः तया (शेष अंगों के लुप्त हो जाने—खाये जाने-से) निराश्र० = निर्गतः आश्रयः यस्य सः तस्य भावः तस्मात् (आश्रय-रहित होने के कारण मानो) कण्ठदेशं प्रयातान् प्राणान् त्यजन्तम् (गले में आये हुए प्राणों को छोड़ते हुए) तनयं निरीक्ष्य (पुत्र को देखकर) पापः = (अहम्) कथं शतधा न व्रजामि (मैं पापी क्यों टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाता) । (२३)

अस्स मे सरीरं किदम्? [नृशंस! कथमिदानीं त्वया एतदापूर्यमाणनव-रूपयौवनशोभं तदेव एतदवस्थं पुत्रकस्य मे शरीरं कृतम्?]

नायकः—अम्ब! मा मैवम्। किमनेन कृतम्? ननु पूर्वमप्येतदीदृशमेव परमार्थतः। पश्य,—

मेदोऽस्थिमांसमज्जाऽसृक्सङ्घातेऽस्मिंस्त्वचाऽऽवृते।
शरीरनाम्नि का शोभा सदा बीभत्सदर्शने? ॥ २४ ॥

गरुडः—भो महात्मन्! नरकाऽनलज्वालाऽवलीढमिवाऽऽत्मानं मन्यमानो दुःखं तिष्ठामि। तदुपदिश्यतां, येन मुच्येऽहमस्मादेनसः।

नायकः—अनुजानातु मां तातो, यावदस्य पापस्य प्रतिपत्तमुपदिशामि।

जीमूतकेतुः—वत्स! एवं क्रियताम्।

नृशंस—आपूर्य० = आपूर्यमाणानि नवं रूपं, यौवनं, शोभा च यस्मिन् तथाभूतम् (ब० व्री०) (नये रूप, यौवन तथा सुन्दरता से खूब भरपूर)। एतावद० = एतावती अवस्था यस्य तत् (ब० व्री०) (इतनी—ऐसी—हालत वाला)

मेदो०—अस्मिन् त्वचा० = त्वचया आवृते (इस त्वचा से ढके हुए) शरीर० = शरीरं नाम यस्य तथाभूते (ब० व्री०) ('शरीर'—यह नामधारी) सदा बीभत्स० = बीभत्सम् = जुगुप्सितम्, घृणितम् दर्शनं यस्य तथाभूते (ब० व्री०) (घृणित दिखाई देनेवाले) मेदोऽस्थि० = मेदश्च अस्थीनि च मांसञ्च मज्जा च असृक् च तेषां समाहारः मेदो० तस्य सङ्घातः तस्मिन् (चरबी, हड्डियों, मांस, मज्जा तथा खून के समूह में) का शोभा (क्या सुन्दरता?) अर्थात् हड्डी-मांस-आदि के पुतले में किस बात की शोभा? यह तो एक घृणा की चीज़ है। लोगों को भ्रान्ति ही है कि शरीर सुन्दर है। (देखिये—"मांस मेदो रुधिरं रोम नखं देहतो विनिष्क्रम्। बीभत्से सङ्घाते रमणीयमहो विमोहमाहात्म्यम्।") (२४)

भो—नरका० = नरकस्य ये अनलाः तेषां ज्वालाभिः अवलीढम् (नरक की अग्नियों की लपटों से चाटा—जलाया—जाता हुआ-सा) मुच्ये = √मुच्+कर्मवाच्य में लट् उत्तम पु० एकव० (छूट जाऊँ) एनसः (पञ्चमी एकव०) (पाप से) प्रतिपत्तम् (प्रतिकूल गई अर्थात् प्रायश्चित)

नायकः—वैनतेय ! श्रूयताम् ।

गरुडः—[जानुभ्यां स्थित्वा कृताञ्जलिः] आज्ञापय ।

नायकः—

नित्यं प्राणाभिघातात् प्रतिविरम कुरु प्राक्कृतस्यानुतापं
यत्नात् पुण्यप्रवाहं समुपचिनु दिशन् सर्वसत्त्वेष्वभीतिम् ।
मग्नं येनात्र नैनः फलति परिणतं प्राणिहिंसासमुत्थं
दुर्गाधे वारिपूरे लवणपलमिव क्षिप्तमन्तर्ह्रदस्य ॥ २५ ॥

गरुडः—यदाज्ञापयसि ।

अज्ञाननिद्राशयितो भवता प्रतिबोधितः ।

नित्यम्—प्राणाभिघातात् नित्यं प्रतिविरम (प्राण-हिंसा को सदा बन्द कर दो) प्राक् कृतस्य अनुतापं कुरु (पूर्व किये हुए हिंसा-कार्यों का पश्चात्ताप करो) । सर्वसत्त्वेषु अभीतिं दिशन् (सभी प्राणियों को अभय-दान देते हुए) यत्नात् पुण्यप्रवाहं समुपचिनु (यत्नपूर्वक अपने पुण्य का प्रवाह संचित करो) येन प्राणि...त्थम्=प्राणिनां या हिंसा ततः समुत्तिष्ठतीति (उपपदतत्पु०) (प्राणियों की हिंसा से पैदा हुआ) परिणतम् (परिपक्व हुआ) एनः (पाप) अत्र मग्नं (सत्) (इस (पुण्य-प्रवाह) में डूबा हुआ) ह्रदस्य अन्तः (झील के भीतर) दुर्गाधे वारिपूरे=वारिणः पूरे (ष० त०) (अगाध जल-समूह में) क्षिप्तं लवणपलम्=लवणस्य पलम् ("कर्ष-चतुष्टयम्"=छटांकभर) इव (डाले हुए थोडे से नमक की तरह) न फलति (न फले, अपना फल न देवे) (अर्थात् जिस प्रकार झील के अगाध जलराशि में फेंकी हुई नमक की डली घुलकर अपना कोई भी फल नहीं दिखाती, उसी प्रकार तुम्हारा पुण्य प्रवाह इतना अधिक हो जाना चाहिए कि जिस में तुम्हारा थोडा-सा प्राणिहिंसा-रूप पाप अपना महत्त्व खो बैठे । इस श्लोक में बौद्ध धर्म के मुख्य सिद्धान्त—अहिंसा—का प्रतिपादन है । (२५)

अज्ञान०—अज्ञान०=न ज्ञानम् अज्ञानम् तत् एव निद्रा तया शयितः (अज्ञान-रूपी नींद में सोया हुआ) भवता प्रतिबोधितः (आप से जगाया गया) एषः अहम् (यह मैं) अद्यप्रभृति (आज से लेकर) सर्व०=सर्वे च ते प्राणिनः

सर्वप्राणिवधादेष विरतोऽद्य प्रभृत्यहम् ॥ २६ ॥

सम्प्रति हि—

क्वचिद् द्वीपाकारः पुलिनविपुलैर्भोगनिवहैः,
कृतावर्त्तभ्रान्तिर्वलयितशरीरः क्वचिदपि ।
व्रजन् कूलात् कूलं क्वचिदपि च सेतुप्रतिसमः
समाजो नागानां विहरतु महोदन्वति सुखम् ॥ २७ ॥

अपि च—

स्रस्तानापादलम्बान् घनतिमिरनिभान् केशपाशान् वहन्त्यः
सिन्दूरेणेव दिग्धैः प्रथमरविकरस्पर्शताम्रैः कपोलैः ।

तेषां वधात् (सभी प्राणियों की हिंसा से) विरतः (रुक गया हूँ) अर्थात् आज से ज़रा भी हिंसा नहीं करूँगा।

क्वचित्—क्वचित् पुलिन-विपुलैः=पुलिनवत्=तीरवत् विपुलैः (कहीं तीर की तरह विशाल) भोग०=भोगानाम्=फणानाम् निवहैः (फणाओं के समूहों से) द्वीपा०=द्वीपवत् आकारः यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) (द्वीप–जैसे आकारवाला) क्वचित् अपि वलयित०=वलयितानि=कुण्डलीकृतानि शरीराणि येन सः (ब० व्री०) (कहीं शरीरों को कुण्डलाकार बनाता हुआ) कृता०=कृता आवर्त्तस्य=जलानां भ्रमस्य भ्रान्तिः येन तथाभूतः (ब० व्री०) (आवर्त–जलके भँवर–का भ्रम पैदा करता हुआ) क्वचित् अपि च कूलात् कूलं व्रजन् सेतु०=सेतुसदृशः (कहीं एक तीर से दूसरे तीर को जाता हुआ पुल–जैसा) नागानां समाजः (नागों का समूह) महो०=महान् चासौ उदन्वान् तस्मिन् (महान् समुद्र में) सुखं विहरतु (सुखपूर्वक विहार करे)। (२७॥)

स्रस्ता०—स्रस्तान् (बिखरे हुए) आपाद०=आपादं लम्बन्ते इति आपाद० तान् (पैरों तक लम्बे लम्बे) घन०=घनं यत् तिमिरं तन्निभान्=तत्सदृशान् (घने अन्धकार की तरह (काले–काले)) केशपाशान् (केश-समूहों को) वहन्त्यः (धारण करती हुई) प्रथम०=प्रथमः रवेः किरणानां यः स्पर्शः तेन ताम्रैः (सूर्य की किरणों के प्रथम स्पर्श से लाल-लाल) सिन्दूरेण इव दिग्धैः (सिन्दूर से

आयासेनाऽलसाङ्ग्योऽप्यवगणितरुजः कानने चन्दनाना-
मस्मिन् गायन्तु रागादुरगयुवतयः कीर्तिमेतां तवैव ॥२८॥

नायकः—साधु महासत्त्व! साधु!! अनुमोदामहे। सर्वथा दृढसमाधानो भव। [शङ्खचूडं निर्दिश्य] शङ्खचूड! त्वयापि स्वगृहमिदानीं गम्यताम्।

शङ्खचूडः—[निःश्वस्याऽधोमुखस्तिष्ठति।]

नायकः—[निःश्वस्य, मातरं पश्यन्]

उत्प्रेक्षमाणा त्वां तार्क्ष्यचञ्चुकोटिविपाटितम्।
त्वद्दुःखदुःखिता नूनमास्ते सा जननी तव ॥ २९ ॥

पुते हुए—जैसे) कपोलैः (गालों से (उपलक्षिताः=युक्त)) अबतक गरुड़ के भय से नाग-कन्यायें नागलोक में ही रहा करती थीं, भूलोक नहीं आती थीं, किन्तु अब वे भूलोक में आया करेंगी और ज्यों ही सूर्योदय की किरणों का प्रथम स्पर्श उनके कपोलों पर होगा, तो वे सिन्दूर जैसे लाल हो चमक उठेंगे। आयासेन (श्रम के कारण) अलसा०=अलसानि अङ्गानि यासां तथाभूताः (ब० व्री०) अपि (अलसाये हुए अंगोंवाली होती हुई भी) नागसुन्दरियों का यशोगान करते एवं पाताल से भूलोक तक इतस्ततः परिभ्रमण आदि से थक जाना स्वाभाविक ही है, किन्तु अवगणि०=अवगणिताः रुजो याभिः ताः (ब० व्री०) (श्रमजनित क्लेश को न गिनती हुई—उसकी जरा भी पर्वाह न करती हुई) उरग०=उरसा गच्छन्तीति उरगाः तेषां युवतयः (नागों की नवयुवतियाँ) अस्मिन् चन्दनानां कानने (इस चन्दनों के वन में) एतां तव एव कीर्तिम् रागात् गायन्तु (तुम्हारी ही इस कीर्ति को प्रेम के साथ गान करें।)

साधु०—अनुमोदामहे (अनुमोदन—समर्थन—करते हैं) दृढ०=दृढं समाधानम्=निश्चयः यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) (पक्के निश्चय वाला)।

उत्प्रेक्ष०—तार्क्ष्य०=तार्क्ष्यस्य चञ्च्वाः कोट्या विपाटितम् (गरुड़ की चोंच के अग्रभाग से विदारित=फाड़ा हुआ) त्वाम् उत्प्रेक्षमाणा (तुझे समझती हुई) तव सा जननी (तेरी वह माता) त्वद्दुःख०=नूनं तव दुःखम् तेन दुःखिता आस्ते (तेरे दुःख से सचमुच दुःखित हो रही होगी।) (२९)

वृद्धा—[सास्रम्] धरणा, क्खु सा जणणी, जा गरुडमुहपडिदस्स अक्खदसरीरस्स ज्जेव्व पुत्तअस्स मुहं पेक्खिस्सदि। [धन्या खलु सा जननी, या गरुडमुखपतितस्याक्षतशरीरस्यैव पुत्रकस्य मुखं प्रेक्षिष्यते।]

शङ्ख०—अम्ब! सत्यमेवैतत्, यदि कुमारः स्वस्थो भविष्यति।

नायकः—[वेदनां नाटयन्] हहह! परार्थसम्पादनामृतरसास्वादाक्षिप्तत्वादेतावतीं वेलां मया न लक्षिताः; सम्प्रति तु मां बाधितुमारब्धा मर्मच्छेदिन्यो वेदनाः। [मरणावस्थां नाटयति।]

जीमूतकेतुः—[ससंभ्रमम्] हा वत्स किमेवंकरोषि?

वृद्धा—हा! किंणु क्खु एव्वं वत्तदि? [सोरस्ताडम्] परित्ताअह, परित्ताअह। एसो क्खु मे पुत्तओ विवज्जइ। [हा! किं नु खल्वेवं वर्तते। [सोरस्ताडम्] परित्रायध्वम्, परित्रायध्वम्। एष खलु मे पुत्रको विपद्यते।]

मलयवती—हा अज्जउत्त! परिच्चइदुकामो विअ लक्खीअसि। [हा आर्य्यपुत्र! परित्यक्तुकाम इव लक्ष्यसे।]

धन्या—गरुड़० = गरुड़स्य मुखे पतितस्य (गरुड़ के मुँह में पड़े हुए) अक्षत० = न क्षतं शरीरं यस्य तथाभूतस्य (ब० व्री०) (जिसका शरीर क्षत-विनष्ट—नहीं है, अर्थात् कुशलयुक्त।)

हहह—परार्थ० = परेषाम् अर्थः परार्थः तस्य यत् सम्पादनम् = अनुष्ठानम् (ष० त०) तत्र अमृतस्य इव यः रसः तस्य आस्वादेन आक्षिप्तत्वात् = आक्रान्तत्वात् (परोपकार करने में अमृत जैसे आनन्द के अनुभव से युक्त होने के कारण) एतावतीं वेलाम् (इस समय तक) (क्रिया के लगातार होते रहने में कालवाचक शब्द से द्वितीया हो जाती है। न लक्षिताः वेदनाः (पीड़ा मालुम नहीं हुई) मर्म० = मर्माणि छिन्दन्तीति (उपपदतत्पु०) (मर्मस्थलों का भेदन कर देनेवाली) बाधितुमारब्धाः (तंग करने लगी हैं)।

हा—सोरस्ताडम् = उरसः ताडेन सह वर्तमानं यथा स्यात् तथा (क्रियाविशे०) (छाती पीटती हुई) परित्रायध्वम् (बचाओ) विपद्यते (मर रहा है)। परित्यक्तु० = परित्यक्तुम् कामः यस्य सः (ब० व्री०) (छोड़ना चाहता हुआ) समानय (जोड़ दो,

नायकः—[अञ्जलिं कर्तुमिच्छन्] शङ्खचूड ! समानय मे हस्तौ।

शङ्खचूडः—[कुर्वन्] कष्टम् ! ! अनाथीकृतं जगत्।

नायकः—[अर्द्धोन्मीलितचक्षुः पितरं पश्यन्] तात ! अम्ब ! अयं मे पश्चिमः प्रणामः ।

गात्राण्यमूनि न वहन्ति सचेतनत्वम्
श्रोत्रं स्फुटाक्षरपदा न गिरः शृणोति ।
कष्टं निमीलितमिदं सहसैव चक्षु-
र्हा तात ! यान्ति विवशस्य ममासवोऽमी ॥ ३० ॥

अथवा किमनेन प्रलपितेन। ["संरक्षता पन्नगमेव पुण्यम्–" इत्यादि पठित्वा पतति ।]

वृद्धा—हा पुत्त ! हा वच्छ ! हा गुरुअणवच्छल ! कहिं सि? देहि मे पडिवअणं। [हा पुत्र ! हा वत्स ! हा गुरुजनवत्सल क्वासि? देहि मे प्रतिवचनम् ।]

मिला दो) अनाथी० =(च्वि) (अनाथ बना दिया)। अर्द्धो० =अर्द्धं यथा स्यात् तथा उन्मीलितं चक्षुः येन तथाभूतः (ब० व्री०) (आधी खुली हुई आँखों से) पश्चिमः (अन्तिम)।

गात्राणि—अमूनि गात्राणि सचेतनत्वं न वहन्ति (ये मेरे गात्र (हाथपैर-आदि) चेतनता नहीं रख रहे हैं)। श्रोत्रम् (कान) स्फुटा० =स्फुटानि अक्षराणि पदानि च यस्यां तथाभूताम् (स्पष्ट अक्षर और पदोंवाली) गिरं न शृणोति (वाणी को नहीं सुन सकता) कष्टम् ! इदं चक्षुः सहसा एव निमीलितम् (दुःख है कि यह चक्षु भी एकाएक ही मूंद गये हैं)। हा तात! विवशस्य मम असवः यान्ति (हा पिताजी ! लाचार हुए मेरे ये प्राण जा रहे हैं)। ३०

हा—गुरु० =गुरुजनस्य वत्सलः (माता-पिता के प्यारे) प्रणयि० =प्रणयः अस्य अस्तीति प्रणयी स चासौ जनः तस्य वल्लभ ! (प्रेमी जनों के प्यारे!) सर्व० =सर्वे च ते गुणाः तेषां निधिः तत्सम्बुद्धौ (सब गुणों के खजाने!)

जीमूतकेतुः—हा वत्स जीमूतवाहन ! हा प्रणयिजनवल्लभ ! हा सर्वगुणनिधे ! क्वासि ? । देहि मे प्रतिवचनम् ! । [हस्तावुत्क्षिप्य]

निराधारं धैर्य्यं, कमिव शरणं यातु विनयः ?
क्षमः क्षान्तिं वोढुं क इह ? विरता दानपरता ।
हतं सत्यं सत्यं, व्रजतु कृपणा क्वाद्य करुणा ?
जगज्जातं शून्यं, त्वयि तनय ! लोकान्तरगते ॥ ३१ ॥

मलयवती—हा अज्जउत्त ! कहं परिच्चइअ गदोसि ? अदिणिग्घिणे मलअवदि ! किं तुए पेक्खिदव्वं ? जा एत्तिअं वेलं जीविआसि ? [हा आर्य्यपुत्र ! कथं परित्यज्य गतोऽसि ? अतिनिर्घृणे मलयवति ! किं त्वया प्रेक्षितव्यम् ? या एतावतीं वेलां जीवितासि !]

शङ्खचूडः—हा कुमार ! क्वेमं प्राणेभ्योऽपि वल्लभं जनं परित्यज्य गम्यते ? तदवश्यमन्वेति त्वां शङ्खचूडः ।

गरुडः—[सोद्वेगम्] कष्टम् !! उपरतोऽयं महात्मा । तत् किमिदानीं करोमि ?

निराधारम्—तनय ! त्वयि लोका० = अन्यः लोकः इति लोकान्तरम् तत्र गते (सति) (हे पुत्र ! तुम्हारे परलोक सिधारने पर) धैर्यं निराधारम् = निर्गतः आधारो यस्य तत् (व० व्री०) (धैर्य विना आधार के हो गया है) विनयः कम् इव शरणम् यातु (विनय—नम्रभाव—किसके शरण जायेगा ?) कः इह क्षान्तिम् वोढुम् क्षमः (कौन इस जगत् में क्षमा धारण कर सकेगा ?) दान० = दानम् एव परम् = प्रधानं यस्य तथाभूतः (व० व्री०) तस्य भावः तत्ता (दानशीलता—उदारता—समाप्त हो गई है) सत्यं सत्यं हतम् (सत्य सचमुच नष्ट हो गया है) कृपणा करुणा अद्य क्व व्रजतु (बिचारी करुणा—दया—अब कहां जावे) जगत् शून्यं जातम् (संसार शून्य हो गया है) । (३१)

हा—अतिनिर्घृणे = निर्गता घृणा यस्याः सा (व० व्री०) अतिशयेन निर्घृणा तत्सम्बोधने (अत्यन्त निर्दय, निष्ठुर) अन्वेति (पीछे पीछे आता है) उपरत (मर गया है) लोकपालाः = (संसार के रक्षक आठ देवता होते हैं—"इन्द्रो वह्निः पितृपतिः नैरृतो वरुणो मरुत् । कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात् ।")

वृद्धा—[सास्रमूर्ध्वमवलोक्य] भअवंतो लोअपाला ! कहं पि अमिदेण सिंचिअ पुत्तअं मे जीआवेहि । [भगवन्तो लोकपालाः ! कथमप्यमृतेन सिक्त्वा पुत्रकं मे जीवयत ।]

गरुडः—[सहर्षमात्मगतम्] अये ! अमृतसङ्कीर्त्तनात् साधु स्मृतम् । मन्ये प्रमृष्टमयशः । तद् यावत् त्रिदशपतिमभ्यर्थ्य तद्विसृष्टेनामृतवर्षेण न केवलं जीमूतवाहनम्, एतानपि पूर्वभक्षितानस्थिशेषानाशीविषान् प्रत्युज्जीवयामि । यदि न ददात्यसौ तदाऽहम्—

> पक्षोत्क्षिप्ताम्बुनाथः पटुतरजवनैः प्रेर्य्यमाणैः समीरैः
> नेत्राग्निप्लोषमूर्च्छाविधुरविनिपतत्सानलद्वादशार्कः ।

अये—प्रमृष्टम्=प्र+ √ मस्ज् (शुद्धौ)+क्त (धुल गया है) त्रिदश०=तिस्रो दशाः येषां ते त्रिदशाः (देवाः) देवताओं की तीन ही दशा–अवस्था–बाल्य, कौमार और यौवन–हुआ करती हैं, वृद्धावस्था और मृत्यु–जन्म नहीं अथवा 'त्रि' शब्द को पूरणार्थक मान कर तृतीया अर्थात् यौवन ही एक मात्र अवस्था वाले–यह अर्थ भी हो सकता है, क्योंकि देवता सदा युवा ही रहते हैं। तेषाम् पतिम् (इन्द्र को) अभ्यर्थ्य=अभि+ √ अर्थ्+य (प्रार्थना करके) तद्विसृष्टेन=तेन विसृष्टेन=वि+ √ सृज्+क्त (उसके द्वारा छोड़े गये) अमृत०=अमृतस्य वर्षणं तेन (अमृत-वर्षा से) अस्थि०=अस्थीनि एव शेषः येषां तथाभूतान् (ब० व्री०) (हड्डी-मात्र ही शेष रहे हुए) आशीविषान्=आशीः='तालुगता दंष्ट्रा' तत्र विषं येषां तान् (ब० व्री०) (साँपों को) प्रत्युज्जीवयामि=प्रति+उत्+जीव्+णिच्+लट् (जीवित कर देता हूँ, जिला दूँ)

पक्षो०—प्रेर्यमाणैः ((पंखों द्वारा) प्रेरित–उत्पन्न–किये गये) पटु०=अतिशयेन पटवश्च जवनाश्च (द्वं०) (अति सशक्त और वेगवाले) समीरैः (वायुओं से) पक्षो०—पक्षाभ्याम् उत्क्षिप्तः अम्बुनाथः=समुद्रः येन तादृशः (अहम्) (ब० व्री०) (पक्षों से समुद्र को ऊपर फेंकता–आन्दोलित करता–हुआ) नेत्रा०=नेत्रयोः यः अग्निः तेन यः प्लोषः=दाहः तेन या मूर्च्छा तया विधुरम्=विह्वलम् यथा स्यात् तथा निपतन्तः=स्वस्थानेभ्यः प्रच्यवमानाः सानलाः=अग्निसहिताः द्वादश आदित्याः यस्य तथाभूतः (ब० व्री०) (नेत्रों की आग के दाह से व्याकुल हुए अग्नियुक्त

चञ्च्वा सञ्चूर्ण्य शक्राशनिधनदगदाप्रेतलोकेशदण्डान्
आजौ निर्जित्य देवान् क्षणममृतमयीं वृष्टिमभ्युत्सृजामि ॥३२॥

तदयं गतोऽस्मि !

[इति साटोपं परिक्रम्य निष्क्रान्तः ।]

जीमूतकेतुः—वत्स शङ्खचूड ! किमद्यापि स्थीयते ? समाहृत्य दारूणि पुत्रस्य मे विरचय चितां, येन वयमप्यनेन सहैव गच्छामः ।

वृद्धा—पुत्त शङ्खचूड ! लहु सज्जेहि । दुक्खं अम्हेहि विणा भादुओ दे चिट्ठदि । [पुत्र शङ्खचूड ! लघु सज्जय । दुःखमस्माभिर्विना भ्राता ते तिष्ठति ।]

शङ्खचूडः—[सास्रं] यदाज्ञापयन्ति गुरवः । नन्वग्रत एवाहं युष्माकम् । [उत्थाय चितारचनां कृत्वा] तात ! अम्ब ! सज्जीकृतेयं चिता ।

जीमूतकेतुः—कष्टं ! भोः । कष्टम् !!

उष्णीषः स्फुट एष मूर्धनि विभात्यूर्णेयमन्तर्भ्रुवो-
श्चक्षुस्तामरसानुकारि हरिणा वक्षःस्थलं स्पर्धते ।

बारह सूर्यों को (अपने-अपने स्थानों से) गिराता हुआ) चञ्च्वा शक्रा० = शक्रस्य अशनिम् च धनदस्य गदाम् च प्रेतलोकेशस्य दण्डम् च (द्वं०) सञ्चूर्ण्य (चोंच से इन्द्र के वज्र को, कुबेर की गदा को तथा यम के दण्ड को चूरचूर करके) आजौ देवान् निर्जित्य (युद्ध में देवताओं को जीत कर) अमृत० = अमृतम् एव अमृतमयीम् (स्वरूपार्थे मयट्) वृष्टिम् क्षणम् अभ्युत्सृजामि (अमृत की वर्षा को क्षणभर के लिए कर देता हूँ) । (३२)

वत्स—समाहृत्य = सम् + आ √ हृ + ल्यप् (बटोरकर) लघु सज्जय (जल्दी-जल्दी तय्यार करो) ।

उष्णीषः—प्रथम अङ्क में आये हुए १८ वें श्लोक को थोड़ा-सा बदल कर यहाँ पर पुनरुक्त किया हुआ है, इसलिए इसकी विशेष व्याख्या वहीं देखिए । एष स्फुटः उष्णीषः मूर्धनि विभाति (यह स्पष्ट दिखाई देने वाली उष्णीष की रेखा मस्तक पर विराज रही है) भ्रुवोः अन्तः इयम् ऊर्णा (भौंहों के बीच यह

चक्राङ्कौ चरणौ तथापि हि कथं हा वत्स मद्दुष्कृतै-
स्त्वं विद्याधरचक्रवर्तिपदवीमप्राप्य विश्राम्यसि ॥ ३३॥

जीमू०—देवि! किमपरं रुद्यते? तदुत्तिष्ठ, चितामारोहामः।

[सर्वे उत्तिष्ठन्ति।]

मलयवती—[बद्धाञ्जलिरूर्ध्वं पश्यन्ती] भअवदि गोरि! तुए आणत्तं, जहा—"विज्जाहरचक्कवट्टी भट्टा दे भविस्सदि" त्ति, ता कहं मम मन्दभग्गाए किदे तुमंपि अलीअवादिणी संवुत्ता? [भगवति गौरि! त्वया आज्ञप्तं, यथा—"विद्याधरचक्रवर्ती भर्त्ता ते भविष्यति" इति; तत् कथं मम मन्दभाग्यायाः कृते त्वमप्यलीकवादिनी संवृत्ता?]

[ततः प्रविशति ससम्भ्रमा गौरी]

गौरी—महाराज जीमूतकेतो, न खलु न खलु साहसमनुष्ठातव्यम्।

जीमूतकेतुः—अये! कथममोघदर्शना गौरी?

गौरी—[मलयवतीमुद्दिश्य] वत्से! कथमहमलीकवादिनी भवेयम्!

[नायकमुपसृत्य कमण्डलुजलेनाभ्युक्षन्ती]

निजेन जीवितेनापि जगतामुपकारिणः।

बालों का मौरा है) चक्षुः तामरसानुकारि (आँख कमल-जैसे हैं) वक्षःस्थलं हरिणा स्पर्धते (छाती सिंह से होड़ करती है) चरणौ चक्राङ्कौ (पैर चक्र के चिह्न वाले हैं)। तथापि हा वत्स, मद्दुष्कृतैः (मेरे पापों से) विद्या०...अप्राप्य (विद्याधर-सम्राट् का पद प्राप्त किये विना ही) त्वम् कथं विश्राम्यसि (तुम किस तरह सदा के लिये विश्राम ले रहे हो?) (३३)

भगवति—अलीक०=अलीकं वदतीति (उपपदतत्पु०) (झूठ बोलने वाली) संवृत्ता (बन गई)।

अये—अमोघ०=न मोघम्=विफलं दर्शनं यस्याः तथाभूता (ब० व्री०) (जिसका दर्शन वेकार नहीं जाता है ऐसी) अभ्युक्षन्ती (छिड़कती हुई)।

निजेन—निजेन जीवितेन अपि जगताम् उपकारिणः ते परितुष्टा अस्मि

परितुष्टाऽस्मि ते वत्स! जीव जीमूतवाहन ॥ ३४ ॥

[नायकः उत्तिष्ठति ।]

जीमूतकेतुः—[सहर्षं] देवि! दिष्ट्या वर्द्धसे! प्रत्युज्जीवितो वत्सः।

वृद्धा—भअवदीए पसादेण। [भगवत्याः प्रसादेन।]

[उभौ गौर्य्याः पादयोः पतित्वा नायकमालिङ्गतः।]

मलयवती—[सहर्षं] दिट्ठिआ पच्चुज्जीविदो अज्जउत्तो। [गौर्याः पादयो पतति।] [दिष्ट्या प्रत्युज्जीवित आर्यपुत्रः।]

नायकः—[गौरीं दृष्ट्वा बद्धाञ्जलिः] भगवति!—

अभिलषिताधिकवरदे! प्रणिपतितजनार्त्तिहारिणि! शरण्ये!।
चरणौ नमाम्यहं ते विद्याधरदेवते! गौरि! ॥ ३५ ॥

[इति गौर्य्याः पादयोः पतति।] [सर्वे ऊर्ध्वं पश्यन्ति।]

जीमूतकेतुः—अये! कथमनभ्रा वृष्टिः!! भगवति! किमेतत्?

(अपने प्राणों तक से भी जगत् का उपकार करने वाले तुझपर मैं प्रसन्न हूँ)। वत्स जीमूतवाहन, जीव (पुत्र जीमूतवाहन, जी जाओ)। (३४)

अभिलषिता०—अभि० = अभिलषितात् अधिकं वरं ददातीति तत्सम्बोधने (उपपदतत्पु०) (इच्छा से भी अधिक वर दे डालने वाली!) प्रणि० = प्रणिपतितानाम् जनानाम् आर्त्तिम् हरतीति तत्सम्बोधने (उपपदतत्पु०) (शरण में पड़े हुए लोगों की पीड़ा को हर लेनेवाली।) शरण्ये = शरणे साधुः शरण्यः शरण + यत् + स्त्रियाँ + टाप् तत्सम्बुद्धौ (शरणागत का भला करनेवाली।) विद्या० = विद्याधरैः पूजिते (विद्याधरों से पूजित गौरी।) ते चरणौ अहं नमामि (तुम्हारे चरणों को मैं प्रणाम करता हूँ)। (३५)

अये—अनभ्रा० = न अस्ति अभ्रं = मेघः यस्यां तथाभूता (ब० व्री०) (बिना मेघों की) समुप० = समुपजातः पश्चात्तापः यस्य सः (ब० व्री०) (जिसे पश्चात्ताप हो गया है—ऐसा, पश्चात्ताप करनेवाले)। गरुड़ को नागहिंसा तथा विद्याधर-वध से बड़ा पश्चात्ताप हुआ। देव० = देवानां लोकः तस्मात् (स्वर्ग से)।

गौरी—राजन् जीमूतकेतो ! जीमूतवाहनं प्रत्युज्जीवयितुमेतांश्चास्थिशेषानुरगपतीन् समुपजातपश्चात्तापेन पक्षिपतिना देवलोकादियममृतवृष्टिः पातिता । [अङ्गुल्या निर्दिश्य] किं न पश्यति भवान् ?—

सम्प्राप्ताखण्डदेहाः स्फुटफणमणिभिर्भासुरैरुत्तमाङ्गै-
र्जिह्वाकोटिद्वयेन क्षितिममृतरसास्वादलोभाल्लिहन्तः ।
सम्प्रत्याबद्धवेगा मलयगिरिसरिद्वारिपूरा इवामी
वक्रैः प्रस्थानमार्गैर्विषधरपतयस्तोयराशिं विशन्ति ॥ ३६ ॥

[नायकमुद्दिश्य] वत्स जीमूतवाहन ! न त्वं जीवितदानमात्रस्यैव योग्यः, तदयमपरस्ते प्रसादः ।—

हंसासेवितहेमपङ्कजरजःसम्पर्कपङ्कोज्झितै-
रुत्पन्नैर्मम मानसादुपनतैस्तोयैर्महापावनैः ।

सम्प्राप्त०—सम्प्राप्ता० = सम्प्राप्तः (सम्यक् प्राप्तः) अखण्डः देहः यैः तथाभूताः (ब० व्री०) ((अपने पूर्ववर्ती) देह को ज्यों का त्यों प्राप्त किये हुए) स्फुट० = स्फुटाः ये फणानां मणयः तैः भासुरैः (स्पष्ट दिखाई देनेवाली फनों की मणियों से चमकते हुए) उत्तमाङ्गैः (उपलक्षिताः) शिरों से (युक्त) जिह्वा० = जिह्वायाः कोटिः = अग्रभागः तस्याः द्वयेन (जिह्वा के दोनों अग्रभागों से) अमृत० = अमृतरसस्य यः आस्वादः तस्य लोभात् । (अमृतरस के स्वाद के लोभ के कारण) क्षितिं लिहन्तः (पृथिवी को चाटते-चाटते) एते विषधर-पतयः (ये नागराज) आबद्ध० = आबद्धः = धृतः वेगः यैः ते (ब० व्री०) (वेग रखे हुए, वेगवाले) मलय० = मलयगिरेः याः सरितः तासां वारिणः पूराः इव (मलयाचल की नदियों के जल-प्रवाहों की तरह) वक्रैः प्रस्था० = प्रस्थानस्य मार्गाः तैः (चलने के टेढ़े-मेढे (Zigzag) मार्गों से) सम्प्रति तोयराशिं विशन्ति (अब समुद्र में प्रवेश कर रहे हैं) । (३६)

हंसा०—हंसा० = हंसैः आसेवितानि यानि हेमपङ्कजानि तेषां यत् रजः तस्य सम्पर्के यः पङ्कः तेन उज्झितैः (जिन में हंस बैठे हुए हैं ऐसे स्वर्णकमलों की धूलि के संसर्ग से होनेवाले कीचड़ से रहित) मम मानसात् उत्पन्नैः (मेरे मनरूपी मानसरोवर से उत्पन्न) । मानस शब्द के यहां दो अर्थ हैं : (१) मन

स्वेच्छानिर्मितरत्नकुम्भनिहितैरेषाऽभिषिच्य स्वयं
त्वां विद्याधरचक्रवर्तिनमहं प्रीत्या करोमि क्षणात् ॥३७॥

अपि च—

अग्रेसरीभवतु काञ्चनचक्रमेत-
देष द्विपश्च धवलो दशनैश्चतुर्भिः ।
श्यामो हरिर्मलयवत्यपि चेत्यमूनि

और (२) मानसरोवर । दोनों मानसों में भेद भी दिखला दिया है । मानसरोवर का जल तो स्वर्णकमलों की रज से कीचड़वाला—मैला—सा रहता है, किन्तु मेरे मनरूपी मानसरोवर का जल बिना कीचड़ वाला है, इसीलिए महापावनैः (महा-पवित्र) स्वेच्छा० = स्वेच्छया निर्मिताः ये रत्नकुम्भाः तेषु निहितैः (मेरे अपने ही संकल्प से बने मणियों के घड़ों में रखे हुए) उपनतैः ((इच्छानुसार) प्राप्त हुए) तोयैः अभिषिच्य (जलों से अभिषेक करके) एषा अहं स्वयं प्रीत्या क्षणात् त्वाम् विद्याधर-चक्रवर्तिनं करोमि (यह मैं स्वयं प्रसन्नता से तुम्हें क्षण भर में विद्याधरों का चक्रवर्ती बनाती हूँ)। गौरी में दिव्य शक्ति है जिसके प्रभाव से वह अपने संकल्प-मात्र से सब कुछ कर देती है। (३७)

अग्रेसरी०—एतत् काञ्चन० = काञ्चनस्य चक्रम् तत् एव रत्नम् (यह सोने का पहिया) अग्रे० = अग्रे सरतीति अग्रेसरः (अलुक् समास) अनग्रेसरः अग्रेसरः सम्पद्य-मानः भवतु इति अग्रेसर + च्वि + भू + लोट् (आगे-आगे आनेवाला बने, सब से पहिले तुम्हारे सामने उपस्थित हो) चतुर्भिः दशनैः (युक्तः) एषः धवलः द्विपः च (चार दांतों वाला यह सफेद हाथी) श्यामः हरिः (काले रंग का घोड़ा) मलयवती अपि च (और मलयवती भी) अमूनि ते रत्नानि (ये तुम्हारे लिए रत्न हैं) हे चक्रवर्तिन्! समवलोकय (हे सम्राट्! देखिए)। गौरी जीमूतवाहन को चार वस्तुएं देती है—(१) सुवर्णचक्र (२) सफेद हाथी (३) काला घोड़ा और (४) मलयवती। 'ललित-विस्तर' में सम्राट् के ७ रत्न गिनाये गये हैं, यथा—"तस्येमानि सप्त रत्नानि भवन्ति। तद् यथा चक्ररत्नम्, हस्तिरत्नम्, अश्वरत्नम्, स्त्रीरत्नम्, मणिरत्नम्, गृहपतिरत्नम्, परिणायकरत्नम्।" रत्न शब्द का मुख्य अर्थ है जवाहर (Jewel) किन्तु गौण-

रत्नानि ते समवलोकय चक्रवर्त्तिन् ! ॥ ३८॥

अपि च—आलोक्यन्तामभी शारदशशाङ्कनिर्मलवालव्यजनहस्ता मणिमरीचिरचितेन्द्रचापपंक्तयो भक्त्यावनतपूर्वकायाः प्रणमन्ति मतङ्गदेवादयो विद्याधरपतयः। तदुच्यतां, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि?

नायकः—[जानुभ्यां स्थित्वा] अतः परमपि प्रियमस्ति?—

त्रातोऽयं शङ्खचूडः पतगपतिमुखाद्वैनतेयो विनीत-
स्तेन प्राग्भक्षिता ये विषधरपतयो जीवितास्तेऽपि सर्वे।
मत्प्राणाप्त्या विमुक्ता न गुरुभिरसवश्चक्रवर्त्तित्वमाप्तं,
साक्षात्त्वं देवि! दृष्टा प्रियमपरमतः किं पुनः प्रार्थ्यते यत् ॥३९॥

वृत्ति से 'अपनी जाति में सर्वोत्कृष्ट' को भी रत्न कहते हैं ("जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तद् रत्नमभिधीयते")। प्रस्तुत श्लोक में आदि के चार ही रत्न गिनाये हैं। (३८)

अपि च—शारद०=शरदः अयं शारदः स चासौ शशाङ्कः तद्वत् निर्मलानि यानि वालव्यजनानि तानि हस्तेषु येषां ते (ब० ब्री०) (शरत्काल के चाँद की तरह स्वच्छ चँवरों को हाथों में रखे हुए) मणि०=मणीनाम् मरीचिभिः रचिताः इन्द्रचापानाम् पङ्क्तयः यैस्तथाभूताः (ब० ब्री०) (मणियों की (रंग-बिरंगी) कान्तियों से इन्द्रधनुषों की पंक्तियाँ बनाये हुए) भक्त्या अवन०=अवनतः=नम्रः पूर्वकायः=शिरः येषां तथोक्ताः (ब० ब्री०) (भक्तिपूर्वक शिर को झुकाये हुए) मतङ्ग०=मतङ्गदेवः आदिः येषां ते (ब० ब्री०) (मतङ्गदेवप्रभृति।)

त्रातो—अयं शङ्खचूडः पतग०=पतगानां पतिः तस्मात् भयात् त्रातः (यह शङ्खचूड़ गरुड़ के भय से बचा दिया है) वैनतेयः विनीतः (गरुड़ को सीधा बना दिया है, नीचा दिखा दिया है) तेन ये विषधरपतयः प्राक् भक्षिताः ते सर्वे अपि जीविताः (उसने जो नागराज पहिले खाये थे, वे सब के सब पुनर्जीवित कर दिये हैं) मत्प्रा०=मम प्राणाः तेषाम् आप्त्या=प्राप्त्या (मेरे प्राणों के पुनः प्राप्त हो जाने से) गुरुभिः असवः न मुक्ताः (माता-पिता ने प्राण नहीं त्यागे) चक्रवर्तित्वम् आप्तम् (चक्रवर्ती राज्य प्राप्त कर लिया है) हे देवि! त्वं साक्षात् दृष्टा (हे देवी, तुम्हारे दर्शन हो गए हैं) अतः अपरं प्रियं किम् यत् पुनः प्रार्थ्यते (इससे अधिक प्रिय बात और क्या है जो अब माँगूँ?) (३९)

तथाऽपीदमस्तु । [भरतवाक्यम्]

वृष्टिं हृष्टशिखण्डिताण्डवभृतो मुञ्चन्तु काले घनाः,
कुर्वन्तु प्रतिरूढसन्ततहरिच्छस्योत्तरीयां क्षितिम् ।
चिन्वानाः सुकृतानि वीतविपदो निर्मत्सरैर्मानसै-
र्मोदन्तां सततं च बान्धवसुहृद्गोष्ठीप्रमोदाः प्रजाः ॥४०॥

अपि च—

[1]शिवमस्तु सर्वजगतां, परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः ।

तथा—'भरतवाक्यम्' नाटक का पारिभाषिक शब्द है, इसका अर्थ होता है—"नाटक के अन्त में की जाने वाली प्रार्थना"।

वृष्टिम्—हृष्ट०–शिखण्डः=चूडा एतेषाम् अस्तीति शिखण्डिनः=मयूराः हृष्टाः ये शिखण्डिनः तेषां ताण्डवम् उद्धतनृत्यम् (खुलकर नाचना) बिभ्रतीति (उपपदतत्पु०) (प्रसन्न हुए मयूरों के ताण्डव-नृत्य को रखे हुए मेघाः (बादल) काले वृष्टिम् मुञ्चन्तु (यथासमय वर्षा करते रहें) क्षितिम् प्रति०=प्रतिरूढम्=समुद्भूतम् (जमा हुआ) सततं यत् हरित्=हरिद्वर्णं यत् शस्यम्=धान्यादिकम् तदेव उत्तरीयं यस्याः तथाभूता (ब० व्री०) कुर्वन्तु (पृथिवी को जमे हुए निरन्तर हरे रंग के धान्यादि की चादर ओढे हुए बनाते रहें)। निर्मत्सरैः=निर्गतः मत्सरः येभ्यः तादृशैः (ब० व्री०) (मत्सर–द्वेष–रहित) मानसैः (मनों से) सुकृतानि चिन्वानाः (पुण्य बटोरते हुए) वीतविपदः=विशेषेण इता=गता विपद् याभ्यः तथाभूताः (ब० व्री०) (विपत्ति से रहित) बान्धव०=बान्धवाश्च सुहृदश्च (द्वं०) तेषां गोष्ठीषु प्रमोदः यासां तथाभूताः (ब० व्री०) (बन्धु-बान्धव तथा मित्रजनों की मण्डलियों में आमोद-प्रमोद करते हुए) प्रजाः सततं मोदन्ताम् (प्रजा निरन्तर आनन्द करती रहे)। (४०)

शिवम्—सर्वजगताम् शिवम् अस्तु (चराचरात्मक सकल विश्व का कल्याण हो) भूतगणाः परहितनिरताः=परेषां हिते निरताः भवन्तुः (प्राणिवर्ग परोपकार

[1] क्वचित् पुस्तकेषु एतत् पद्यं नास्ति।

दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥ ४१ ॥

[इति निष्क्रान्ताः सर्वे]

इति पञ्चमोऽङ्कः

समाप्तमिदं नागानन्दं नाम नाटकम्

में लगा रहे) दोषाः नाशम् प्रयान्तु (बुराइयाँ नष्ट होवें) सर्वत्र लोकः सुखी भवतु (सब जगह लोग सुखी रहें)। (४१)

[सब के सब चले जाते हैं]

पाँचवाँ अंक समाप्त

नागानन्द
हिन्दी अनुवाद

पहिला अंक

नान्दी

"ध्यान का बहाना बनाकर किस स्त्री को मन में सोच रहे हो?" "क्षणभर के लिए आँख खोलकर कामदेव के बाणों से पीड़ित हुई हमें तो देखो!" "रक्षक होते हुए भी हमारी रक्षा नहीं करते?" "झूठे ही दयालु हो!" "तुमसे अधिक निर्दयी और कौन पुरुष होगा?"—यों कामदेव की साथवाली युवतियों (अप्सराओं) द्वारा ईर्ष्या—ताने—के साथ कहे जाते हुए, तत्त्वज्ञान के निमित्त समाधि-स्थित बुद्ध भगवान तुम्हारी रक्षा करें। (१)

और भी:—

तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त दृढ ध्यान लगाये हुए वे मुनिराज (शाक्यमुनि=बुद्ध) तुम्हारी रक्षा करें—जिन्हें धनुष तानकर बैठा हुआ कामदेव, तीव्र शब्दवाले नगाड़ों को पीटते तथा उछल-कूद मचाते हुए कामदेव के वीर सैनिक, भ्रू-विलास, कम्प, जम्हाई तथा मुस्कराहट के कारण चञ्चल हुए नयनों वाली अप्सरायें, (आदर भाव से) मस्तक नीचे किये हुए सिद्ध लोग तथा आश्चर्य के कारण रोमाञ्चित हुआ इन्द्र देख रहे हैं किन्तु उनकी समाधि-भंग नहीं कर सकते। (२)

(नान्दी के अनन्तर)

सूत्रधार—बस, अधिक विस्तार न करो। आज 'इन्द्रोत्सव' में बड़े आदर से बुलाकर विभिन्न दिशाओं के देशों से आये हुए, महाराज श्रीहर्ष देव के चरण-कमलों के आश्रय में रहनेवाले राजाओं ने मुझे कहा—"हमारे प्रभु श्रीहर्षदेव ने अद्भुत कथा-वस्तु निर्माण से भूषित, 'विद्याधर-जातक' से सम्बन्ध रखनेवाला 'नागानन्द' नाम का एक नाटक बनाया है—यह हमने कानों-कान सुना है, किन्तु अभिनय रूप में उसे देखा नहीं है, अतएव सभी लोगों के हृदय को आनन्द देनेवाले उन महाराज के प्रति हमारा बहुत आदर-भाव होने के कारण तथा हमारे

प्रति उनकी कृपा-दृष्टि होने से आज उसे अच्छी तरह खेलकर हमको दिखाना चाहिए"। तो मैं अब वेषभूषा की रचना करके, जैसा कि सब चाह रहे हैं— करता हूँ! [चारों ओर घूम कर और देखकर] मुझे निश्चय हो गया है कि सभी दर्शक-गणों का मन इस ओर आकृष्ट है, क्योंकि—

श्रीहर्ष कुशल कवि है, यह सभा गुणों को ग्रहण करने वाली है, तथा जीमूतवाहन का जीवन-चरित संसार में मनोहर है और हम भी नाटक खेलने में निपुण ही हैं। इन में एक एक बात भी अभीष्ट फल देनेवाली है। मेरे महाभाग्य से आज जो ये सारे ही गुण इकट्ठे हो गए हैं, उसका तो कहना ही क्या! (३)

तो मैं घर चलकर घरवाली को बुला गाना-बजाना करता हूँ। [चारों ओर घूम कर, नेपथ्य की ओर देख कर] यह हमारा घर है। तो भीतर जाता हूँ। [भीतर जाकर] अजी! जरा इधर आना।

ओ ब्राह्मण, नौकर-चाकर तथा बन्धु-बान्धवों की भलाई करनेवाली, मेरे घर-रूपी बावड़ी की हंसिनी, कोमल-स्वभाववाली, परपुरुष-रूपी चाँद की कमलिनी श्रीमतीजी! जरा इधर तो आइए, क्योंकि कुछ कार्य है। (४)

नटी—[आँसू बहाती हुई प्रवेश करके] जी, यह अभागिन मैं आ गई हूँ। आज्ञा दीजिए क्या कार्य करना है।

सूत्रधार—अजी, नागानन्द नाटक खेले जाने का है, तुम विना कारण क्यों रो रही हो?

नटी—जी, क्यों न रोऊँ, क्योंकि सासजी के साथ श्वसुरजी—जिन्हें बुढ़ापा आया समझकर हाल ही में वैराग्य हो गया था, तपोवन चले गये हैं यह समझकर कि तुम अब कुटुम्ब का भार सँभालने योग्य हो ही गये हो—

सूत्रधार—[वैराग्य के साथ] अरे, मुझे छोड़कर माता-पिता क्यों तपोवन चले गए हैं? तो मुझे अब क्या करना चाहिए? [सोचकर] अथवा माता-पिता के चरणों की सेवा का सुख छोड़ कर अब मैं घर में किस तरह रहूँ? क्योंकि—

कुल-परम्परा से प्राप्त धन-सम्पदा को लात मार कर माता-पिता की सेवा करने मैं (भी) आज ही उसी तरह वन चला जाता हूँ जिस तरह कि जीमूतवाहन (माता-पिता की सेवा के लिए वन चले गए थे)। (५)

[दोनों चले जाते हैं।]

प्रस्तावना

[इसके अनन्तर नायक और विदूषक प्रवेश करते हैं।]

नायक—[वैराग्य के साथ] मित्र आत्रेय!—

यह यौवन काम-वासना का घर है—यह मैं अच्छी तरह जानता हूँ। यह क्षणभङ्गुर नहीं है—ऐसा मेरा विश्वास नहीं। यह संसार में कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेचनों में (सदा) प्रतिकूल ही रहा करता है। इन्द्रियों के अधीन रहने वाला यह यौवन मुझे तभी आनन्द दे सकता है यदि भक्तिपूर्वक माता-पिता की सेवा करते हुए मेरे यह इस तरह ही बीतता जाय। (६)

विदूषक—[क्रोध के साथ] हे मित्र, इतने समय तक मरे हुए जैसे माता-पिता की खातिर इस तरह वनवास का दुःख झेलते हुए क्यों तुम्हें ग्लानि नहीं होती? अब भी कृपा करो; माता-पिता के चरणों की सेवा का हठ छोड़कर इच्छानुसार आनन्दोपभोग मिलने के कारण रमणीय राज्य-सुख का स्वाद लो।

नायक—तुमने ठीक नहीं कहा है, क्योंकि—

पिता के आगे ज़मीन पर बैठा हुआ पुत्र जिस तरह शोभा पाता है, वैसा क्या वह राज्य-सिंहासन पर शोभा कभी पा सकता है? पिता के चरणों को दबाते हुए जो सुख मिलता है, वह क्या कभी राज्य में मिल सकता है? माता-पिता के जूठन खाने में जो सन्तोष होता है, वह क्या कभी तीनों ही लोकों के (सुखों के) भोग करने में मिल सकता है? माता-पिता को छोड़ते राज्य करना केवल क्लेश ही है; भला, उसमें कौन-सी भलाई है? (७)

विदूषक—[मन ही मन में] आश्चर्य है कि माता-पिता की सेवा में इसका कितना प्रेम है! [सोचकर] अच्छा, इस बात को तो अब रहने ही दो, कोई और बात छेड़ूंगा। [प्रकट] मित्र! मैं केवल राज्य-सुख को ही लक्ष्य करके नहीं कह रहा हूँ। आपको कुछ और भी तो करना ही है।

नायक—[मुस्कराता हुआ] यार, जो करना था, वह तो कर ही लिया है; देख—

प्रजा न्याय के मार्ग में लगा दी है; सज्जन पुरुषों को सुख-पूर्वक (अपने अपने स्थानों में) बिठा दिया है; बन्धु-बान्धवों को अपने बराबर ही बना डाला है; राज्य की रक्षा कर दी है; इच्छा से भी अधिक फल देनेवाला कल्प-वृक्ष भी याचकों को दे डाला है। अब कहो, इससे अधिक मेरे करने योग्य बात तुम्हारे मन में कौन-सी बैठी हुई है? (८)

विदूषक—हे मित्र, आपका शत्रु मुआ मतङ्ग बड़ा ही साहसी है। उसके समीप में होने से प्रधान-मन्त्री द्वारा सँभाला जाता हुआ भी राज्य आपके विना मजबूत नहीं लगता।

नायक—चल मूर्ख कहीं का। मतङ्ग मेरा राज्य ले लेगा ऐसी शंका करता है!

विदूषक—और क्या?

नायक—यदि ऐसा ही है तो वह हो जाय। शरीर से लेकर सब कुछ मैं परोपकार के लिए ही रख रहा हूँ। जो मैं स्वयं नहीं दे रहा हूँ, उसका कारण पिताजी का अनुरोध–उनकी इच्छा का अनुसरण–ही है, इसलिए इस तुच्छ बात की चिन्ता मैं क्यों करूँ? पिताजी की आज्ञा का पालन हो जाय यही मेरे लिए अच्छा है। पिताजी ने मुझे आज्ञा दी है—"पुत्र जीमूतवाहन, बहुत दिनों तक लगातार उपभोग करने से इस स्थान की समिधा, कुशा और फूल सब साफ़ हो गये हैं और फल, मूल, कन्द तथा वन-धान्य भी प्रायः खाये जा चुके हैं, इसलिए यहाँ से मलय जाकर वहाँ रहने योग्य कोई आश्रम का स्थान देख"! तो आ, मलय पर्वत को ही चलें।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा हो; आप चलिए। [दोनों चलते हैं।]

विदूषक—[आगे देखकर] मित्र देखिए, देखिए; मलय का पवन जिसमें गीले, घने तथा चिकने चन्दन-वृक्षों के वनों की गोद में चारों ओर लोटने से घनी सुगन्धि आ रही है तथा जो ऊंचे-नीचे ढलानों पर गिरने से छिन्न-भिन्न होते हुए झरनों से निकले शीतल कणों की बौछार रखे हुए है—प्रथम मिलन के लिए उत्सुक हुई प्रिया के आलिंगन की तरह मार्ग की थकावट को दूर करता हुआ आपको रोमाञ्चित कर रहा है।

नायक—[देखकर आश्चर्य से] अरे, हम मलय पर्वत पहुँच ही गये हैं। [चारों तरफ देखकर] अहा! कितनी सुंदरता है। देखो तो:—

उपभोग के योग्य यह मलय पर्वत—जहाँ मदमत्त दिग्गजों के गण्ड-स्थलों की रगड़ों से छिले हुए चन्दन-वृक्ष रस बहा रहे हैं। समुद्र की लहरों के टकराने से कन्दराओं के खोह गूंज रहे हैं तथा सिद्धों की रमणियों के आने-जाने के कारण पैरों पर की (ताज़ी ताज़ी) महावर से मौक्तिक की शिलायें लाल-लाल हुई पड़ी हैं—मेरे मन को कुछ उत्सुक-सा बना रहा है। (९)

तो आ, इस पर चढ़कर रहने योग्य कोई आश्रम का स्थान देखें।

विदूषक—हाँ, ऐसा ही करते हैं। आप चलिए। [चढ़ने का अभिनय करते हैं।]

नायक—[दायीं आँख का फड़कना बतलाता हुआ] अरे!

दायीं आँख फड़क रही है; मुझे कहीं किसी फल की चाह नहीं; किन्तु मुनियों का वचन झूठा नहीं जाता; देखें यह क्या होता है। (१०)

विदूषक—ऐ मित्र, यह निकट भविष्य में अवश्य होनेवाली प्रिय बात की सूचना दे रहा है।

नायक—जैसा तुम कहते हो, वैसा ही हो।

विदूषक—[देखकर] मित्र, देखिए, देखिए; यह तपोवन-सा दिखाई देता है, जहाँ खूब घने तथा चिकने पेड़ शोभित हो रहे हैं, सुगन्धित हवि के गन्ध को साथ लिये हुए बहुत-सा धुआँ निकल रहा है और जानवरों का समूह निर्भय हो सुखपूर्वक बैठा हुआ है।

नायक—तुमने ठीक अनुमान लगाया है। यह तपोवन ही है, क्योंकि—

पहिरने के लिए वृक्षों की छालें दया के कारण बहुत मोटी छिली हुई नहीं हैं। झरनों का जल आकाश की तरह ऐसा निर्मल है कि उसमें टूटे हुए पुराने कमण्डलु साफ़-साफ़ दिखाई दे रहे हैं। कहीं-कहीं ब्रह्मचारियों द्वारा टूट जाने पर छोड़ी हुई मूँज की करधनियाँ देखने में आ रही हैं। नित्यप्रति सुनते रहने के कारण तोता यह वेद-मन्त्रों का शब्द पढ़ रहा है। (११)

तो आ, प्रवेश करके देखें। [प्रवेश का अभिनय करते हैं। आश्चर्य के साथ देखकर] अहो! तपोवन कितना शान्त और रमणीय है, जहाँ प्रसन्न हुए मुनिलोग सन्देहवाले वेदवाक्यों के समूह पर अच्छी तरह विचार कर रहे हैं, पढ़ते हुए ब्रह्मचारी लोग गीली-गीली समिधाओं को तोड़ रहे हैं और तपस्वियों की बालिकाएँ वृक्षों की क्यारियों को पानी से भर रही हैं। इस तपोवन में—

ये वृक्ष भ्रमरों के झंकार-शब्दों से मानो मधुर 'स्वागत' कह रहे हैं, फलों से झुके हुए शिरों से मानो नमस्कार कर रहे हैं, और पुष्पों की वर्षा करते हुए मानो मुझे पूजा का उपहार दे रहे हैं। देखो तो किस तरह वृक्षों को भी अतिथि-पूजा की शिक्षा दी गई है! (१२)

तब तो यह तपोवन रहने योग्य है। मैं समझता हूँ कि यहाँ रहते हुए हमें बड़ा आनन्द होगा।

विदूषक—मित्र, ये मृग गर्दनों को कुछ टेढ़ी किये हुए, निष्क्रिय मुखों से थोड़े-थोड़े चबाए कुशा के कौर को गिरने देते हुए, एक कान को ऊपर उठाए हुए तथा आनन्द में आँखें मूँदे हुए क्या कुछ सुनते हुए से दिखाई दे रहे हैं?

नायक—[कान दे कर] यार, तुमने ठीक अनुमान लगाया, क्योंकि—

ये मृग दाँतों के बीच पड़े हुए घास के कौर के चबाने का शब्द रोक कर अंग को टेढ़ा किये हुए ऐसा गीत सुन रहे हैं, जिसमें (हृदय, कण्ठ आदि) 'स्थानों' में प्राप्त होने के कारण स्पष्ट प्रतीत हुए 'गमकों' वाली 'मन्द्र' और 'तार' की व्यवस्था है, अच्छी बजनेवाली वीणा के तारों का भ्रमर-झंकार-सा शब्द मिला हुआ है तथा सुन्दर पद बिलकुल स्पष्ट हैं। (१३)

विदूषक—ऐं मित्र, तपोवन में यह कौन गा रहा होगा?

नायक—क्योंकि ये वीणा की तारें अंगुलियों के कोमल अग्रभागों से बजाई जाती हुई बहुत स्पष्ट नहीं बज रही हैं, अतएव मेरा अनुमान है कि प्रधानतया 'काकली' में गाना हो रहा है। [अंगुलि के अग्रभाग से आगे निर्देश करता हुआ] इस मन्दिर में देवता को मनाती हुई कोई स्वर्ग की महिला वीणा बजा रही है।

विदूषक—मित्र, चलिए न; हम दोनों भी देव-मन्दिर को देखें।

नायक—यार, तुमने ठीक कहा है। देवताओं को अवश्य शिर नवाना चाहिए। [उस ओर जाता हुआ सहसा ठहर कर] मित्र, सम्भवतः हमारा इस को देखना उचित न हो, इसलिए तमाल-वृक्षों के झाड़ में छिपे हुए हम अवसर की प्रतीक्षा करें। [वैसा ही करते हैं।]

[इसके अनन्तर भूमि पर बैठी वीणा बजाती हुई मलयवती और चेटी (नौकरानी) प्रवेश करती हैं।]

नायिका—[गाती है]—

खिले हुए कमल के केसरों की धूलि की तरह पीली-सी कान्ति वाली हे भगवती गौरी माता! तुम्हारी कृपा से मेरा मनोवाञ्छित सिद्ध हो जाय। (१४)

नायक—[कान देकर] मित्र, अहा! कैसा अच्छा गाना और कैसा अच्छा बजाना है!

इस गाने में दस ही प्रकार का 'व्यञ्जन-धातु' स्पष्ट है; 'द्रुत, मध्य और विलम्बित'—इन तीन प्रकारों से भेद को प्राप्त हुआ यह 'लय' अच्छी तरह स्फुट है; 'गोपुच्छा' इत्यादि तीनों ही प्रकार की 'यतियाँ' क्रमशः कर रखी हैं;

और 'तत्त्व, ओघ एवं अनुगत'—ये बजाने की तीनों विधियाँ अच्छी तरह दरशाई गई हैं। (१५)

चेटी—[प्रेम के साथ] देईजी, बहुत समय से बजाते हुए आपकी अंगुलियाँ क्यों नहीं थक रही हैं?

नायिका—[झिड़कती हुई] अरी, देवी के आगे वीणा बजाते हुए मेरी अंगुलियाँ क्यों थकें?

चेटी—देईजी, मैं कह रही हूँ कि इस निर्दयी के आगे बजाने से क्या, जो लगातार इतने समय तक लड़कियों द्वारा कठिनता से किये जाने वाले व्रतों और उपासनाओं से आराधना करते हुए भी आप पर प्रसन्न नहीं होती?

विदूषक—अरे, यह तो लड़की है; क्यों न देखें?

नायक—कोई दोष नहीं। लड़कियों को देखना कोई बुराई नहीं, किन्तु शायद हमको देख कर लड़कियों में पाई जाने वाली लज्जा और भय के कारण वह यहाँ अधिक न ठहरे, इसलिए झाड़ी से छिप कर देखते हैं।

विदूषक—ऐसा ही सही। [दोनों देखने लगते हैं।]

विदूषक—[देखकर अचम्भे के साथ] मित्र, देखिए, देखिए। कितना आश्चर्य होता है कि यह न केवल वीणा की निपुणता से ही आनन्द नहीं देती, प्रत्युत वीणा की निपुणता की तरह रूप से भी आँखों को आनन्द देती है! यह कौन है? कोई देवी है? अथवा नाग-कन्या है? या विद्याधरों की लड़की है? या सिद्धों के कुल में पैदा हुई है?

नायक—[उत्कट अभिलाषा से] यार, यह कौन है—कुछ समझ में नहीं आता; हां, इतना तो मैं जानता हूँ कि—

यदि यह स्वर्गलोक की स्त्री है, तो इन्द्र की हजार आँखें सफल हो गई हैं; यदि यह नागलोक की है तो इसके मुख की उपस्थिति में नागलोक चन्द्रमा से शून्य नहीं रहा; यदि यह विद्याधरी है, तो हमारी जाति अन्य समस्त जातियों को जीतने वाली है और यदि यह सिद्धों के कुल की है, तो इससे सिद्ध लोग तीनों ही लोकों में प्रसिद्ध हो जायंगे। (१६)

विदूषक—[नायक को देखकर हर्ष के साथ मन ही मन] सौभाग्य से आज बहुत दिनों बाद यह कामदेव के पल्ले पड़ा; [अपनी ओर इशारा करके और भोजन का अभिनय करके] अथवा एकमात्र मुझ ब्राह्मण के पल्ले पड़ा-यों क्यों न कहूँ।

चेटी—[प्रेमपूर्वक] देईजी, मैं कह रही हूँ कि इस निर्दयी देवी के आगे रोने से क्या ? [यह कहकर वीणा खींचती है ।]

नायिका—[रोष-पूर्वक] अरी, भगवती गौरी की निन्दा मत कर। आज भगवती ने सचमुच मुझपर कृपा कर दी है ।

चेटी—[प्रसन्नता के साथ] देईजी, कहिए तो कैसी कृपा की है !

नायिका—अरी, मुझे पता है कि आज स्वप्न में इसी वीणा को बजाती हुई मुझ को उसने कहा है—"पुत्री मलयवती, मैं तेरी वीणा बजाने की इस अतिशय निपुणता से तथा मेरे प्रति लड़कियों के लिए कठिन तेरी इस असाधारण भक्ति से प्रसन्न हूँ, इसलिए शीघ्र ही विद्याधरों का सम्राट् तुमसे विवाह करेगा।"

चेटी—[प्रसन्न होकर] देईजी, यदि ऐसा ही है, तो इसे आप स्वप्न क्यों कहती हैं ? सचमुच देवी ने तुम्हारे हृदय में स्थित वर (पति, वरदान) तुम्हें दे दिया है ।

विदूषक—[सुनकर] हे मित्र, देवी के दर्शन का हमारे लिए यही मौका है, तो आइए, चलें ।

नायक—मैं तो नहीं चलता ।

विदूषक—[न चाहते हुए भी नायक को बलपूर्वक खींचकर और चलकर] आपका कल्याण हो । चतुरिका सच ही कहती है कि देवी ने वह वर ही दिया है!

नायिका—[भयपूर्वक उठती हुई नायक को लक्ष्य करके] अरी, यह कौन है!

चेटी—[नायक को देख मुँह फेर कर] इस अलौकिक चेहरे से मैं अनुमान करती हूँ कि देवी द्वारा प्रसाद-रूप में दिया हुआ वर यह है ।

नायिका—[स्पृहा और लज्जा के साथ नायक को देखती है ।]

नायक—हे चञ्चल और विशाल नयनों वाली, साँस लेने (के वेग) से काँपते हुए स्थूल एवं घने स्तनोंवाली तथा सहसा भेंट हो जाने के कारण डरनेवाली ! तुम्हारा यह शरीर तपस्या से ही काफ़ी थका हुआ है, फिर (चलने का) कष्ट क्यों उठा रही हो ? (१७)

नायिका—[मुंह फेर कर] अरी, अतिशय भय और लज्जा के कारण मैं इसके सामने नहीं ठहर सकती । [नायक को लज्जा के साथ तिरछी निगाह से देखती हुई कुछ कुछ मुंह फेरे खड़ी रहती है ।]

चेटी—देईजी, यह क्या ?

नायिका—अरी, इसके समीप में ठहर नहीं सकती हूँ, इसलिए आ दूसरी जगह चलती हूँ। [उठना चाहती है।]

विदूषक—अरे, यह तो डर रही है। मैं अपनी पढ़ी हुई विद्या की तरह क्षणभर इसे रोके रखता हूँ।

नायक—इसमें कोई बुराई नहीं।

विदूषक—क्या आप लोगों के तपोवन में यही रिवाज है कि आये हुए अतिथि का वाणी-मात्र से भी सन्मान नहीं किया जाता?

चेटी—[नायिका को देखकर मन ही मन] इस की दृष्टि तो आगन्तुक में प्रेम-जैसे कर रही है। अच्छा, यों कहूंगी। [प्रकट रूप में] देईजी, ब्राह्मण ठीक कहता है। सचमुच अतिथि लोगों का सत्कार करना तुम्हारे लिए उचित है। तो क्यों कर्तव्य-अकर्तव्य के ज्ञान में मूढ़ (हक्की-बक्की) हुई खड़ी हो? अथवा तुम ठहरो, मैं ही यथोचित कर दूंगी। [नायक की ओर लक्ष्य करके] अजी, आपका स्वागत है। आसन पर बैठकर इस स्थान को अलंकृत कीजिए।

विदूषक—ऐ मित्र, यह ठीक कह रही है। बैठकर यहाँ थोड़ा-सा विश्राम कर लें।

नायक—तुम ठीक बोलते हो। [दोनों बैठ जाते हैं।]

नायिका—[दासी को लक्ष्य करके] अरी परिहासवाली, ऐसा न कर। यदि कोई तपस्वी देख ले, तो मुझे ढीठ समझेगा। [इसके अनन्तर एक तपस्वी प्रवेश करता है।]

तपस्वी—कुलपति कौशिक ने मुझे आज्ञा की है कि वत्स शाण्डिल्य, पिता की आज्ञा से आज सिद्धों के युवराज मित्रावसु यहीं मलय पर्वत में कहीं रहते हुए विद्याधरों के भावी सम्राट् जीमूतवाहन को इस विचार से देखने के लिए गये हुए हैं कि उन्हें अपनी बहिन मलयवती के वास्ते वर ठहराया जाय। उनकी प्रतीक्षा करते हुए मलयवती को कदाचित् दोपहर की स्नान-वेला बीत जाय, तो उसे बुलाकर ले आओ। इसलिए तपोवन के गौरी-मन्दिर को जाता हूँ। [घूमकर जमीन को देख आश्चर्य के साथ] अरे, धूलीवाले प्रदेश में स्पष्ट चक्र के चिन्हों वाले ये किसके पैरों के निशान हैं। [आगे जीमूतवाहन की ओर निर्देश करके] अवश्य इसी महापुरुष के ये निशान हैं, क्योंकि—
भौंहों के बीच यह बालों

मस्तकपर यह उष्णीष-रेखा स्पष्ट दिखाई दे रही है,

का आवर्त—भौंरा—शोभित हो रहा है। आँख कमल का अनुकरण करने वाली है, छाती सिंह से होड़ करती है और दोनों पैरों में ये चक्र के चिन्ह हैं—इनसे मैं समझता हूँ कि यह कोई पुरुष विद्याधरों का सम्राट्‌पद प्राप्त किये बिना नहीं रहेगा। (१८)

अथवा सन्देह क्यों करूं? प्रत्यक्ष-रूप में यही जीमूतवाहन है। [मलयवती को देखकर] अरे! यह राजपुत्री भी। [दोनों को देखकर] बहुत समय के बाद विधाता योग्य कार्य करने वाला बन जाय। [आगे चल कर नायक की ओर लक्ष्य करके] आपका कल्याण हो।

नायक—भगवन्, जीमूतवाहन प्रणाम करता है। [उठना चाहता है।]

तपस्वी—बस, बस, उठकर आगे आने का कष्ट न करें। "अतिथि सभी का पूज्य होता है"—इसलिए आप ही हमारे पूज्य हैं। सुखपूर्वक बैठे रहिए।

नायक—जी, मैं प्रणाम करती हूँ।

तपस्वी—[नायिका की तरफ लक्ष्य करके] पुत्री! तुम योग्य पति को प्राप्त करनेवाली बनो। राजपुत्री! कुलपति कौशिक ने तुम्हें कहा है—कि "दोपहर की स्नान-वेला बीत रही है, इसलिए शीघ्र आओ।"

मलयवती—जैसी गुरुजी की आज्ञा। [मन ही मन]—

एक तरफ तो गुरुजी की आज्ञा, दूसरी तरफ प्रियतम को देखने का आनन्द; जाऊँ या न जाऊँ—इस दुविधा पर सवार हुआ मेरा मन डावाँडोल हो रहा है। (१६)

[उठकर, लम्बी आह खींचकर लज्जा और प्रेम के साथ नायक को देखती हुई तपस्वी सहित चल पड़ी।]

नायक—[उत्सुकता के साथ आह खींचकर नायिका को देखता हुआ]

विशाल नितम्ब भार के कारण धीरे-धीरे चलनेवाली यह यद्यपि जा तो दूसरी जगह रही है, किन्तु पैर इसने मेरे हृदय में रखा है। (२०)

विदूषक—मित्र, देखने योग्य वस्तु आपने देख ली है। मेरे पेट की आग तो इस समय दोपहर की सूर्यकिरणों से दुगुनी हुई-सी भड़क रही है; अतएव, आओ, चलें जिससे मैं ब्राह्मण अतिथि बनकर मुनियों के पास से प्राप्त हुए कन्द, मूल और फल से ही प्राण बचा पाऊँ।

नायक—[ऊपर की ओर देखकर] सूर्य भगवान आकाशमंडल के ठीक मध्य में विराज रहे हैं; देखो—

गरमी के कारण तत्काल रगड़े हुए चन्दन-वृक्षों के रस से पीले-पीले गण्डस्थलों को धारण करता हुआ, मुख पर अपने ही कानों को हिलाकर उत्पन्न वायु से पंखा करता हुआ तथा सूँड से छोड़े हुए जल-कणों से अपनी छाती को अच्छी तरह सींचता हुआ यह गजराज इस समय प्रिया-मिलन की गाढ़ी अभिलाषा के कारण दुःसह हुई-जैसी हालत को धारण कर रहा है। (२१)

[सब चल पड़े।]

प्रथम अङ्क समाप्त

दूसरा अङ्क

[चेटी प्रवेश करती है।]

चेटी—मुझे देईजी ने आज्ञा दी है कि अरी मनोहरिका, भाई मित्रावसुजी देर कर रहे हैं, इसलिए जाकर पता लगा कि वे आये हैं या नहीं। [चलकर नेपथ्य की ओर देखकर] अरे, यह जल्दी-जल्दी इसी ओर कौन आ रही है। [देखकर] यह तो चतुरिका है!

[चतुरिका का प्रवेश]

पहिली—[पास आकर] बहिन चतुरिका, किस कारण मुझ से बचकर इस तरह जल्दी-जल्दी जा रही है?

दूसरी—बहिन मनोहरिका, देईजी मलयवती ने मुझे आज्ञा दी है कि अरी चतुरिका, फूलों को तोड़ने में थकावट के कारण न सहन कर सकनेवाले मेरे शरीर को शरद की धूप से उत्पन्न हुआ सा सन्ताप बहुत कष्ट दे रहा है, तो तू जा और नये नये केलों के पत्तों से घिरे हुए चन्दनलताओं की झाड़ी में चन्द्रकान्तमणि के शिलातल को ठीक-ठाक कर दे। जैसी आज्ञा हुई थी वैसा मैंने कर ही दिया है; तो अब जाकर देईजी को सूचना कर देती हूँ।

पहिली—यदि ऐसा ही है, तो जल्दी-जल्दी जाकर सूचना कर दे जिससे कि वहाँ जाकर देईजी का ताप शान्त हो जाय।

दूसरी—[हँस कर मन ही मन] उनका ताप ऐसा नहीं है, जो यों शान्त हो जाय! एकान्त और सुन्दर चन्दनलता-कुंज को देखते ही उनका ताप और भी

अधिक हो जायगा—ऐसा मेरा अनुमान है। [प्रकट रूप में] तो तू जा। मैं देईजी को सूचना दे देती हूँ कि मणिशिलातल को ठीक-ठाक कर दिया है।

[दोनों चली जाती हैं।]

प्रवेशक

[तदनन्तर उत्कण्ठित हुई मलयवती और चेटी प्रवेश करती हैं।]

मलयवती—[गहरी आह खींचकर मन ही मन] हृदय, यह तुमने ठीक किया कि लज्जा के कारण प्रियतम के सामने मेरा मुख फिरवाकर अब स्वयं उनके पास चले गए हो ? आश्चर्य है यह तुम्हारी कितनी स्वार्थपरता है। अरी चतुरिका, मुझे भगवती गौरी के मन्दिर का रास्ता बता।

चेटी—[मन ही मन] चन्दन-लतागृह की ओर चल रही थी, किन्तु (अब) 'भगवती का मन्दिर' कह रही हैं। [प्रकट रूप में] आप तो चन्दन-लतागृह चल रही थीं।

नायिका—[लज्जा के साथ] अरी, तू ने ठीक याद दिलाई; तो आ, वहीं चलेंगी।

चेटी—आइए देईजी !

नायिका—[दूसरी ही ओर जाती है।]

चेटी—[पीछे देखकर उद्वेग के साथ मन ही मन] आश्चर्य है कि इसका दिल किस तरह उड़ा हुआ है। किस तरह फिर उसी देवी-मन्दिर की ओर जा रही है। [प्रकट] देईजी, चन्दन-लतागृह तो इस ओर है, इसलिए इधर-इधर से आइए।

नायिका—[आश्चर्य और लज्जा के साथ वैसा ही करती है।]

चेटी—यह चन्दन-लतागृह है, अतः प्रवेश करके चन्द्रमणि के शिलातल पर बैठ धीरज धरिए। [दोनों बैठ जाती हैं।]

नायिका—[गहरी श्वास लेकर मन ही मन] भगवान कामदेव, जिसने अपने सुन्दर रूप से जीता है, उसका तो तुमने कुछ भी नहीं किया, किन्तु मुझ निरपराधिनी को अबला समझ कर प्रहार करते तुम्हें लज्जा नहीं आती! [अपने को देखकर कामविकार की अवस्था का अभिनय करती हुई प्रकट-रूप में] अरी, घने पत्तों से सूर्य-किरणों को रोके हुए यह वही चन्दन-लतागृह अब भी मेरे सन्ताप-दुःख को क्यों नहीं मिटाता ?

चेटी—मैं आपके सन्ताप का कारण जानती हूँ, परन्तु आप 'असम्भव' कहकर उसे स्वीकार नहीं करेंगी।

नायिका—[मन ही मन में] ऐसा लगता है जैसे इसने मुझे भाँप लिया हो; तो भी पूछ लेती हूँ। [प्रकट] अरी, कौन-सी बात है, जो मैं स्वीकार नहीं करती? तो बता वह क्या कारण है?

चेटी—यह आपके हृदय में बैठा हुआ 'वर' है।

नायिका—[हर्ष के साथ हड़बड़ी में उठ कर दो तीन डग चलकर] कहाँ? कहाँ है वह?

चेटी—[उठकर मुस्कराती हुई] देईजी, वह कौन?

नायिका—[लज्जा के साथ बैठकर मुँह नीचे किये हुए रहती है।]

चेटी—देईजी, मैं यह बोलना चाहती हूँ कि देवी ने वही 'वर' दिया, जो आपके हृदय में स्थित है और जिसे आपने स्वप्न में बिना पुष्पबाणों के कामदेव-सा क्षण भर ही देखा था। यही आपके सन्ताप का कारण है जिससे स्वभावतः ठण्डा होता हुआ भी यह चन्दन-लतागृह आपका सन्ताप-कष्ट नहीं मिटाता।

नायिका—[चतुरिका के बालों को सँवारती हुई] अरी, तू सचमुच चतुरिका है। तुझ से और क्या छिपाऊँ, कह ही डालूँगी।

चेटी—देईजी, 'वर' की बात छेड़ने मात्र से पैदा हुई आपकी इस आकुलता ने अभी अभी कह ही दिया है। सन्ताप करने की कोई बात नहीं। यदि मैं चतुरिका हूँ, तो वे भी आपको देखे बिना क्षण भर भी चैन से नहीं रहेंगे—यह भी मैंने देख लिया है।

नायिका—[आँसू बहाती हुई] अरी, ऐसे हमारे भाग्य कहाँ है?

चेटी—देईजी, ऐसा मत कहिए। क्या लक्ष्मी को छाती से लगाए बिना विष्णु को चैन हो सकता है?

नायिका—क्या मित्र लोग प्रिय बात को छोड़ कर अन्य बात बोलना जानते हैं? हे सखि! इस बात से भी सन्ताप मुझे और पीड़ित कर रहा है कि उस समय उस महानुभाव का मैंने वाणी-मात्र से भी सत्कार नहीं किया। वे सत्कार न करनेवाली मुझे अशिष्ट समझेंगे। [यह कह कर रोने लगती है।]

चेटी—देईजी, मत रोइए! अथवा क्यों न रोओगी? इनके हृदय का अतिशय सन्ताप और भी अधिक पीड़ा दे रहा है! तो इस समय मुझे क्या करना चाहिए? हाँ, शीघ्र ही चन्दन-लता के कोंपलों का रस इसके हृदय पर लगाती हूँ! [उठकर चन्दन के पत्तों को लेकर उसे निचोड़ के हृदय पर डालती है।]

देईजी। मैं कह रही हूँ, मत रोईए। वह चन्दन का रस इस तरह लगातार गिरते हुए आँसू के बूँदों से गरम होकर आपके हृदय के इस सन्ताप को नहीं मिटाता। [केले का पत्ता लाकर पंखा करती है।]

नायिका—[हाथ से रोकती है] सखि, पंखा न कर, केले के पत्ते की वायु गरम है!

चेटी—देईजी, इसको दोष मत दीजिए—

घनी चन्दनलता के पत्तों के सम्पर्क से ठंडे हुए केले के पत्ते के इस वायु को आप ही आहों से गरम कर रही हो। (१)

नायिका—[आँसू बहाती हुई] सखि, इस सन्ताप को शान्त करने का क्या कोई उपाय है?

चेटी—जी, उपाय है, यदि वे यहाँ आ जायँ।

[इसके अनन्तर नायक और विदूषक प्रवेश करते हैं।]

नायक—मुड़कर सफ़ेद और काली आँखों की कान्ति से आश्रम के उन वृक्षों को यों बनाती हुई जैसे कि उनमें शाखाओं पर कृष्णसार मृगों के चमकीले चर्मों का समूह टंगा हो, जो उसने मुनि के सामने रहते हुए भी मुझे देखा, उसीसे मैं मारा गया हूँ, तो ओ कामदेव! तुम व्यर्थ ही मुझ पर क्यों बाण मार रहे हो? (२)

विदूषक—मित्र, आपकी वह धीरता कहाँ चली गई?

नायक—यार, मैं धीर ही तो हूँ, क्योंकि—

क्या मैंने चाँद से उजली बनी रातें नहीं काटीं? क्या मैंने कमल नहीं सूँघे? क्या मैंने सायं-समयों में खिली हुई चमेली के फूलों से सुगन्धित हवायें नहीं सहीं? क्या मैंने कमलों के वन में भ्रमरों का झङ्कार नहीं सुना?—जो तुम मुझे "विरहियों में (बहुत) अधीर हो" ऐसा यथार्थ ही कह रहे हो? (३)

[सोचकर] अथवा मित्र आत्रेय! तुमने झूठ नहीं कहा है। वास्तव में मैं अधीर ही हूँ—

प्रियतमा पर गये हुए हृदय वाले मैंने 'अनङ्ग' द्वारा फेंके हुए फूलों के बाण भी नहीं सहे, तो मैं अभी-अभी तुम्हारे सामने कह रहा था कि धीर हूँ—वह काहे को? (४)

विदूषक—[अपने मन में] इस प्रकार अधीरता को स्वीकार करके इसने हृदय के महान् क्षोभ को प्रकट कर दिया है, इसलिए इसको कहीं और बात में लगाता हूँ। [प्रकट

रूप में] मित्र! आज क्यों आप माता-पिता की सेवा किये विना ही यहाँ आये हैं?

नायक—यार, बड़े मौक़े पर तुमने यह प्रश्न किया। ख़ैर, तुमसे भिन्न और यह किसको कहूँ? आज स्वप्न में मैंने देखा कि वही प्रियतमा [अंगुलि से निर्देश करके] इस चन्दन-लतागृह में चन्द्रकान्त-मणि की शिलापर बैठी प्रेम में रूठी मुझे कुछ उलाहना देती हुई सी रोती मैंने देखी, तो मैं चाहता हूँ कि स्वप्न में देखी हुई प्रियतमा के समागम से सुन्दर बने हुए इस चन्दन-लतागृह में दिन का शेष भाग विताऊँ। इसलिए आ, चलें।

चेटी—[कान देकर भय के साथ] देईजी, पैरों की आहट जैसी सुनाई देती है।

नायिका—[भयपूर्वक अपने को देखती हुई] अरी, ऐसे आकार को देखकर कोई मेरे हृदय को ताड़ न जाय; इसलिए उठ, इस रक्ताशोक वृक्ष की आड़ में छिप कर देखें कि यह कौन है। [वैसा ही करती हैं।]

विदूषक—यह चन्दनलतागृह है, तो आइए, प्रवेश करें। [प्रवेश करने का अभिनय करते हैं।]

नायक—चन्द्रकान्त मणि की शिला से युक्त हुआ भी यह चन्दनलतागृह उस चाँद-सा-चेहरेवाली के विना मुझे इस तरह अच्छा नहीं लगता जैसे कि चाँदनी के विना सन्ध्या-समय। (५)

चेटी—[देखकर] देईजी! बधाई, यह तो वास्तव में वही आप के हृदय के प्रियतम हैं।

नायिका—[देखकर और भय के साथ] अरी, इनको देखकर अतिशय भय के कारण मैं यहाँ नहीं ठहर सकती हूँ; शायद ये देख लें; इसलिए आ, दूसरी जगह जाएंगी। [उत्कण्ठा के साथ पैर धर कर] अरी, मेरी तो जाँघें काँप रही हैं।

चेटी—[हँसकर] ऐ भीरु, यहाँ बैठी तुम्हें कौन देखता है? क्या भूल गई हो कि यह रक्ताशोक वृक्ष है? अतएव हम यहीं बैठी रहती हैं। [वैसा ही करती हैं।]

विदूषक—[देखकर] यह वह चन्द्रकान्त मणि की शिला है।

नायक—[आँसू बहाता हुआ गहरी साँस खींचता है।]

चेटी—देईजी, पता लगता है कि जैसी स्वप्न के सम्बन्ध में बातचीत चल रही हो। तो आइए, हम ध्यान-पूर्वक सुनें। [दोनों सुनने लगती हैं।]

विदूषक—[हाथ से हिलाता हुआ] ऐ मित्र, मैं कह रहा हूँ कि यह वही चन्द्रकान्त मणि की शिला है।

नायक—[आँसू बहाता हुआ आह खींचकर] तुमने ठीक ही देखा। [हाथ से बताकर]—

यह वही चन्द्रकान्त मणि की शिला है—जहाँ मैंने प्रियतमा अपने पीले मुख को पत्ते-जैसे बायें हाथ पर रखकर गहरी आहें खींचती हुई, मेरे आने में देरी करने पर भौंहों की कुछ चेष्टाओं से अपने मन का अभिप्राय प्रकट करती हुई एवं बाद को मन का रोष शान्त किये रोती हुई मैंने देखी थी। (६)

अत एव इसी चन्द्रकान्त-शिला पर हम बैठेंगे। [दोनों बैठ जाते हैं।]

नायिका—[सोचकर] यह कौन होगी?

चेटी—देईजी, जिस तरह हम इन्हे छिपी-छिपी देख रही हैं उसी तरह इन्होंने आपको भी न देख लिया हो।

नायिका—यह तुम ठीक कहती हो? पर ये प्रेम में रूठी हुई अपनी प्रिया को हृदय में रख कर क्या बोल रहे हैं?

चेटी—देईजी, ऐसी शंका मत करो। अब हम जरा और सुनें।

विदूषक—[मन ही मन में] इस बातचीत से यह प्रसन्न हो रहा है। अतः इसी बात को और बढ़ाये जाऊँ गा। [प्रकट] मित्र रोती हुई उसे तब आपने क्या कहा?

नायक—यह कहा—

आँसुओं के जल से खींचा हुआ यह चन्द्रकान्त मणि का शिलातल तुम्हारे मुखरूपी चन्द्रमा के उदय होने से मानो जल चुआ रहा है। (७)

नायिका—[रोष के साथ] चतुरिके, इससे अधिक अब क्या सुनने को रहा है। इसलिए अब दूसरी जगह चलें।

चेटी—[हाथ पकड़कर] देईजी, ऐसा मत कहो। आप को ही इन्होंने स्वप्न में देखा है। इनकी दृष्टि अन्य स्त्री में नहीं रम रही है।

नायिका—मेरा हृदय विश्वास नहीं करता। खैर, बातचीत की समाप्ति तक प्रतीक्षा कर लें।

नायक—यार, ऐसा दिल करता है कि इस शिला पर उसी का चित्र बनाकर चित्र के रूप में विद्यमान उससे अपनी प्रियतमा से मनोविनोद करूं, इसलिए यहीं कहीं पहाड़ की ढलान से मनशिल के टुकड़ों को ले जा।

विदूषक—जैसी आपकी आज्ञा। [इधर-उधर घूमकर ले आकर] हे मित्र

आपने तो एक ही रंग का पत्थर मँगाया था, किन्तु मैं यहीं सुगमता से मिल जाने वाले पाँच रंग के पत्थर ले आया हूँ। आप चित्र बनाइए। [दे देता है।]

नायक—यार, तुमने बहुत अच्छा किया। [लेकर शिला पर चित्र खींचता हुआ रोमाञ्च के साथ] मित्र, देख—

अच्छी तरह पके हुए बिम्बफल की-सी शोभावाले तथा नयनों को आनन्द-दायक प्रियतमा के मुख की पहले-पहल देखी गई यह रेखा भी ऐसा सुख पहुँचाती है जैसे कि मेघों से रहित मण्डल की शोभा को धारण करनेवाले तथा नयनों को आनन्ददायक पहले-पहल देखी गई चन्द्रमा की रेखा (=दूज का चाँद)। (८) [चित्र खींचता है।]

विदूषक—[कुतूहल के साथ देख कर] बड़े अचम्भे की बात है कि जो चीज़ सामने नहीं है, उसकी तसवीर बना रहे हो।

नायक—[मुस्कराता हुआ] मित्र!—

चिन्तन करते रहने से मेरी प्रियतमा यह सामने ही मेरे पास है; यदि उसे देख देखकर मैं चित्र बनाता हूँ, तो इस में अचम्भे की कौन सी बात है? (९)

नायिका—[आँसू बहाती हुई] चतुरिके, यह कथा कहाँ समाप्त होगी—इसका मुझे पता चल गया है, इसलिए चल, अब हम मित्रावसु को देखें।

चेटी—[विषाद के साथ मन ही मन] इसकी बोल-चाल से ऐसा लगता है जैसे कि इसको अब जीवन से मोह ही न हो। [प्रकट] देईजी, मनोहरिका वहाँ गई हुई ही है, इसलिए शायद राजकुमार मित्रावसु इधर ही आते हों।

[इसके अनन्तर मित्रावसु प्रवेश करते हैं।]

मित्रावसु—मुझे पिताजी ने आज्ञा दी है कि—"पुत्र मित्रावसु, यहाँ पास रहने के कारण जीमूतवाहन को हमने भलीभाँति देख-भाल लिया है; इससे अच्छा योग्य वर और कहाँ मिल सकता है? इसलिए इसको पुत्री मलयवती दे देनी चाहिए," किन्तु बहिन के प्रति स्नेहवश मैं अपनी कुछ विचित्र-सी हालत अनुभव कर रहा हूँ; और भी—

क्योंकि जीमूतवाहन विद्याधरों के राजवंश का भूषण है, बुद्धिमान् तथा सज्जन लोगों का आदर-पात्र है, सुन्दरता में अद्वितीय, पराक्रम का धनी, विद्वान्, नम्र एवं नौजवान है और क्योंकि प्राणियों की रक्षा के लिए उद्यत हुआ दयावश वह प्राणों को भी दे डाले—इस लिए उसे अपनी बहिन देते हुए मुझे अपार हर्ष

होता है और साथ ही अपार दुःख भी। (१०)

सुना है कि जीमूतवाहन गौरी-आश्रम के चन्दनलतागृह में है, इसमें प्रवेश करता हूँ। [प्रवेश करता है।]

विदूषक—[डर के साथ देखकर] ऐ मित्र, इस केले के पत्ते से लड़की की इस तसवीर को ढक दे। ये सिद्धों के युवराज मित्रावसु इधर आ गए हैं, कहीं देख न लें।

नायक—[केले के पत्ते से ढक देता है।]

मित्रावसु—[प्रवेश करके] कुमार! मित्रावसु प्रणाम करता है।

नायक—[देखकर] मित्रावसु! स्वागत है, इधर विराजिए।

चेटी—देईजी, कुमार मित्रावसु आ गए हैं।

नायिका—अरी, अच्छा हुआ है।

नायक—मित्रावसु, सिद्धराज विश्वावसु कुशल तो हैं।

मित्रा०—हाँ, पिताजी कुशल हैं। पिताजी ने सन्देश देकर मुझे आपके पास यहाँ भेजा है।

नायक—आपके पूज्य पिताजी क्या कहते हैं?

नायिका—मैं भी सुनूँगी, पिताजी ने क्या कुशल सन्देश दिया है।

मित्रा०—[आँसू बहाते हुए] यह कहते हैं "पुत्र! सिद्धों के सारे राजकुल की प्राण-जैसी मलयवती नाम की मेरी एक कन्या है। उसे मैं तुम्हें दे रहा हूँ, स्वीकार कीजिए।"

चेटी—[हँसकर] देईजी! अब क्यों नहीं रूठती हैं?

नायिका—[मुस्कराती हुई लज्जा से शिर नीचे किये हुए] अरी, मत हँस। क्या भूल गई कि इनका हृदय तो किसी और पर ही लगा हुआ है!

नायक—[मुँह फेर कर] यार, हम तो संकट में फँस गए है।

विदूषक—[मुँह फेर कर] मुझे पता है कि उसको छोड़कर दूसरी जगह आपका हृदय नहीं रमता है, इसलिए जो कुछ कहकर इसे विदा करो।

नायिका—[क्रोध-पूर्वक मन ही मन] ओ मुए, इसे कौन नहीं जानता?

नायक—आप लोगों के साथ ऐसा सराहनीय सम्बन्ध कौन नहीं चाहेगा, किन्तु एक जगह लगा हुआ हृदय अन्यत्र नहीं लगाया जा सकता, इसलिए इसे (मलयवती को) स्वीकार नहीं कर सकता हूँ।

नायिका—[मूर्छित होने का अभिनय करती है।]

चेटी—देईजी ! धीरज धरिए; धीरज धरिए।

विदूषक—भैया, ये तो पराधीन हैं; इनसे प्रार्थना करने से क्या ? इनके माता-पिता से जाकर प्रार्थना करो।

मित्रा०—[मन ही मन] ठीक कहा है। ये माता-पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते। इनके पिता यहीं गौरी-आश्रम में निवास करते हैं, अतएव चलकर इनके पिता द्वारा मलयवती को स्वीकार करवाता हूँ।

नायिका—[धीरज धरती है।]

मित्रा०—[प्रकट] स्वीकार न करने पर अपमानित होते हुए भी मित्रावसु फिर भी क्यों बातें कर रहे हैं ?

मित्रावसु—[चल पड़े।]

नायिका—[आँसू बहाते अपनी तरफ देखती हुई मन ही मन] दुर्भाग्य-रूपी कलंक से दूषित, अत्यन्त दुःखभागी इस शरीर को अब भी जीवित रखने से क्या ? इसलिए इसी अशोक वृक्ष पर अतिमुक्त (माधवी) की लता से फाँस लगाकर आत्मघात कर लूँगी; तो अब ऐसा ही करती हूँ। [प्रकट रूप में कृत्रिम मुस्कराहट के साथ] अरी ! देख तो मित्रावसु गये हैं या नहीं, ताकि मैं भी यहाँ से चल पड़ूँ।

चेटी—[कुछ क़दम चल करके देखकर मन ही मन] इन के हृदय को और-जैसा देख रही हूँ, इसलिए मैं नहीं जाऊँगी; यहीं कहीं छिपकर देखती हूँ कि क्या करती हैं।

नायिका—[चारों तरफ देख फाँस लेकर आँसू बहाते हुए] भगवती गौरी, इस जन्म में तुमने मुझ पर कृपा नहीं की है इसलिए ऐसा करना जिससे कि दूसरे जन्म में ऐसी दुःखभागिनी मैं न बनूँ। [यों कहकर गले में फाँस लगाती है।]

चेटी—[देखकर भयपूर्वक पास आ करके] अजी, बचाइए, बचाइए, राजकुमारी फाँस खाकर आत्मघात करना चाहती है।

नायक—[भय के साथ पास आकर] कहाँ है वह, कहाँ है वह ?

चेटी—ये हैं अशोक वृक्ष पर।

नायक—[हर्ष के साथ देखकर] यही वह मेरे मनोरथों की विश्रामभूमि है ! [नायिका का हाथ पकड़ कर लता की फाँस को खींचता है।]

अरी भोली ! ऐसा साहस का काम बिलकुल न करना । अपने कोंपल-से हाथ को लता से हटा दो । मैं नहीं समझता कि जो तुम्हारा हाथ फूल भी नहीं तोड़ सकता वह किस तरह फाँस लगाने के लिए इस अतिमुक्त लता को पकड़ रहा है !

नायिका—[भय के साथ] अरी, यह कौन है । [देखकर रोष के साथ हाथ छुड़ाना चाहती है ।] छोड़ो, मेरे हाथ को छोड़ो । तुम कौन हो मुझे रोकनेवाले? मरने के लिए भी क्या तुमसे प्रार्थना करनी पड़ेगी ?

नायक—मैं नहीं छोड़ता ।

जिस गले में लता-सी मोतियों की माला पहनानी चाहिए, उस पर तुमने जिस हाथ से फाँस डाली है, वह अपराध करते पकड़ा गया है, इसलिए छोड़ा नहीं जा सकता है । (१२)

विदूषक—अस्तु, इसके मरने के प्रयत्न का क्या कारण होगा?

चेटी—अरे, यही तेरा मित्र ।

नायक—किस तरह मैं इसके मरने का कारण हूँ? बात समझ में नहीं आती ।

विदूषक—अजी, किस तरह?

चेटी—[अभिप्राय के साथ] तुम्हारे मित्र ने यह जिस अपनी किसी हृदय-प्रियतमा का शिला पर चित्र खींचा है—उस पर मन आसक्त होने के कारण मित्रावसु के देने पर भी इसने "मुझे अङ्गीकार नहीं किया है" इस से ग्लानि को प्राप्त हुई यह इस तरह प्रयत्न करने लगी थी ।

नायक—[हर्ष के साथ मन ही मन] ओहो! क्या यही विश्वावसु की लड़की मलयवती है । अथवा रत्नाकर (समुद्र) को छोड़ कर चन्द्र-कला की उत्पत्ति और कहाँ हो सकती है? हा! किस तरह मैं धोके में रह गया !

विदूषक—देवी ! यदि ऐसा है तो मेरे मित्र का अब कोई अपराध नहीं । अथवा यदि मुझमें विश्वास नहीं, तो स्वयं चलकर शिला-तल को देख लो ।

नायिका—[हर्ष के साथ लज्जापूर्वक नायक को देखती हुई हाथ खींचती है ।]

नायक—[मुस्कराता हुआ] मैं तब तक नहीं छोड़ूंगा, जब तक चित्र में मेरी हृदय-प्रियतमा को नहीं देख लेती । [सब घूमने लगते हैं ।]

विदूषक—[केले का पत्ता हटाकर] आदरणीया, देखिए, देखिए, यह है इनकी हृदय-प्रियतमा।

नायिका—[देखकर मुँह फेर करके मुस्कराती हुई] चतुरिके! यह तो मेरा-जैसा चित्र है।

चेटी—[चित्र की आकृति और नायिका को ध्यान से देखकर] देईजी, क्या कहती हो कि "मेरा-जैसा चित्र है"? इतनी अच्छी समानता है कि पता ही नहीं चलता कि शिलातल पर यह क्या आपका प्रतिविम्ब पड़ा हुआ है अथवा यह आपका चित्र है।

नायिका—[हँसकर] अरी! मेरा चित्र दिखाकर इन्होंने मुझे बुरी बना दिया है।

विदूषक—अब तुम्हारा गन्धर्व-विवाह हो गया है, इसलिए इनके हाथ को छोड़ दो। यह कोई जल्दी-जल्दी इधर ही आ रही है।

नायक—[छोड़ देता है।]

दूसरी चेटी—[प्रवेश करके हर्ष के साथ] देईजी, बधाई हो। राजकुमार जीमूतवाहन के माता-पिता नें तुम्हें (पुत्रवधू रूप में) अङ्गीकार कर लिया है।

विदूषक—[नाचता हुआ] हा! हा!! हा!!! मेरे मित्र के—अथवा नहीं—नहीं, आदरणीया मलयवती के—अथवा इन दोनों के नहीं: बल्कि [भोजन का अभिनय करता हुआ] यों कहिए कि एकमात्र मुझे ब्राह्मण के मनोरथ पूरे हो गये हैं।

चेटी—[नायिका को लक्ष्य करके] युवराज मित्रावसु ने मुझे आज्ञा दी है कि—"आज ही मलयवती का विवाह है, इसलिए जल्दी जाकर उसे ले आ।" तो आइए, चलें।

विदूषक—हरामज़ादी! इन्हें लेकर चली गई! क्या मेरा मित्र यहीं बैठा रहेगा?

चेटी—अरे मुए, जल्दी मत कर, जल्दी मत कर। तुम्हारे लिए भी स्नान का सामान आया ही समझो।

नायिका—[प्रेम और लज्जा के साथ नायक को देखती हुई सपरिवार चल पड़ी।]

वैतालिक—[परदे के पीछे से पढ़ता है]—

इस मलयपर्वत में कुंकुम-चूर्ण की वर्षा के कारण सुमेरु की-सी कान्ति को धारण करते तथा उसी समय गुलाल से प्रातःकाल एवं सायंसमय की धूप की शोभा को नीचा दिखाते हुए सिद्ध लोग सुन्दरियों के चलते-फिरते पैरों पर के बजते पायजेबों की झंकार से मनोहर गीतों से मंगलार्थ आपके विवाह-स्नान

के समय की सूचना दे रहे हैं। (१३)

विदूषक—[सुनकर] ऐ मित्र, बधाई हो, यह स्नान की सामग्री आ गई है।

नायक—[हर्ष के साथ] यदि ऐसा ही है, तो यहाँ बैठने से क्या? अ पिताजी को प्रणाम करके स्नान-स्थान को ही क्यों न चलें?—

मेरे विचार में तो ऐसा समागम—विवाह—, जो परस्पर देखकर ठहरता है तथा जं रूप, प्रेम, कुल और उम्र बराबर हों, किन्हीं भाग्यवानों का हुआ करता है। (१

[सब के सब चल पड़े]

दूसरा अंक समाप्त

तीसरा अङ्क

[तदनन्तर शराब के नशे में चूर, विचित्र तथा अस्त-व्यस्त कपड़ों में, हाथ में प पकड़े हुए विट और कन्धे पर शराब की सुराही रखे हुए चेट प्रवेश करते हैं।]

विट—जो नित्यप्रति मदिरा पीते रहते हैं—ऐसे बलरामजी, तथा जो मि अथवा प्रियतमा की समागम कर देते हैं—ऐसे भगवान कामदेव, दोनों ही मे (उपास्य) देवता हैं। (१)

मुझ शेखर का जीवन सचमुच सफल है—

जिसकी छाती पर तो प्रियतमा, मुख में कमलों के डालने से सुगन्धित मदिरा और शिर पर मुकुट सर्वदा ही पड़े रहते हैं। (२)

[झूमता हुआ] अरे! यह मुझे कौन हिला रहा है? [हर्ष के साथ] अ नवमालिका मुझसे उपहास कर रही है।

चेट—स्वामी! वह तो अभी तक यहाँ आई भी नहीं है।

विट—[क्रुद्ध हुआ-सा] रात्रि के पहिले प्रहर में मलयवती का विवाह-मंगल हो गया था; अब तो प्रातःकाल भी हो गया है; फिर भी पता नहीं क्यों नहीं रही है। [सोच कर हर्ष के साथ] अथवा मैं समझता हूँ कि विवाहोत्सव में सिद्ध और विद्याधर लोग अपनी-अपनी प्रियतमाओं सहित कुसुमाकर-उद्यान मदिरा-पान का आनन्द उड़ाते होंगे। वहीं नवमालिका मेरी प्रतीक्षा करती बैठी होगी। इसलिए मैं वहीं चलता हूँ। नवमालिका के विना शेखर कै

[लड़खड़ाता हुआ चला जाता है।]

चेट—चलिए स्वामी, चलिए। यह कुसुमाकर-उद्यान आ गया है। भीतर प्रवेश कीजिए। [दोनों प्रवेश का अभिनय करते हैं।]

[तदनन्तर कन्धे पर दो वस्त्रों को रखे हुए विदूषक का प्रवेश।]

विदूषक—मेरे प्रिय मित्र की मनोकामनायें पूरी हो गई हैं। मैंने भी सुना है कि प्रिय मित्र कुसुमाकर-उद्यान में जाएंगे, इसलिए मैं वहीं जाता हूँ। [चल कर और देख कर] यह कुसुमाकर-उद्यान है, तो मैं इसके भीतर प्रवेश करता हूँ। [प्रवेश करके भ्रमरों द्वारा तंग किये जाने का अभिनय करता हुआ] अरे! क्यों ये दुष्ट भ्रमर मुझ पर ही आक्रमण कर रहे हैं? [अपने आपको सूँघ कर] अच्छा, समझ गया हूँ; बात यह है कि मलयवती के बन्धु-बान्धवों ने "जामाता का प्रिय मित्र है"—यह समझकर आदर के साथ मुझे रंगों से पोत दिया है और मेरे शिर पर कल्पवृक्ष के फूलों का हार बाँध दिया। मेरा यह अतिशय आदर ही मेरे लिए अनर्थ का कारण बन गया है। अब मैं यहाँ क्या करूँ? अथवा मलयवती के पास से प्राप्त हुए दो लाल वस्त्रों से स्त्री का वेश बना कर चादर से घूँघट किये हुए चलता हूँ; देखता हूँ कि हरामज़ादे भ्रमर क्या करते हैं। [वैसा ही करता है।]

विट—[देखकर प्रसन्नता के साथ] अरे चेट! [अंगुली से दिखाकर परिहास के साथ] यह नवमालिका आ गई है। मुझे देखकर "देरी में आया है" इस कारण रूठी हुई घूँघट काढ़े दूसरी ओर जा रही है, इसलिए गले लगा कर इसे मनाता हूँ। [एकाएक पास जाकर गले लगा मुख में पान का पत्ता देना चाहता है।]

विदूषक—[मदिरा की गन्ध जतलाता हुआ नाक पकड़ कर मुँह फेर करके] किस तरह एक प्रकार के 'मधुकरों' (भ्रमरों) के पास से पिण्ड छुड़ाया, तो अब यह दूसरे प्रकार के 'मधुकर' (शराबी) के मुँह में पड़ गया हूँ।

विट—क्यों रूसकर मुँह फेरा दिया? [प्रणाम करता हुआ विदूषक के पैरों पर अपना शिर टेंक कर] प्रसन्न हो जा नवमालिका, प्रसन्न हो जा।

[तदनन्तर चेटी का प्रवेश]

चेटी—देईजी ने मुझे आज्ञा दी है—"अरी नवमालिका, कुसुमाकर-उद्यान में जाकर पल्लविका मालन को बोल दे कि आज तमालवृक्षों वाले मार्ग को अच्छी तरह सजा रखना, क्योंकि मलयवती के साथ जामाता ने वहाँ आना है।" पल्लविका को मैंने आज्ञा दे ही दी है, तो अब रात के वियोग के कारण बड़े उत्सुक हुए प्रिय शेखरक को ढूँढ़ती हूँ। [देखकर] यह शेखरक है। [रोष के

साथ] अरे, किस तरह किसी और ही स्त्री को मना रहा है। इसलिए यहीं रुक कर पता लगाती हूँ कि यह स्त्री कौन है।

विट—[हर्ष के साथ]—

जो शेखर अभिमान में ब्रह्मा, विष्णु, और महेश को भी प्रणाम करना नहीं जानता—वह तुम्हारे पैरों पर पड़ रहा है नवमालिका! (३)

विदूषक—हरामज़ादे, मद्यपों के सरदार! कहाँ यहाँ नवमालिका?

चेटी—[देखकर मुस्कराती हुई] अरे, 'यह मैं हूँ'—इस भ्रम से किस तरह नशे में चूर शेखरक आत्रेय जी को मना रहा है? तो नकली क्रोध करके मैं इन दोनों से ही उपहास करूँगी।

चेट—[चेटी को देखकर शेखरक को हाथ से हिलाता हुआ] स्वामी, इसे छोड़ें! यह नवमालिका नहीं है। नवमालिका तो रोष के कारण लाल-लाल आँखों से देखती हुई यह आई हैं।

चेटी—[पास जाकर] शेखरक! यह किस स्त्री को मना रहे हो?

विदूषक—[घूँघट उतार कर] देवी, मैं तो मन्दभाग्य का मारा हुआ एक ब्राह्मण हूँ।

विट—[विदूषक को देख करके] अरे भूरे बन्दर! तू भी मुझ शेखरक को बेवकूफ बनाता है? चेट, तू इसे पकड़े रख। तब तक मैं नवमालिका को मनाता हूँ।

चेट—जैसी स्वामी की आज्ञा।

विट—[विदूषक को छोड़कर चेटी के पैरों पर पड़ता है।] प्रसन्न हो जाओ नवमालिका! प्रसन्न हो जाओ।

विदूषक—[मन ही मन] अपने को छुड़ाने का यही मौक़ा है। [भागने का प्रयत्न करता है।]

चेट—[विदूषक का यज्ञोपवीत पकड़ लेता है और यज्ञोपवीत टूट जाता है।] भूरे बन्दर, कहाँ भागना चाहते हो? [उसी के चादर से गला बाँधकर खींचता है।]

विदूषक—देवी नवमालिका! कृपा करो; मुझे छुड़ा दो।

चेटी—[हँसकर] यदि भूमि पर शिर टेक कर मेरे पैरों पर पड़ो तो।

विदूषक—[क्रोध से काँपता हुआ] अरे, मैं राजा का मित्र और ब्राह्मण होकर तुझ राँड की छोकरी के पैरों पर पड़ूं।

चेटी—[अँगुली दिखाकर डराती और मुस्कराती हुई] अच्छा, अभी पड़ोगे

हूँ। शेखरक, उठो; मैं तुम पर प्रसन्न हूँ। [गले लगाती है।] यह तो जामाता का प्रिय मित्र है। इसकी क्यों बुरी गत की? इस तरह सुनकर यदि कहीं स्वामी मित्रावसु तुमपर नाराज हो जायँ तो? इसलिए आदर सन्मान के साथ इसे मना लो।

विट—नवमालिका की जैसी आज्ञा। [विदूषक को गले लगाकर] अजी, तुम हमारे सम्बन्धी हो—इस कारण तुम से हँसी-मखौल किया है। [लड़खड़ाता हुआ] वैसे ही शेखरक क्या कोई पागल है? हँसी-मखौल किया है। [चादर को गोल लपेट कर बैठने को आसन देता है।] इसपर विराजिए सम्बन्धीजी।

विदूषक—[मन ही मन में] सौभाग्य से नशे का जोर उतर-सा गया है। [दोनों बैठते हैं।]

विट—नवमालिका! इसके पास तू भी बैठ जा जिससे मैं तुम दोनों को एक-साथ ही आदर-सन्मान करूँ।

चेटी—[हँस कर बैठ जाती है।]

विट—[प्याला लेकर] अरे चेट, इस प्याले को अच्छी मदिरा से खूब छलाछल भर दे।

चेट—[प्याले भरने का अभिनय करता है।]

विट—[अपने शिर के हार से फूलों को निकालकर प्याले में डाल घुटने टेक करके नवमालिका को भेंट करता है।] नवमालिका, चुसकी लेकर इसे इसको दे दे।

चेटी—[मुस्कराती हुई] जैसा शेखरक बोले। [उसी तरह करके विट को दे देती है।]

विट—[विदूषक को प्याला देता है।] लो, पीओ; नवमालिका के मुख के सम्पर्क से इसका रस और भी अधिक सुगन्धित हो गया है; शेखरक को छोड़ पहिले कभी किसी और ने (नवमालिका की जूठी मदिरा) पी ही नहीं है। इससे अधिक तुम्हारा मैं और क्या आदर-सन्मान करूँ!

विदूषक—[आश्चर्यपूर्वक मुस्कराता हुआ] शेखरक, मैं तो ब्राह्मण हूँ।

विट—यदि तुम ब्राह्मण हो, तो तुम्हारा यज्ञोपवीत कहाँ है?

विदूषक—वह तो इस चेट ने खींच कर तोड़ दिया।

चेटी—[हँस कर] यदि ऐसा ही है, तो कुछ वेद के मन्त्र ही सुना दो।

विदूषक—देवी, क्या सुनाऊँ? इस मदिरा की दुर्गन्ध से तो वेदमन्त्र कंठ में ही रुक गये हैं; अथवा तुम्हारे साथ क्या वाद-विवाद करूँ? यह ब्राह्मण तुम्हारे पैर

पड़ता है। [पैरों पर पड़ना चाहता है।]

चेटी—[हाथों से रोक कर] अजी, ऐसा मत कीजिए। शेखरक, परे हटो, हटो। यह ब्राह्मण है। [विदूषक पैरों पर पड़ता है।] अजी, आपको क्रोध नहीं करना चाहिए। (आप सम्बन्धी है इसलिए) मैंने आपसे सम्बन्धी के साथ किये जाने योग्य ही हँसी-मखौल किया है।

विट—मैं भी इन्हें मनाता हूँ। [विदूषक के पैरों पर गिर कर] अजी, मैंने मदिरा के नशे में जो कुछ अपराध किया है, उसे आप क्षमा कर दें जिससे मैं नवमालिका के साथ सुरा-पानस्थान को जाऊँ।

विदूषक—अच्छा, मैंने क्षमा कर दिया है। तुम दोनों जाओ। मैं भी प्रिय मित्र को देखूँगा। [विट और चेटी सहित चेट चले जाते हैं।]

विदूषक—ब्राह्मण की अकाल-मृत्यु टल गई। मैं भी इस पियक्कड़ों के सरदार के संसर्ग से अपवित्र हो गया हूँ, इस लिए यहाँ बावड़ी में स्नान कर लूँ। [वैसा ही करता है। नेपथ्य की ओर देखकर] ये मेरे प्रिय मित्र भी भगवान् कृष्ण से पकड़ी हुई रुक्मिणी की तरह मलयवती को हाथ से पकड़ कर इधर ही आ रहे हैं; तो मैं भी उनके पास चला जाता हूँ।

[तदनन्तर वर की वेश-भूषा में नायक, मलयवती तथा सजधज के साथ नौकर चाकरों का प्रवेश]

नायक—[मलयवती को देखकर हर्ष-पूर्वक]—

जब मैं देखता हूँ, तो आँखें नीचे कर देती है; जब मैं बोलता हूँ, तो बातें नहीं करती; शय्या पर मुँह फेर कर बैठती है; यदि मैं हठ-पूर्वक आलिंगन करता हूँ, तो काँपने लगती है; कमरे से सखियों के बाहर चले जाने पर स्वयं भी जाना चाहती है—इस तरह नव-विवाहित प्रियतमा उल्टी-उल्टी रहती हुई भी आज मुझे और भी अधिक आनन्द दे रही है। (४)

[मलयवती को देखता हुआ] प्रिये मलयवती,—

हूँ-हूँ करके उत्तर देते हुए जो मैंने मौन (व्रत) का पालन किया, वनाग्नि का सा तेज धारण करने वाली चाँदनियों से जो मैंने (अपना) यह शरीर तपाया, तथा एकाग्रचित्त हो बहुत-से दिनों और रातों जो (तुम्हारा) ध्यान लगाया, हे प्रिये! यह सब उसी तपस्या का फल है कि मैं आज तुम्हारे मुख को देख रहा हूँ। (५)

नायिका—[अलग होकर मुँह फेर करके] अरी चतुरिका, ये केवल देखने

में ही सुन्दर नहीं है, प्रत्युत मीठा बोलना भी जानते ही हैं।

चेटी—[हँसकर] उल्टी बात बोलनेवाली देईजी, यह सब सत्य ही है, इसमें मीठा बोलने की कौन-सी बात है ?

नायक—चतुरिका, कुसुमाकर-उद्यान का मार्ग बताओ।

चेटी—आइए स्वामी, आइए !

नायक—[चलकर नायिका को लक्ष्य करके] आप धीरे-धीरे आवें—

स्तनों का भार ही तुम्हारे कटि-भाग को थकाने के लिए काफी है, तो और हार काहे को ? नितम्बों (hips) के भार के कारण ही तुम्हारी जंघायें थकी जा रही हैं, तो फिर इस तागड़ी का क्या काम ? पैरों में दोनों जंघाओं को ही वहन करने की शक्ति नहीं, तो पायजेबें क्यों ? तुम जब अपने ही अंगों से अच्छी तरह शोभित हो रही हो, तो भार के क्लेश के लिए ये गहनें क्यों ? (६)

चेटी—वह कुसुमाकर-उद्यान यह है; महाराज, प्रवेश कीजिएगा। [सब के सब प्रवेश करते हैं।]

नायक—[देखकर] अहो, कुसुमाकर-उद्यान की कितनी महान शोभा है ! क्योंकि यहाँ—

चन्दनवृक्षों का चूता हुआ रस लता-मण्डप के कुट्टिमों—फ़र्शों—के प्रदेशों को शीतल बना रहा है; पास ही में मोर जल-यन्त्रों के शब्द को लक्ष्य करके (मेघ-भ्रम से) नृत्य कर रहा है; फव्वारों से छोड़ा गया तथा गिर कर बहने से अनायास ही अपने साथ बहाये हुए फूलों की धूलि से पीला-पीला बना यह जल-समूह वृक्षों के थावलों को (basins) भरता हुआ वेग से चल रहा है। (७)

और भी—

ये भ्रमर (अपने) गीतों (झंकारों) को आरम्भ करके लतामण्डपों की भूमियों को गुंजाते, स्पष्ट दिखाई देनेवाले कुंकुम-चूर्ण को धारण किये तथा अपनी संगिनी भ्रमरियों के साथ छककर मकरन्द पीते हुए चारों तरफ़ पानोत्सव का आनन्द लूट रहे हैं। (८)

विदूषक—[पास आकर] आपकी विजय हो। आपका (मलयवती का) कल्याण हो।

नायक—मित्र, बहुत देरी में दिखाई दिये हो।

विदूषक—हे मित्र ! मैं तो शीघ्र ही यहाँ आया हुआ होता, किन्तु विवाह-

महोत्सव में इकट्ठे हुए सिद्धों और विद्याधरों के मदिरा-पान को देखने के कौतुक से इधर-उधर घूमते-फिरते इतने समय उधर ही रह गया; तो आप भी चलकर देखें।

नायक—जैसा तुम कहो। [चारों ओर देखता हुआ] मित्र, देखो, देखो—

अंगों पर पीले चन्दन-रस का लेप किये, कल्प-वृक्षों की मालाओं को पहने हुए तथा मणियों के भूषणों की कान्तियों के परस्पर मिलने से चित्र-विचित्र बने हुए वस्त्रों वाले ये विद्याधर सिद्ध लोगों के साथ मिलकर चन्दन-वृक्षों की छाया में प्रियतमाओं के पीने से बची हुई मदिराओं को पी रहे हैं। (६)

तो आओ, हम भी उस तमाल-वृक्षों वाले मार्ग की ओर चलें। [चल पड़ता है।]

विदूषक—यह वह तमाल-वृक्षों वाला मार्ग है। इसपर चलते-चलते ये श्रीमतीजी कुछ थकी-सी दिखलाई दे रही हैं, इसलिए यहीं स्फटिक-मणि के शिला-तल पर बैठ कर विश्राम कर लें।

नायक—मित्र, तुमने ठीक ही अनुमान लगाया है—

प्रियतमा का यह मुख गालों की कान्ति से चाँद को जीतकर धूप से लाल-लाल हुआ अब मानों कमल को जीतने की चेष्टा कर रहा है। (१०)

[नायिका को हाथ से पकड़ कर] प्रिये, यहाँ बैठ जाते हैं।

नायिका—जैसी आपकी आज्ञा। [सब के सब बैठ जाते हैं।]

नायक—[नायिका का मुख ऊपर उठा कर] प्रिये, कुसुमाकर-उद्यान के कुतूहलवाले हमने योंही तुमको थकाया है, क्योंकि—

भौंहों-रूपी लताओं से शोभित हुआ, लाल-लाल अधर-रूपी पत्तेवाला यह तुम्हारा मुँह आनन्द देनेवाला उद्यान है; इससे भिन्न अन्य [कुसुमाकर आदि सब] केवल वन है। (११)

चेटी—[मुस्कराती हुई विदूषक को लक्ष्य कर के] सुना तुमने, किस तरह ये राजकुमारी का वर्णन कर रहे हैं? अजी, मैं भी तुम्हारा वर्णन करती हूँ।

विदूषक—[हर्ष के साथ] देवी, अहो भाग्य मेरे! तो तुम मुझपर ऐसी कृपा करो जिससे यह मेरा यह मित्र फिर ऐसा न कहे कि तुम—'ऐसे हो', 'वैसे हो', 'भूरे-बन्दर-से हो'।

चेटी—अजी, जब विवाह की रात के जागरण में तुम नींद से भरे तथा आँख मूंदे हुए थे, तब मुझे बड़े अच्छे दिखलाई देते थे, इसलिए तुम उसी तरह

बैठ जाओ जिससे मैं तुम्हारा वर्णन करूँ।

[विदूषक उसी तरह कर लेता है।]

चेटी—[मन ही मन] जब तक यह आँख मूँदे हुए बैठा है, तब तक नील के रस-जैसे तमाल के पत्तों के रस से इसके मुख को काला कर दूँगी।

[उठ कर तमाल के पत्तों को मसलकर विदूषक के मुख काला कर देती है। नायक और नायिका विदूषक को देखते हैं।]

नायक—तुम धन्य हो, जिसका हमारे रहते रहते ऐसा वर्णन किया जा रहा है।

नायिका—[मुस्कराती हुई विदूषक को देखकर नायक को देखती है।]

नायक—[नायिका का मुख देखकर]—

हे भोली आँखों वाली! तुम्हारे अधर-रूपी पत्ते में मुस्कराहट-रूपी फूल प्रकट हुआ दीख रहा है, किन्तु फल दूसरी जगह—तुम्हें देखते हुए मेरे आँखों में—उत्पन्न हो रहा है। (१२)

विदूषक—देवी! तुमने क्या किया है?

चेटी—वर्णन किया है।

विदूषक—[हाथ से मुख पोंछ कर देख करके लकड़ी का डंडा उठा कर] अरी राँड की छोकरी। यह राजगृह हो गया (है) तेरा क्या कर सकता हूँ। [नायक को लक्ष्य करके] तुम दोनों के सामने इस राँड की छोकरी ने मेरा अपमान किया है; इसलिए यहाँ ठहर कर क्या करूँगा, दूसरी जगह जाता हूँ। [निकल जाता है।]

चेटी—आत्रेय महाराज मुझपर नाराज हो गए हैं। चल कर इन्हें मनाती हूँ। [जाना चाहती है।]

नायिका—अरी चतुरिका, क्या मुझे अकेली छोड़ कर जा रही है?

चेटी—[नायक की ओर निर्देश करके मुस्कराती हुई] इसी तरह अकेली तुम चिरकाल तक रहो। [चली गई।]

नायक—[नायिका का मुख देखता हुआ]—

अरी भोलीभाली! सूरज की किरणों के स्पर्श से लाल-लाल कान्ति को धारण करता हुआ तथा चारों ओर फैलती हुई दांतों की किरणों के रूप में केसरों को स्पष्ट दिखाता हुआ तुम्हारा यह मुख सचमुच कमल-जैसा है, किन्तु इसपर मकरन्द का पान करता हुआ भौंरा नहीं दिखाई देता। (१३)

नायिका—[हँसकर मुख को फेर देती है।]

नायक—[वही पद्य पढ़ता है।]

चेटी—[परदे का किनारा हटाकर प्रवेश करके पास में आकर] ये मन मित्रावसु किसी कार्य वश आपसे मिलना चाहते हैं।

नायक—प्रिये, तुम अपने घर चली जाओ। मैं भी मित्रावसु से मिल अभी आया।

नायिका—[चेटी के साथ चली जाती है।]

[तत्पश्चात् मित्रावसु का प्रवेश]

मित्रावसु—जीमूतवाहन के उस शत्रु को विना मार डाले मैं निर्लज्ज हो किस तरह कहूँ कि तुम्हारे शत्रु ने तुम्हारा राज्य ले लिया है। (१४)

विना सूचना दिये जाना भी उचित नहीं है, इसलिए सूचना देकर ही जा हूँ। राजकुमार! मित्रावसु आपको प्रणाम करता है।

नायक—[मित्रावसु को देखकर] मित्रावसु, इधर बैठो।

मित्रावसु—[देखकर बैठ जाता है।]

नायक—[देखकर] मित्रावसु, कुछ क्षुब्ध हुए-से दिखलाई देते हो।

मित्रावसु—उस मुए मातङ्गपर क्या क्षोभ?

नायक—मतङ्ग ने क्या किया है?

मित्रावसु—अपने ही विनाश के लिए आपके राज्यपर आक्रमण बोल दिया है।

नायक—[हर्ष-पूर्वक मन हीं मन] यदि यह सत्य हो जाय, तो कैसी बात है।

मित्रावसु—इसलिए उसके विनाश के लिए आप आज्ञा दीजिए। अथवा क्या कहूँ—

चारों तरफ से चलते तथा सारे आकाश-मार्ग में दौड़ते हुए वायु-यानों से सूर्य की किरणों को ढककर दिन को वर्षाऋतु की तरह काला—अंधकारमय—करते हुए ये सिद्ध आपकी आज्ञा को पाकर तत्काल युद्ध के लिए गये कि आप अपना राज्य प्राप्त हुआ समझो और आप के दुराचारी शत्रु (मतंग) के विनाश से उत्पन्न हुए भय के कारण फिर राजे लोग (भविष्य में) शिर भी नहीं उठा सकेंगे। (१५)

अथवा सेना-समूहों से क्या?—

वेग से खींची हुई तलवार की (सिंह के) केसर—जैसे किरणों के समूह से चमकते हुए एकमात्र मुझ से मुए मतंग को पशु से कपट कर युद्ध में यों ही

हुआ ही समझो जिस तरह कि वेग से खींची हुई तलवार के किरण जैसे केसरों के समूह से देदीप्यमान अकेले सिंह से पास से झपट कर गजराज मारा जाता है। (१६)

नायक—[कान बन्द करके मन ही मन] शिव! शिव!! शिव!!! बड़ी निर्दय बात बोल रहा है, अथवा इसे यो कहूँ? [प्रकट] मित्रावसु, यह कौन-सी बात है? विशाल भुजाओं वाले तुमसे तो इससे भी और अधिक बातों की आशा करते हैं, (किन्तु)—

जो बिना मांगे हुए भी दया के कारण परोपकार के लिए अपने शरीर तक को भी दे सकता है, वह (जीमूतवाहन) राज्य के लिए प्राणि-वध की क्रूरता की अनुमति किस तरह देवे? (१७)

साथ ही यह भी तो बात है कि क्लेशों—मानसिक दोषों—को छोड़कर अन्य किसी को मैं शत्रु ही नहीं समझता। यदि तुम मेरे लिए अच्छी बात करना चाहते हो, तो राज्य के खातिर क्लेशों का दास बने हुए बेचारे मातंग पर दया करो।

मित्रावसु—[क्रोध के साथ] हाँ, ऐसा हमारा भला करने वाले उस बेचारे पर क्यों न दया करें।

नायक—[मन ही मन] यह रोका नहीं जा सकता, क्योंकि इसका क्षोभ बड़ा भारी है और चित्त ताज़े-ताज़े क्रोध से भरा हुआ है। [प्रकट] उठो, भीतर चलें। वहीं तुम्हें समझाऊँगा—बुझाऊँगा। इस समय दिन ढल गया है। देखो—

कमलों की कलियों से नींद की मोहर—म्लानता—को नित्यप्रति मिटाता हुआ, दिशाओं को (प्रकाश से) भर देने के एकमात्र कार्य में लगी हुई अपनी किरणों से सकल संसार को प्रसन्न करता हुआ तथा अस्त होता हुआ भी स्तुतियों से मुखरित हुए मुखोंवाले सिद्धों द्वारा देखा जाता हुआ यह सूर्य भगवान ही एकमात्र प्रशंसायोग्य हैं, जिनका कि दूसरों के उपकार के लिए ही परिश्रम रहता है [जिस प्रकार कि कोई उदार पुरुष पद्मादि-निधियोंवाले खज़ाने से विलम्ब एवं राजकीय छाप (Stamp) की आवश्यकता को मिटाता हुआ, लोगों की आशाओं को पूरी कर के एकमात्र कार्य में लगे हुए हाथों से सब को प्रसन्न करता हुआ तथा सम्पत्ति के क्षीण होने पर भी स्तुति करनेवाले प्रार्थियों से सहायतार्थ देखा जाता हुआ हमेशा परोपकार के लिए ही परिश्रम करता रहता है]। (१८)

[सब के सब चले जाते हैं।]

तृतीय अङ्क समाप्त

चौथा अंक

[तदनन्तर कञ्चुकी और लाल वस्त्रों का जोड़ा लिये हुए द्वारपाल का प्रवेश]

कञ्चुकी—अन्तःपुरों (-रनिवासों) का प्रबन्ध करता तथा दण्डनीति (डंडे पकड़कर) से पद-पद (पग-पग) पर स्खलितों (ठोकरों) से (अपनी) रक्षा करता हुआ जरातुर (वृद्धावस्था के कारण दुःखित) मैं इस समय राजा का अनुकरण कर रहा हूँ, क्योंकि राजा भी अन्तःपुरों (शहरों के भीतर का) प्रबन्ध करता तथा दण्डनीति (दमननीति) से पद-पद (स्थान-स्थान) में स्खलितों (अपराधों-जुर्मों) से रक्षा करता हुआ जरातुर (यश के लिए उत्सुक) रहता है। (१)

प्रतीहार—मान्य वसुभद्रजी, आप किधर चले ?

कञ्चुकी—मुझे रानी विश्वावसु की माताजी ने आज्ञा दी है—"कञ्चुकी, रात तक मलयवती और जामाता के लिए लाल कपड़े ले जाया करो।" पुत्री श्वसुर-घर में है। जीमूतवाहन भी युवराज के साथ समुद्र का ज्वारभाटा देखने को आज गये हुए हैं—ऐसा सुना जा रहा है, इसलिए समझ में नहीं आता कि राजपुत्री के पास जाऊँ अथवा जामाता के पास जाऊँ।

प्रतीहार—अजी, राजपुत्री के पास जाना ही ठीक होगा। कारण यह है कि उस समय तक जामाता भी स्वयं वहाँ आ ही जावेंगे।

कञ्चुकी—तुमने ठीक कहा है। और तुम किधर चले ?

प्रतीहार—मुझे महाराज विश्वावसु ने आज्ञा दी है—"सुनन्द, मित्रावसु को कह दो कि दीवाली में प्रतिपदा के उत्सव पर मलयवती तथा जामाता को उत्सव के अनुरूप जो कुछ देना है, आकर उस पर विचार-विमर्श कर लो।" तो आप राजपुत्री के पास जाइए। मैं भी मित्रावसु को बुलाने जाता हूँ। [दोनों चले जाते हैं।

विष्कम्भक।

[तदनन्तर जीमूतवाहन और मित्रावसु का प्रवेश]

नायक—इस वन में घासवाली भूमि ही शय्या है, साफ शिला ही आसन है, वृक्षों के नीचे का स्थान घर है, पीने को झरनों का ठंडा पानी है, खाने को कन्द-फल है, साथी मृग हैं—ये सब विभव—आनन्द की वस्तुएँ—बिना मांगे ही प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु यहाँ एक कमी है और वह यह कि यहां प्रार्थी नहीं मिलता जिससे परोपकारशून्य हो हम व्यर्थ ही पड़े हुए हैं। (२)

मित्रावसु—[ऊपर की तरफ़ देखकर] कुमार, जल्दी करो, जल्दी करो। समुद्र में ज्वारभाटा आने का समय हो गया है।

नायक—[सुनकर] तुमने ठीक अनुमान लगाया है—

ऊपर उठते हुए जल-गजों के लगातार किये गये सूड़ों के ज़ोर के थपेड़ों से उत्पन्न, पर्वतों की गुफाओं के सभी भीतरी भागों को गुँजाता तथा कानों के पर्दों को फाड़ता हुआ यह ऊँचा शब्द जैसे उठ रहा है–उससे मालुम पड़ता है कि इधर-उधर उछलते हुए असंख्य शंखों को साथ लिये यह ज्वारभाटा प्रायः आ ही रहा है! (३)

मित्रावसु—सचमुच आ ही गया है, देखो—

लवंग लता के पत्तों को खाये हुए हाथियों और मगर-मच्छों के श्वास से सुगन्धित हुए जल के कारण यह समुद्र की वेला–बाढ़–रत्नों की चमक से रंगी जाती हुई सुन्दर लग रही है। (४)

तो आओ, जल फैलने के इस मार्ग से हट कर मलय पर्वत के शिखर के पास वाले उस मार्ग से घूम कर चलें।

नायक—मित्रावसु, देखो देखो; शरत्काल के कारण सुफ़ेद बादलों से घिरे हुए ये मलय पर्वत की चोटियाँ हिमालय पर्वत की चोटियों की-सी शोभा धारण कर रहे हैं।

मित्रावसु—ये मलय पर्वत की चोटियाँ नहीं हैं; ये तो सर्पों की हड्डियों के ढेर हैं।

नायक—[दुःख के साथ] शिव! शिव! शिव! क्यों इनकी इकट्ठी मौतें हुई?

मित्रावसु—ये इकट्ठी मौतें नहीं हैं। सुनिये जैसी कि बात है। कहते हैं कि पहिले गरुड़ अपने पंखों के पवन से समुद्र के समस्त जल को हटाकर वेग के साथ पाताल से नागों को उठाकर नित्यप्रति खाया करते थे।

नायक—[उद्वेग के साथ] बड़े दुःख की बात है। वे बहुत ही बुरा करते थे; हाँ फिर?

मित्रावसु—तब सकल नागों के विनाश की आशंका करते हुए वासुकि ने गरुड़ से कहा।

नायक—[आदर के साथ] क्या कहा? यह कि पहिले मुझे खाओ?

मित्रावसु—नहीं, नहीं।

नायक—और क्या कहा?

मित्रावसु—यह कहा—"तुम्हारे आक्रमण के भय से हजारों नाग-स्त्रियों के गर्भ गिर जाते हैं और हजारों बच्चे मौत के मुंह में चले जाते हैं। इस प्रकार हमारी सन्तानों के विनष्ट हो जाने से तुम्हारा वह स्वार्थ भी जाता रहेगा जिसके कारण तुम नागलोक आया करते हो, इसलिए यहां से प्रतिदिन एक एक नाग मैं भेजा करूँगा।"

नायक—खेद है कि नागराज ने सर्पों को इस तरह बचाया।—

क्या दो हजार जिह्वाओं में से उसकी एक भी जिह्वा ऐसी नहीं निकली जिससे वह यह बोल देता कि "एक साँप की रक्षा के निमित्त मैंने गरुड़ के लिए आज अपने आपको अर्पण कर दिया है"? (५)

मित्रावसु—गरुड़ ने उसे स्वीकार कर लिया।—

इस प्रकार वासुकि द्वारा व्यवस्था के किये जाने पर जिन-जिन नागराजों को पक्षिराज खाया करते हैं, उन-उन की हिमालय-जैसे हड्डियों के ढेर दिन-दिन बढ़ गये, बढ़ते रहे हैं और बढ़ते रहेंगे। (६)

नायक—आश्चर्य की बात है—

सारी (मूत्रविष्ठादि) अपवित्र वस्तुओं के घर, कृतघ्नी और विनाशवान शरीर के लिए मूर्ख लोग पाप किया करते हैं। (७)

आह! नागों की यह विपत्ति कभी समाप्त होनेवाली नहीं। [मन ही मन] यदि अपने शरीर को अर्पण करके एक भी नाग के प्राणों की रक्षा मैं कर सकूँ तो कितना अच्छा होता!

[तदनन्तर प्रतीहार का प्रवेश]

प्रतीहार—मैं पहाड़ के शिखर पर चढ़ गया हूँ; अब मित्रावसु का पता लगाता हूँ। [चल कर] यह मित्रावसु जामाता के समीप बैठे हुए हैं। [पास जाकर] दोनों राजकुमारों की जय हो।

मित्रावसु—सुनंद, किसलिए यहाँ आये हो?

प्रतीहार—[कान में कहता है।]

मित्रावसु—कुमार, मुझे पिताजी बुला रहे हैं।

नायक—जाओ।

मित्रावसु—आपको भी बहुत-से खतरोंवाले इस स्थान में अधिक देर तक ठहरना ठीक नहीं है। [चल पड़ता है।]

नायक—अब मैं भी इस पर्वत-शिखर पर से उतर कर समुद्र-तट को देखता हूँ। [इधर-उधर घूमता है।]

[परदे के भीतर से]

हा! पुत्र शंखचूड, आज किस तरह मारे जाते हुए तुम्हें देखूँ?

नायक—[सुनकर] अरे, यह तो स्त्री का जैसा दुःखभरा विलाप है। यह स्त्री कौन है? किस से इसको भय है—इस बात का पता लगाऊँगा। [घूमता है।]

[रोती हुई बुढ़िया से अनुगत शंखचूड़ और दो वस्त्रों को छिपाये नौकर का प्रवेश]

वृद्धा—[रोती हुई] हा पुत्र शंखचूड़। आज किस तरह मारे जाते हुए तुम्हें देखूँ? [ठोडी पकड़कर] इस मुख-रूपी चाँद से शून्य हुआ पाताल लोक अब अन्धकारमय हो जायगा।

शङ्खचूड—माताजी! अपनी विकलता से तुम मुझे और भी अधिक दुःखित कर रही हो?

वृद्धा—[देखकर पुत्र के अंगों का स्पर्श करती हुई] हा पुत्र! निर्दय हृदयवाला गरुड़ तुम्हारे इस शरीर को—जिसने सूर्य की किरणों तक (के ताप) को नहीं देखा है—किस तरह खा जायगा? [गले लगाकर रोती है।]

शङ्खचूड—माताजी! यह रोना-धोना बन्द करो। देखो—

जब उत्पन्न हुए जीव को पहिले अनित्यता अपनी गोद में ले लेती है, पीछे वह दाई की तरह माता की गोद में आता है, तो फिर शोक करने की कौन-सी बात है? (८)

[जाना चाहता है।]

वृद्धा—पुत्र! क्षणभर ठहरो; जरा मैं तेरे मुख को देख लूँ।

किंकर—शङ्खचूड, आओ! इसके बोलते रहने से क्या? यह तो पुत्र-स्नेह से अन्धी बनी हुई हैं। राजा के प्रति कर्तव्य को क्या जाने?

शङ्खचूड—हाँ, यह आया।

किंकर—[सामने देखकर मन ही मन] इसे मैं वध्यशिला के पास ले आया हूँ; तो इसे अब वध्य-चिन्ह दूँ।

नायक—यही वह स्त्री है। [शङ्खचूड को देखकर] निश्चय यह इसीका पुत्र है। तो यह रो क्यों रही है। [चारों तरफ देखकर] इसके भय का कोई भी कारण नहीं दिखाई दे रहा है; इसे किससे भय होगा? ज़रा पास तो जाऊँ। इनकी आपस में बातचीत छिड़ी ही हुई है। सम्भवतः इससे ही भेद खुल जायगा, इसलिए मैं

वृक्ष की शाखाओं के पीछे छिपा हुआ सुन लेता हूँ। [वैसा ही करता है।]

किंकर—[आँसू बहाता हुआ अंजुलि बाँधकर] कुमार शङ्खचूड, यह स्वामी की आज्ञा है—इस कारण ऐसी निर्दयता की बात कहनी पड़ रही है।

शङ्खचूड—भद्रजन, कहिए।

किंकर—नागराज वासुकि आज्ञा देते हैं।

शङ्खचूड—[शिर पर अंजुलि बाँधकर आदर के साथ] महाराज क्या आज्ञा देते हैं?

किंकर—"लाल वस्त्रों के इस जोड़े को पहनकर वध्यशिला पर चढ़ जाओ जिससे लालवस्त्र देखकर गरुड़ तुम्हें खा जाय!"

नायक—[सुनकर] क्या इसे (मरने के लिए) वासुकि ने छोड़ा है?

किंकर—कुमार, इन दोनों वस्त्रों को लो। [सौंप देता है।]

शङ्खचूड—[आदर के साथ] लाओ। [लेकर] स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य है।

वृद्धा—[पुत्र के हाथ में दोनों कपड़ों को देखकर छाती पीटती हुई] हा बच्चे! इसे तो मैं वज्रपात की तरह समझ रही हूँ। [मूर्छित हो जाती है।]

किंकर—गरुड़ के आने का समय आ ही गया है, तो मैं जल्दी ही जाता हूँ। [चला जाता है।]

शङ्खचूड—माताजी, धीरज धरो।

वृद्धा—[धीरज धरकर आँसू बहाती हुई] हा सैकड़ों आशाओं को रखकर प्राप्त हुए मेरे पुत्र! तुम्हें मैं फिर कहां देखूँगी? [गले लगाती है।]

नायक—आश्चर्य है कि गरुड़ कितना निर्दयी है! और भी—

मूर्छित हुई, बहुत विलाप करके आँसुओं की झड़ी लगाती हुई एवं "हे पुत्र! तेरा रक्षक कौन है"—यह कहकर (रक्षक की तलाश में) चारों दिशाओं में दृष्टि दौड़ाती हुई माता की गोद में बैठे हुए इस बालक को निर्दय होकर खाते हुए गरुड़ की न केवल चोंच ही, प्रत्युत हृदय भी वज्र से बना हुआ प्रतीत होता है।(१)

शङ्खचूड—[अपने आँसुओं को रोकता हुआ] माताजी, अधिक विकल होने से क्या?

जिन अत्यन्त दयालु पुरुषों ने प्रार्थियों की प्रार्थना (कभी) बेकार नहीं जाने दी, जिन्होंने दया करके परोपकार के लिए स्वार्थ की पर्वाह नहीं की और जिनका मन दूसरों के दुःखों से सदा दुःखित होता है—वे सज्जन चल बसे। माताजी, आँसू

के वेग को रोको, अब किसके आगे रोती हो? (१०)

धीरज बाँधो, धीरज बाँधो।

वृद्धा—[आँसू बहाती हुई] किस तरह धीरज बाँधूं? 'क्या—यह इकलौता पुत्र है'—इस कारण कृपा करके नागराज ने तुझे भेजा है? हा! इतने जीवों के रहते-रहते तुझे ही क्यों याद किया है? मैं सब तरह से मन्दभागिनी हूँ। [मूर्छित हो जाती है।]

नायक—[दयापूर्वक]

यदि दुःखी, मरणासन्न एवं बन्धु-बान्धवों से त्यागे हुए इसे मैं नहीं बचाता हूँ, तो मेरे शरीर का क्या लाभ? (११)

तो अब पास जाता हूँ।

शङ्खचूड—माताजी, अपने को मज़बूत बनाओ।

वृद्धा—हा बच्चे! जब नागलोक के रक्षक वासुकि ने ही तुझे छोड़ दिया है, तो अब दूसरा कौन तेरी रक्षा करेगा?

नायक—[पास आकर] निश्चय से मैं रक्षा करूँगा।

वृद्धा—[नायक को देखकर घबराहट में पुत्र को चादर से ढक करके घुटने टेक] गरुड़जी, मुझे मारो, मुझे ही नागराज ने आपका भोजन बनाकर भेजा है।

नायक—[आँसू बहाता हुआ] अहो! पुत्र पर कितना अधिक प्रेम है।—

पुत्र के प्रति प्रेम होने के कारण इस वृद्धा की विकलता को देखकर—मैं समझता हूँ—सर्पों का शत्रु (गरुड़) कठोर-हृदय होता हुआ भी शायद दया कर दे। (१२)

शङ्खचूड—माताजी, डरो मत। यह नागशत्रु नहीं; देखो—

कहाँ तो बड़े-बड़े सर्पों के मस्तकों के भेदन से निकलती हुई खून की धाराओं से लथपथ हुई भीषण चोंच वाला गरुड़ और कहाँ सौम्य स्वभाव, रूप और आकृति वाला यह सज्जन। (१३)

वृद्धा—मैं तो तेरी मृत्यु से डरी हुई सारे ही संसार को गरुड़मय देख रही हूँ।

नायक—माताजी, मत डरो। यह मैं विद्याधर तुम्हारे पुत्र की रक्षा के लिए ही आया हूँ।

वृद्धा—[हर्ष के साथ] पुत्र, इसी तरह फिर फिर बोल।

नायक—माताजी! फिर फिर बोलने से क्या? सचमुच क्रिया-रूप में ही मैं करता हूँ।

वृद्धा—[शिर पर अंजुलि बाँधकर] पुत्र! दीर्घकाल तक जीते रहो।

नायक—माताजी, यह वध्य-चिन्ह मुझे दे दो, जिसे ओढ़ कर मैं तुम्हारे पु
के प्राणों को बचाने के लिए गरुड़ को अपना शरीर खाने को दे दूँ। (१४)

वृद्धा—[कानों को बन्द करके] ऐसी अमंगल बात मत कहो। तुम भी तो मे
पुत्र-समान ही हो, बल्कि शंखचूड से भी अधिक हो, क्योंकि तुम इस तरह अप
शरीर देकर बन्धु-बान्धवों से छोड़े गये मेरे पुत्र की रक्षा करना चाहते हो।

शङ्खचूड—अहो! इस महात्मा का जीवन जगत् से विपरीत ही है, क्योंकि-

जिन (प्राणों) के लिए प्राचीन काल में विश्वामित्र ऋषि चाण्डाल की ल
कुत्ते का मांस तक खा गये थे, जिनके लिए गौतम ने अपने उपकार करने
नाडीजंघ को मार दिया था और जिनके लिए यह काश्यप का पुत्र गरुड़ प्रति
नागों को खाता है, उन्हीं प्राणों को–आश्चर्य की बात है–जो दयावश हो परो
के निमित्त तृण की तरह दे रहा है। (१५)

[नायक को लक्ष्य करके] हे महात्मन्! आपने अपने आपको दे डालने के लि
के कारण मुझपर सच्ची कृपा दिखाई है, इसलिए अब आग्रह मत कीजिए। देखो-

मेरे-जैसे क्षुद्र जीव तो होते और मरते रहते ही है, किन्तु परोपकार के लि
कमर कसे हुए तुम-जैसों का जन्म कहाँ होता है? (१६)

इसलिए आग्रह से बस करो। मेरे लिए प्राणत्याग का यह निश्चय त्याग दो।

नायक—शङ्खचूड, मेरे परोपकार करने के इस अवसर पर–जो मुझे ब
समय पश्चात् मिला है–तुम्हें विघ्न नहीं डालना चाहिए, इसलिए सन्देह करने
कोई बात नहीं। मुझे इस वध्य–चिन्ह को दे दो।

शङ्खचूड—महात्मन्! अपने को व्यर्थ कष्ट देने से क्या? शङ्खचूड शंख
तरह सफेद शंखपाल-वंश को कभी कलंकित नहीं करेगा। यदि तुम्हारी हम प
कृपा ही है तो ऐसा उपाय सोचो कि जिससे मेरी विपत्ति से विकल हुई यह मे
माँ प्राण न त्याग दे।

नायक—इसकी क्या चिन्ता? उपाय तो मेरा सोचा ही हुआ है, किन्तु व
तुम पर निर्भर है।

शङ्खचूड—वह किस तरह?

नायक—जो तुम्हारे मरने पर मर जानेवाली है और तुम्हारे जीते रहने प
जीवित रहती है, उस मां को यदि तुम जीवित रखना चाहते हो, तो मेरे प्रा
से अपने को बचा लो। (१७)

यह उपाय है। तो जल्दी यह वध्य-चिन्ह मुझे दे दो जिससे कि मैं अब इससे अपने को ढक कर वध्य-शिला पर चढ़ जाऊँ। तुम भी अपनी माता को आगे-आगे करके इस स्थान से लौट जाओ। शायद तुम्हारी माता पास ही में वध-स्थान को देखकर स्त्री-स्वभाव के भीरु होने के कारण कहीं प्राण न छोड़ दे। क्या तुम मरे हुए नागों के अनेक अस्थिपञ्जरों से व्याप्त हुए इस महान मरघट को नहीं देखते? जैसे कि—

फड़कती चोंच से उठाये गये तथा बीच मार्ग में ही गिरते मांस के टुकड़े को पकड़ कर खाने के लिए बड़ी भारी तृष्णा रखे हुए गीधों द्वारा अपने पंखों की फड़फड़ाहटों से जिस में अंधेरा-सा हो रहा है—ऐसे इस मरघट में शृगालों के मुख से निकल कर गिरती हुई आग की लपटें निरन्तर टपकती हुई घनी चर्बी के संसर्ग से दुर्गन्ध वाली खून की धार में छिम्-छिम् शब्द कर रही हैं। (१८)

शङ्खचूड—क्यों नहीं देख रहा हूँ?—

नित्यप्रति आहार-रूप बने हुए साँप से युक्त, विनायक (गरुड़) प्रसन्न कर देने वाला तथा चाँद जैसी सफेद हड्डियां और खोपड़ियों को रखे हुए यह मरघट महादेव का शरीर-जैसा लग रहा है, क्योंकि महादेव का शरीर भी हार-रूप साँप से युक्त, विनायक (गणेश) को प्रसन्न कर देने वाला तथा चन्द्रकला और सफेद खोपड़ियों की हड्डियों को रखे हुए रहता है। (१९)

नायक—शङ्खचूड! जाओ न। बहुत समझाने-बुझाने की बातों को छोड़ो।

शङ्खचूड—गरुड़ के आने का समय अब हो ही गया है। [माता के आगे घुटने टेके हुए] माताजी, अब तुम भी वापस जाओ।

माताजी! जिस-जिस योनि में मैं जन्म-ग्रहण करूँ, उस उस में—हे पुत्र को ही एकमात्र प्रिय समझने वाली देवी!—तुम ही मेरी माता बनो। (२०)

[पैरों पर गिर पड़ता है।]

वृद्धा—[आँसू बहाती हुई] किस तरह ये इसके अन्तिम शब्द हैं? पुत्र! तुझे छोड़ कर मेरे पैर दूसरी ओर चलते ही नहीं, इसलिए यहीं तेरे साथ ठहरूँगी।

शङ्खचूड—[उठकर] अब मैं भी पास ही में भगवान दक्षिण गोकर्ण की प्रदक्षिणा करके स्वामी की आज्ञा का पालन करता हूँ। [दोनों चल पड़ते हैं।]

नायक—बड़े खेद की बात है कि मेरा मनोरथ नहीं बन रहा है। तो अब इसका क्या उपाय करूँ।

कञ्चुकी—[जल्दी-जल्दी प्रवेश करके] यह वस्त्रों की जोड़ी है।

नायक—[देखकर प्रसन्न हुआ मन ही मन] सौभाग्यवश सहसा प्राप्त हुए इन लाल वस्त्रों की जोड़ी से मेरा काम सिद्ध हो गया है।

कञ्चुकी—यह वस्त्रों का जोड़ा रानी मित्रावसु की माताजी ने आपके लिए भेजा है, इसलिए आप इसे पहन लीजिए।

नायक—[आदर-पूर्वक] लाओ।

कञ्चुकी—[दे देता है।]

नायक—[लेकर मन ही मन] मलयवती के साथ मेरा विवाह हुआ सफल हो गया है। [प्रकट] कञ्चुकी, जाओ। मेरी ओर से रानीजी को वन्दना कहना!

कञ्चुकी—जैसी आपकी आज्ञा हो। [चला गया।]

नायक—ठीक समय पर आये हुए ये दो लाल वस्त्र दूसरे के लिये अपने शरीर को देते हुए मुझे बड़ा आनन्द दे रहे हैं। (२१)

[दिशाओं की तरफ़ देखकर] क्योंकि तीव्र वायु से मलयाचल की चोटियों पर की शिलाओं का समूह उड़ रहा है, इससे पता चलता है कि गरुड़ आ ही रहा है। और भी—

संवर्त्तकों—प्रलयकाल के मेघों—के सदृश पंखों की पंक्तियाँ आकाश पर छा रही हैं; तेज़ वायु पृथिवी को डुबा देने के लिए मानो समुद्र के पानी को तीर से ऊपर उछाल रहा है और तत्काल प्रलय की शंका पैदा करता एवं दिग्गजों द्वारा भयपूर्वक देखा जाता हुआ (गरुड़ के) देह का बारह आदित्यों की-जैसी कान्ति-वाला प्रकाश दिशाओं को पीली-सी बना रहा है। (२२)

तो जब तक शङ्खचूड नहीं आता मैं शीघ्र ही इस वध्यशिला पर चढ़ जाता हूँ! [वैसा करके बैठकर स्पर्श का अभिनय करता है।] आहा! इस शिला का कितना अच्छा स्पर्श है!

मलयाचल के चन्दनवृक्षों के रस से गीली-गीली सी (देहवाली) मलयवती आलिंगन में मुझे उतना आनन्द नहीं देती जितनी कि अभिलषित प्रयोजन की सिद्धि के लिए आलिंगन की जाती हुई यह वध्य-शिला—ऐसा मेरा विचार है।(२३)

अथवा मलयवती से क्या?

बचपन में माता की गोद पर निश्शङ्क लेटे हुए मुझे वह सुख नहीं मिला था, जो वध्य-शिला की गोद में पड़े हुए मुझे (आज) मिल रहा है। (२४)

तो गरुड़ आ ही गये हैं, अब मैं अपने को ढक दूँ। [वैसा करता है]

गरुड़—डर के मारे घेरा बनाकर बैठे हुए शेषनाग की आकृति को मन ही मन याद करता हुआ, चन्द्रमण्डल को (एक तरफ) फेंक करके तथा रथ के घोड़ों के बिदक जाने के कारण सूर्य को भी झकोलकर बड़े भाई–अरुण-से आनन्द-पूर्वक देखा जाता हुआ और (अंगों के) किनारों को छूते हुए मेघों के पल्लों से लम्बे-लम्बे हुए पंखों वाला सर्पों को खाने का लोभी यह मैं समुद्रतीरवर्ती मलय पर्वत पर शीघ्र ही पहुँच गया हूँ। (२५)

नायक—[प्रसन्नता के साथ]

अपने शरीर के दे डालने से साँप की रक्षा करते हुए मैंने आज जो पुण्य कमाया है, उससे जन्म-जन्म में परोपकार के लिए ही मुझे शरीर प्राप्त होवे। (२६)

गरुड़—[नायक को देख कर]

बाक़ी साँपों को बचाने के लिए इस वध्य-शिलातल पर पड़े तथा मेरी डर के कारण फटे जाते हुए हृदय से बहते खून द्वारा लथपथ–जैसे लाल वस्त्रों से ढके हुए साँप को वज्र-दण्ड से भी अधिक भीषण चोंच से छाती फाड़कर खाने के लिए जोर से अब मैं उठाता हूँ। (२७)

[इस तरह झपट कर नायक को पकड़ता है। नेपथ्य में पुष्प गिरते हैं और नगाड़े बजते हैं।]

गरुड़—[ऊपर देखकर और सुनकर] अरे, यह तो फूलों की वर्षा और नगाड़ों का शब्द है। [आश्चर्य के साथ]

सुगन्ध से भ्रमरों को आनन्दित कर देनेवाली यह पुष्प-वर्षा आकाश से क्यों हो रही है? स्वर्ग में यह नगाड़ों का शब्द दिशाओं के समूह को क्यों गुँजा रहा है? [हँस कर] हाँ, जान लिया है मेरे वेग के वायु से वह पारिजात भी काँप गया है, प्रलय की भ्रान्तिवाले सभी संवर्त्तक मेघों ने भी यह गर्जना की है। (२८)

नायक—[मनही मन] अहो, भाग्य मेरे! आज मैं धन्य हूँ!

गरुड़—[नायक को पकड़ता हुआ]

नागों का रक्षक यह (नाग) क्योंकि मुझे भारी लग रहा है, अतएव मेरी नागों को खाने की तृष्णा को यह निश्चय ही मिटा देगा। (२८)

इसलिए इसको लेकर अब मलयपर्वत पर चढ़ के इच्छानुसार खाऊँगा। [चल पड़ा।]

[सब के सब चल पड़ते हैं।]

चौथा अंक समाप्त

पाँचवाँ अंक

[तदनन्तर प्रतीहार (द्वारपाल) प्रवेश करता है।]

प्रतीहार—प्रियजन यदि घर के उद्यान में भी चला जाता है, तो प्रेम (अधिक होने) के कारण उसके विषय में अनिष्ट की शंका होने लग जाती है, किन्तु यदि वह भयानक वन में हो—जहाँ कि बहुत से खतरे देखने में आते हैं—तब तो कहना ही क्या ! (१)

जैसे—समुद्र के ज्वारभाटे को देखने का कौतुक रख कर गये हुए जीमूतवाहन (लौटने में) देरी लगा रहे हैं—इस कारण महाराज विश्वावसु आकुल हुए बैठे हैं। उन्होंने मुझे आज्ञा दी है—"सुनन्द, सुना है कि जामाता जीमूतवाहन उस स्थान में गये हैं, जो गरुड़ के पास ही रहने से भयानक है; इस कारण इस खबर से चिन्ता हो गई है। तुम शीघ्र पता लगाकर आओ कि वह वापस आ गये हैं या नहीं।" अब मैं वहां जाता हूँ। [चलकर आगे देख करके] यह जीमूतवाहन के पिता राजर्षि जीमूतकेतु झोंपड़ी के आंगन में अपनी धर्मपत्नी के साथ पुत्रवधू राजपुत्री मलयवती द्वारा सेवा किये जाते हुए बैठे हैं। और भी—

सिकुड़न पड़े तथा किनारों पर लहराते हुए फेनयुक्त जल-जैसे दो रेशमी कपड़े (धोती और दुपट्टा) को धारण किये ये जीमूतकेतु सागर की—जैसी शोभा को दिखा रहे हैं, जिनके पास में समान वय (उम्र) वाली महारानी महापुण्या तो ऐसे विराज रही हैं जैसी वय (पक्षियों) सहित परमपावनी देवी गंगा और मलयवती यों लग रही है जैसे कि वेला (किनारा)। (२)

अब इनके पास जाता हूँ।

[धर्मपत्नी तथा पुत्रवधू समेत जीमूतकेतु का प्रवेश]

जीमूतकेतु—यौवन के सुख भोग ही लिये हैं; यश फैला दिया है; स्थिर-चित्त से राज्य कर लिया है; तपस्या भी कर चुका हूँ; पुत्र प्रशंसा का पात्र है; यह पुत्रवधू अपने-जैसे ही कुल की मिल गई है, (इसलिए) सफल-मनोरथ हुए मुझे अब मृत्यु का ही विचार करना चाहिए। (३)

सुनन्द—[एकाएक पास आ करके]—"जीमूतवाहन की"—

जीमूतकेतु—[कानों को बन्द करके] राम ! राम ! राम !

वृद्धा—इस अमंगल का नाश होवे।

मलयवती—इस बुरे लक्षण से मेरा कलेजा काँप रहा है।

जीमूतकेतु—[बायीं आँख के फड़कने की सूचना देकर] भले आदमी! "जीमूतवाहन की" क्या?

सुनन्द—जीमूतवाहन की खबर लेने के लिए महाराज विश्वावसु ने आप लोगों के पास मुझे भेजा है।

जीमूतकेतु—क्या मेरा लड़का उनके यहाँ नहीं है?

वृद्धा—[दुःख के साथ] महाराज, यदि वहाँ नहीं है, तो मेरा पुत्र कहाँ गया होगा?

जीमूतकेतु—हमारे वास्ते जीवननिर्वाहार्थ कन्द-मूलादि लाने को बहुत दूर चला गया होगा।

मलयवती—[विषाद के साथ मन ही मन] मैं प्राणवल्लभ को न पाती हुई कुछ और ही और शंका कर रही हूँ।

सुनन्द—आज्ञा दीजिए, मैं स्वामी को क्या निवेदन करूँ?

जीमूतकेतु—[बायीं आँख का फड़कना सूचित करके] जीमूतवाहन विलम्ब कर रहा है—इस कारण मेरा हृदय अकुला रहा है।—

अनिष्ट की सूचना देती हुई मेरी बायीं आँख! बार-बार क्यों फड़क रही है? ऐ अभागिन आँख! तेरा फड़कना नष्ट होवे। मेरा पुत्र कुशलपूर्वक है। (४)

[ऊपर की ओर देखकर] तीनों लोकों के एकमात्र चक्षु भगवान भास्कर अवश्य जीमूतवाहन का कल्याण करेंगे। [देखकर आश्चर्य में]

देखने में आँखों को अतिशय दुःख पहुँचाने वाली, खून की-सी छटा वाली अपनी किरणों की कान्तियों को बिखेरती हुई तथा वायु-द्वारा हिलाये गये उत्पात-सूचक पुच्छलतारे की तरह यह कौनसी वस्तु एकाएक आकाश से गिर रही है? (५)

किस तरह यह पैरों के ही पास गिरी? [सब देखने लगते हैं।]

जीमूतकेतु—अरे, यह तो चूड़ामणि–शिर का भूषण–है, जिस पर खून से भरा मांस और बाल भी लगे हुए हैं! यह किसकी होगी?

वृद्धा—[विषाद के साथ] यह तो हमारे पुत्र की-सी चूड़ामणि लगती है।

मलयवती—माताजी, ऐसा मत कहें।

सुनन्द—महाराज, बिना जाने-बूझे व्याकुल मत हूजिए, क्योंकि यहां—

गरुड़ द्वारा खाये जाने वाले सर्पों की ऐसी उल्का-जैसी शिरों में होनेवाली मणियाँ गिरा ही करती हैं। (६)

जीमूतकेतु—रानी, यह ठीक ही कहता है। शायद ऐसा ही हो।

वृद्धा—सुनन्द ! मेरा पुत्र इस समय तक ससुराल में वापस आ ही गया होगा, इसलिए जाओ और पता लगाकर शीघ्र ही हमें सूचना दो।

सुनन्द—जैसी महारानी जी की आज्ञा। [चल पड़ा।]

जीमूतकेतु—रानी, सम्भवतः साँप की चूड़ामणि हो।

[लाल वस्त्र पहने हुए शङ्खचूड़ का प्रवेश]

शङ्खचूड—[आँसू बहाता हुआ]—

समुद्र के किनारे गोकर्ण को प्रणाम करके मैं शीघ्र साँपों की वध्यभूमि में पहुँच ही गया हूँ (किन्तु मुझसे पहिले ही) गरुड़ नखों और मुख से छाती विदीर्ण करके उस विद्याधर को लेकर आकाश को उड़ गया है। (७)

[रोता हुआ] हा महात्मा ! हा परम-दयालु ! हा विना कारण ही एक मात्र बन्धु ! हा दूसरों के दुःख में दुःखी होने वाले ! तुम कहां गये? मुझे उत्तर दो। हा अभागे शङ्खचूड! यह तुमने क्या किया?—

सर्पों को बचाने का मैंने कोई भी यश प्राप्त नहीं किया, ना ही स्वामी की प्रशस्त आज्ञा का पालन किया है; अपने आपको अर्पण करके दूसरे व्यक्ति ने मेरी रक्षा की है—यह कितनी शोक की बात है। मेरे लिए धिक्कार है। बड़ा दुःख है कि मैं ठगा गया हूँ और खूब ठगा गया हूँ। (८)

तो ऐसे मैं क्षणभर भी जीवित रहता हुआ अपने को उपहास का पात्र नहीं बनाऊँगा। अब मैं उसी के पीछे पीछे जाने का प्रयत्न करूँगा। [घूमता हुआ भूमि की तरफ दृष्टि डाले हुए]—

गरुड़ को देखना चाहता हुआ मैं अच्छी तरह इस खून की धार का पीछा करते करते जाता हूँ, जो पहिले-पहिले तो (छाती के) विदारण करने के कारण चौड़ी चौड़ी, तत्पश्चात् विरली-विरली होती हुई भी मोटी-मोटी बूंदों वाली, पत्थरों पर गिरने के कारण विखरे और फैले हुए पतले-पतले कणों से युक्त, तलहटियों पर चींटियों से व्याप्त, मनशिल वाली भूमि पर कठिनता के साथ दिखाई देने योग्य तथा घने वृक्षों के अग्रभागों पर जमी एवं नीली-नीली पड़ी हुई है। (९)

वृद्धा—[भयपूर्वक] महाराज, यह शोक में डूबा हुआ-सा रोते चेहरे से जल्दी-जल्दी इधर ही आता हुआ मेरे हृदय को व्याकुल बना रहा है, इसलिए पता तो लगाओ कि यह कौन है।

जीमूतकेतु—जैसा तुम कहो।

शङ्खचूड—[रोता हुआ] हा तीनों लोकों का एकमात्र चूड़ामणि! तुमको (अब) मैं कहाँ देखूँगा? अरे मैं लुट गया हूँ, बुरी तरह से लुट गया हूँ।

जीमूतकेतु—[सुनकर हर्षपूर्वक हँस करके] रानी, शोक को त्याग दो। यह इसी का चूड़ामणि है, जो माँस के लोभ से किसी पक्षिद्वारा मस्तक में से उखाड़ कर ले जाया जाता हुआ इस जगह पड़ा है।

वृद्धा—[हर्ष के साथ मलयवती को गले लगाकर] हे सुहागिन, धीरज धर। सचमुच ऐसा-जैसा चेहरा वैधव्य का दुःख नहीं भोगता।

मलयवती—[प्रसन्नता से] माताजी, आपके ही आशिषों के प्रभाव से। [पैरों पर पड़ती है।]

जीमूतकेतु—[शङ्खचूड़ के पास जाकर] बच्चे! क्या तेरा चूड़ामणि चुरा लिया गया है?

शङ्खचूड—अजी, केवल मेरा ही नहीं, बल्कि तीनों लोकों का।

जीमूतकेतु—[शङ्खचूड़ को देखकर] बच्चे, किस तरह?

शङ्खचूड—अतिशय दुःख के कारण गला आँसुओं से रुँधा हुआ है, इस लिए कह नहीं सकता हूँ।

जीमूतकेतु—[मन ही मन] मर गया रे मैं! [प्रकट]—

हे पुत्र, अपना असह्य दुःख मुझे बताओ जिससे मुझ पर बैटा हुआ यह दुःख तेरे लिए सह्य बन जायगा। (१०)

शङ्खचूड—सुनिये; मैं शङ्खचूड़ नाम का नाग हूँ। भोजन बनने के लिए वासुकि ने गरुड़ के पास मुझे भेजा था। अधिक विस्तार क्या करूँ, यह खून की धार वाला मार्ग धूलि बिखर जाने के कारण कहीं दीखने से न रह जाय, इसलिए संक्षेप से ही कहता हूँ।—

किसी करुणा-भरे हृदयवाले विद्याधर ने अपने आपको गरुड़ को अर्पण करके मेरे प्राण बचा लिये हैं। (११)

जीमूतवाहन—दूसरों की भलाई का व्यसन वाला दूसरा और कौन हो सकता है? साफ-साफ ही क्यों नहीं बोलते कि "जीमूतवाहन ने"? हाय! अभागी मैं मर गया!

वृद्धा—हा पुत्र! यह तुमने कैसा किया?

मलयवती—क्यों, जो बुरा विचार में करती थी, क्या वह सच्चा हो ही गया?

[सब के सब मूर्छित हो पड़ते हैं।]

शङ्खचूड—[आँसू बहाते हुए] सचमुच ये उस महापुरुष के माता-पिता हैं। किस तरह मैंने अप्रिय बात कह कर इनकी यह गत की है? अथवा साँप के मुँह से विष को छोड़कर और निकल ही क्या सकता है? अहो! प्राण दे देनेवाले जीमूतवाहन का शङ्खचूड़ ने बदले में क्या यही अच्छा उपकार किया है! तो क्या मैं आत्मघात कर डालूँ? अथवा इन दोनों को धीरज बधाऊँ? पिताजी, धीरज धारें माताजी भी धीरज धरें। [दोनों धीरज बाँधते हैं।]

वृद्धा—बची, खड़ी उठ, रो मत। क्या हम जीमूतवाहन के बिना कभी जीवित रह सकते हैं? इसलिए इस वक्त जरा धीरज धर।

मलयवती—[धीरज धर कर] हे नाथ! अब मैं आपको कहाँ देखूंगी?

जीमूतकेतु—हा बच्चे, हा माता-पिता के चरणों की सेवा की (न विधियों को जानने वाले!—

मेरे चरणों पर चूडामणि गिराते हुए तुमने परलोक को जाते हुए भी कि का मार्ग–शिष्टाचार–नहीं छोड़ा! (१२)

[चूड़ामणि को लेकर] हा वत्स! किस तरह तुम अब चूड़ामणि-रूप में दिखाई देने योग्य बन गये हो! [चूड़ामणि को छाती से लगाकर] हाय!—

नीचे तक नम्र शिर झुकाये भक्ति के साथ सदा मेरे चरणों को प्रणाम करने वाले तुम्हारे शिर का यह मणि चरणों की रगड़ों से चिकना एवं अधिक होता हुआ भी मेरे हृदय को कितना गहरा विदारण कर रहा है! (२६)

वृद्धा—हा पुत्र जीमूतवाहन! जिस तुझको माता-पिता की सेवा को छोड़कर दूसरा सुख अच्छा लगता ही नहीं था, वह तू अब पिता को त्याग कर स्वर्ग में सुख भोगने कहाँ चला गया।

जीमूतकेतु—[आँसू बहाता हुआ] रानी, क्या जीमूतवाहन के बिना हम जीवित रह सकते हैं, जो तुम इस तरह विलाप कर रही हो?

मलयवती—[चरणों पर गिरकर अंजुलि बाँधे] तो मेरे पति का चिन्ह यह चूड़ामणि मुझे दे दो जिससे इसे छाती पर रखकर अग्नि-प्रवेश द्वारा मैं अपने हृदय के सन्ताप के दुःख को मिटा दूँ।

जीमूतकेतु—हे सती! यों हमें क्यों व्याकुल बना रही हो? वास्तव में यह हम सभी का निश्चय है।

वृद्धा—महाराज, तो प्रतीक्षा हम किसकी करें ?

जीमूतकेतु—नहीं रानी, किसी की भी प्रतीक्षा नहीं, किन्तु अग्निहोत्री का दाह-संस्कार अन्य अग्नि से नहीं हुआ करता है, इसलिए यज्ञशाला की अग्नियां को लाकर ही हम अपने को जलावें।

शङ्खचूड—[मन ही मन] कितने दुःख की बात है कि केवल मेरे एक के लिए यह सारा का सारा विद्याधर-कुल नष्ट हुआ जा रहा है, इसलिए यों कहता हूँ। [प्रकट] पिताजी, पूरा-पूरा निश्चय किये बिना ही यह साहस का काम करना ठीक नहीं है। भाग्य के खेल विचित्र हुआ करते हैं। कदाचित् गरुड़ यह समझकर कि यह नाग नहीं है, उसे छोड़ दे, इसलिए अब इसी ओर गरुड़ का पीछा करते हैं।

वृद्धा—सब तरह देवताओं की अनुकम्पा से हम पुत्र का मुख देख लें।

मलयवती—[मन ही मन] मुझ अभागिन के लिए यह दुर्लभ बात है।

जीमूतकेतु—बच्चे, तेरी यह वाणी सच्ची होवे; तथापि यज्ञशाला की अग्नियों को साथ लेकर ही हमारा चलना ठीक रहेगा, इसलिए तुम तो पीछे-पीछे चल पड़ो। हम भी यज्ञशाला से अग्नि लेकर शीघ्र ही तुम्हारे पीछे आते हैं। [पत्नी तथा पुत्रवधू सहित चल पड़ा।]

शङ्खचूड—तो मैं अब गरुड़ का पीछा करता हूँ। [आगे देखकर]—

खून से गीली बनी हुई चोंच की रगड़ों से पहाड़ की ढलानों को नाव-जैसी बनाता हुआ, अपनी आँखों की ज्योति की लपटों से आसपास के वन-मध्य को आग लगाता हुआ तथा चुभाये हुए वज्र-जैसे कठोर नखों के किनारों से पृथ्वी को धंसाता हुआ यह गरुड़ मलयपर्वत के शिखर के अग्रभाग पर (बैठा) दूर से नज़र आ रहा है। (१४)

[तदनन्तर आसन पर बैठे तथा जीमूतवाहन को आगे रखे गरुड़ का प्रवेश]

गरुड़—जन्म से ही नागराजों को खाते हुए मैंने पहिले कभी ऐसी आश्चर्य की बात नहीं देखी थी कि इस महात्मा को वेदना ही नहीं होती है, केवल इतना ही नहीं बल्कि कुछ प्रसन्न हुआ-सा दिखलाई पड़ता है। जैसे—

खून के अधिक पीये जाने पर भी इसके धैर्य-रूपी समुद्र में (जरा भी) कमी नहीं है, मांस के नोचने से पैदा हुई वेदनाओं को रखते हुए भी इसका मुख भीतरी आनन्द से प्रसन्न है, जो अङ्ग अभी खाया नहीं गया है उसपर यह रोमाञ्च

स्पष्ट दीख रहा है तथा अपकार करनेवाले मुझपर भी इसकी दृष्टि ऐसी पड़ रही है जैसे कि उपकार करनेवाले पर पड़ा करती है। (१५)

यही कारण है इसकी धैर्य-वृत्ति ने कौतूहल पैदा कर दिया है। अस्तु, इसे अब मैं खाता ही नहीं हूँ। इसे अब पूछता हूँ कि यह है कौन। [पीछे हट जाता है।]

नायक—[गरुड़ को मांस नोचने से विमुख देखकर]—

मेरी धमनियों के अग्रभागों में से खून बह ही रहा है; अब भी मेरे शरीर में माँस मौजूद है; तुम्हारी अभी तृप्ति भी हुई नहीं पाता हूँ; हे गरुड़, तुम खाने से क्यों [एकाएक] रुक गये ? (१६)

गरुड़—[मन ही मन] आश्चर्य है। आश्चर्य है!! इस अवस्था में भी किस ओज-पूर्ण ढंग से बोल रहा है!—

मैंने चोंच द्वारा तुम्हारे हृदय से खून ही लिया है, किन्तु तुमने तो इस धीरज से मेरा हृदय ही ले लिया है। (१७)

तो तुम हो कौन ?—यह मैं सुनना चाहता हूँ।

नायक—तुम भूख से इतना तंग हो कि तुम क्या सुन सको। मेरे माँस और खून से अपनी तृप्ति तो कर लो।

शङ्खचूड—[सहसा पास में आकर] गरुड़जी! नहीं, नहीं, ऐसा साहस न कीजिए। यह नाग नहीं है। इसे छोड़ दो। मुझे खाओ। तुम्हारे भोजन के लिए वासुकि ने मुझे भेजा है। [छाती दे देता है।]

नायक—[शङ्खचूड को देख करके विषादपूर्वक मन ही मन] दुःख की बात कि शङ्खचूड ने आकर मेरा मनोरथ विफल कर दिया है।

गरुड़—[दोनों को देखकर] अरे, वध्यचिन्ह तो तुम दोनों के ही हैं। कौन नाग है—समझ में नहीं आता।

शङ्खचूड—आपकी भ्रान्ति वेमौके की है।—

(नायक की) छाती पर के स्वस्तिक के चिन्ह की बात को जाने भी दो, किन्तु इसके शरीर में केंचुली (भी तो) नहीं दिखलाई दे रही है; बोलते हुए मेरी दो जीभ कदाचित् तुम न भी गिनो, किन्तु तीव्र विषाग्नि के धूम-समूह से फीकी पड़ी तथा असह्य दुःख के कारण निकलते हुए फूत्कार के वायु से फूली हुई फणाओं को नहीं देखते क्या ? (१८)

गरुड़—[दोनों को देखकर, शङ्खचूड़ की फन देख करके] तो मैंने यह कौन मार दिया।

शङ्खचूड—विद्याधर-कुल का भूषण जीमूतवाहन। तुम निर्दयी ने यह कैसा किया!

गरुड़—अरे यह तो विद्याधर-कुमार जीमूतवाहन है।

सुमेरु पर्वत पर, मन्दराचल की गुफाओं में, हिमालय की चोटी पर, महेन्द्राचल पर, कैलास की चट्टानों में मलयाचल के पठारों में, तथा अन्य तत्तत्-स्थानों में लोकालोक पर्वत पर घूमनेवाले चारणों के गणों से गाया जाता हुआ जिसका यश मैंने बहुत बार सुना है। (१८)

सब तरह मैं बड़े पापरूपी कीचड़ में डूब गया हूँ।

नायक—हे नागराज, इस तरह खिन्न-से क्यों हो?

शङ्खचूड—क्या यह खेद की बात नहीं है?—

मेरे इस शरीर को अपने शरीर द्वारा गरुड़ से बचाते हुए आपको क्या यह ठीक है कि आप मुझे पाताल से भी नीचे ले जाओ? (२०)

गरुड़—अहो! दया-भरे हृदय से इस महात्मा ने हमारा भोजन बने हुए नाग के लिए अपना ही देह भोजन के लिए अर्पण किया है; मैंने यह बहुत बुरा काम किया है। अधिक क्या बोलूँ, मैंने तो एक महात्मा को मार डाला है। इस महान पाप का अग्नि-प्रवेश के अतिरिक्त अन्य प्रायश्चित्त नहीं देख रहा हूँ, इसलिए अब कहाँ मुझे आग मिलेगी? [चारों तरफ देखकर] हाँ, ये कोई आग लिये हुए इधर ही आ रहे हैं! तो इनकी प्रतीक्षा करता हूँ।

शङ्खचूड—कुमार, तुम्हारे माता-पिता आ पहुँचे हैं।

नायक—(घबराहट के साथ) आकर इस चादर से मेरे शरीर को ढक करके थामे रखो, नहीं तो एकाएक मेरी ऐसी हालत देखकर मेरे माता-पिता कदाचित् प्राण त्याग दें।

शङ्खचूड—[पास ही में पड़ी हुई चादर उठा कर वैसा ही करता है।]

[तदनंतर पत्नी तथा पुत्रवधू सहित जीमूतकेतु का प्रवेश]

जीमूतकेतु—[आँसु बहाते हुए] हा पुत्र जीमूतवाहन!—

"यह अपना है" और "यह पराया है" इस तरह दया का क्रम-व्यवस्था (यह बात तुम्हारी हम मानते हैं); किन्तु "मैं बहुतों की सचमुच क्या हो? (यह बात तुम्हारी हम मानते हैं);

रक्षा करूँ" अथवा "एक की रक्षा करूँ"—यह विचार तुम्हें क्यों नहीं हुआ! अपना जीवन परित्याग करते हुए तुमने गरुड़ से नाग को बचाने के लिए अपने आपको, अपने माता-पिता को तथा अपनी वधू को अर्थात् सारे के सारे कुल को नाश कर डाला। (२१)

वृद्धा—[मलयवती को लक्ष्य कर के] पुत्री! क्षणभर जरा ठहर। लगातार गिरते हुए तुम्हारे आँसुओं की बूँदों से यह आग बुझ रही है। [सब के सब चले जाते हैं।]

जीमूतकेतु—हा पुत्र जीमूतवाहन!

गरुड़—[सुनकर] "हा जीमूतवाहन"—ऐसा बोल रहा है; इससे साफ प्रकट है कि यह इसका पिता है। तो क्या मैं इसकी ही आग से अपने आपको जला डालूँ। इसके पुत्र के वध के कारण लज्जा के मारे इसको मैं अपना मुँह नहीं दिखा सकता अथवा आग की खातिर मैं इतना परेशान क्यों होऊँ? पास में समुद्र तो है, इसलिए अभी—

प्रलय-काल के वायुओं के चलने से और भी तेज बनी, मेरे अपने ही पंखों की हवा से भड़की, तीनों ही लोकों के निगलने के स्वाद के कारण फड़कती काल की जिह्वा के अग्र-भाग-जैसी लगने वाली, फैलती हुई लपटों की तरंगों से सातों समुद्रों को ग्रास बनाने—भस्म कर डालने—को समर्थ तथा प्रलय की आग के समान भयानक इस वाडवानल में गिर पड़ता हूँ। (२२) [उठना चाहता है।]

नायक—ऐ पक्षियों का राजा, (आत्मघात के) इस निश्चय को छोड़िए। इस पाप का प्रायश्चित्त यह नहीं है।

गरुड़—[घुटने टेक कर अंजुलि बाँधे] कहिए तो क्या प्रायश्चित्त है?

नायक—क्षणभर जरा ठहरो। मेरे माता-पिता आ पहुँचे हैं, जरा इनको प्रणाम कर लूँ।

गरुड़—हां, कीजिए।

जीमूतकेतु—[देखकर हर्ष के साथ] रानी, बधाई हो; यह आपका पुत्र जीमूतवाहन न केवल जीवित ही है, बल्कि शिष्य बनकर सामने अंजुलि बाँधे हुए गरुड़ इसकी सेवा भी कर रहा है।

वृद्धा—महाराज, मैं धन्य हूँ कि जो मैंने अपने कुशली पुत्र का मुंह देख पाया है।

मलयवती—प्राणनाथ को देखती हुई भी मैं विश्वास नहीं करती, क्योंकि मुझे यह असंभव लग रहा है।

जीमूतकेतु—[पास आकर] पुत्र! आओ, आओ, मेरे गले लगो।

नायक—[उठना चाहता हुआ चादर के गिर पड़ने पर मूर्छित हो जाता है।]

शङ्खचूड—कुमार, धीरज धरो, धीरज धरो।

जीमूतकेतु—हा बच्चे! किस तरह मुझे देखकर भी छोड़ के तुम चले गये।

वृद्धा—हा पुत्र! किस तरह वाणी-मात्र से भी तूने मेरा सन्मान नहीं किया है!

मलयवती—हा प्राणनाथ! किस तरह माता-पिताओं का भी तुम दर्शन नहीं कर पाये!

[सब से सब मूर्छित हो पड़ते हैं।]

शङ्खचूड—हा अभागे शङ्खचूड! तू गर्भ में ही क्यों न मर गया जो तू इस प्रकार क्षण-क्षण में मृत्यु से भी अधिक दुःख भोग रहा है?

गरुड़—यह सब कुछ मुझ निर्दयी के विना सोचे-समझे किये का फल है। तो अब यों करता हूँ। [पंखों से हवा करके] ऐ महात्मा, धीरज धरिये, धीरज धरिये।

नायक—[चेतन होकर] शङ्खचूड, मेरे माता-पिताओं को धीरज बँधाओ।

शङ्खचूड—पिताजी! धीरज धरिये, धीरज धरिये। माताजी, धीरज धरिये, धीरज धरिये। जीमूतवाहन सचेत हो गया है क्या नहीं देखते? बल्कि आप लोगों को ही आश्वासन देने के लिए बैठ पड़ा है। [दोनों चेतन हो जाते हैं।]

वृद्धा—पुत्र! किस तरह हमारे देखते-देखते तू पापी यमद्वारा हमसे छीना जा रहा है?

जीमूतकेतु—रानी, ऐसी अमंगल बात मत कहो। आयुष्मान पुत्र तो जीवित है। बहू, तुम धीरज बाँधो।

वृद्धा—[मुख को वस्त्र से ढक कर रोती हुई] अमंगल नाश होवे। अब नहीं रोऊँगी। मलयवती, चेतन हो जा; बच्ची, उठ बैठ, उठ बैठ, अच्छा है इस समय अपने भर्ता का मुख देख ले।

मलयवती—[होश में आकर] हा प्राणनाथ!

वृद्धा—[मलयवती का मुख ढककर] पुत्री, ऐसा न कर। अमंगल नष्ट हो गया है।

जीमूतकेतु—[आँसू बहाते हुए मन ही मन]—

(कण्ठ को छोड़कर) बाक़ी अंगों के खाये जाने से आश्रय-रहित होकर मानो कण्ठ-स्थान में आये हुए प्राणों को छोड़ते हुए पुत्र को देखकर मैं पापी क्यों टुकड़े टुकड़े नहीं हो जाता? (२३)

मलयवती—हा प्राणनाथ! मैं बड़ी ही कठोर हूँ, जो इस तरह आपको देखकर अब भी प्राणों को नहीं त्याग रही हूँ।

वृद्धा—[नायक के अङ्गों को छूती हुई गरुड़ को लक्ष्य करके] निर्दयी, क्यों तूने मेरे पुत्र के नये रूप, यौवन तथा सुन्दरता से भरपूर शरीर की ऐसी हालत की है?

नायक—माताजी, ऐसा न कहिए। इसने क्या किया है? मेरा शरीर वास्तव में पहिले भी ऐसा-जैसा ही तो था। देखिये—

इस त्वचा से ढके हुए, 'शरीर' नामधारी, सदा घृणित दिखाई देनेवाले, चरबी, हड्डियाँ, मांस, मज्जा तथा खून के ढेर में क्या शोभा? (२४)

गरुड़—ऐ महात्मा, नरक की अग्नियों की लपटों से जला हुआ-सा अपने को अनुभव करते हुए मुझे यहाँ ठहरना मुश्किल हो रहा है, इसलिए उपदेश दीजिए कि किस प्रकार इस पाप से मुक्त होऊँ।

नायक—पिताजी, आज्ञा दीजिए, जिससे मैं इसको इस पाप के प्रतिपक्ष-प्रायश्चित्त-का उपदेश करूँ।

जीमूतकेतु—हाँ पुत्र, करो।

नायक—गरुड़, सुनो।

गरुड़—[घुटने टेक अँजुलि बाँधे]

प्राणि-हिंसा को सदा के लिए बन्द कर दो, पूर्व किये हुए हिंसा-कार्यों का प्रायश्चित्त करो और सभी प्राणियों को अभय-दान देते हुए यत्नपूर्वक पुण्य का ऐसा प्रवाह सञ्चित करो कि जिससे प्राणियों की हिंसा से उत्पन्न, फलोन्मुख हुआ (तुम्हारा) पाप इसमें डूबकर इस तरह न फले जैसे कि झील के अन्दर अगाध जल-समूह में डाला हुआ पल-भर नमक। (२५)

गरुड़—जैसी आपकी आज्ञा!—

अज्ञान-रूपी नींद में सोया और तुमसे जगाया जाता हुआ यह मैं आज से लेकर सभी प्राणियों की हिंसा से रुक जाता हूँ। (२६)

अब—

कहीं तो रेतीले तीर की तरह चौड़े-चौड़े फनों के समूहों से द्वीप-जैसा बना हुआ, कहीं शरीरों को कुण्डलाकार बनाये हुए आवर्त—जल-भँवर—का भ्रम पैदा करता हुआ और कहीं एक तीर से दूसरे को जाता हुआ पुल-जैसा दिखाई देने वाला नागों का समूह महासागर में आनन्द से विहार करे। (२७)

और भी—

बिखरे हुए, पैर तक लम्बे-लम्बे तथा घने अन्धकार की तरह (काले-काले) केशपाशों को धारण करती हुई, सूर्य की किरणों के प्रथम स्पर्श से सिन्दूर से-जैसे पुते हुए लाल-लाल गालों वाली तथा श्रम के कारण अंगों में अलसाई हुई भी (श्रमजनित) क्लेश की पर्वाह न करती हुई नाग-युवतियाँ इस चन्दनों के वन में तुम्हारी ही कीर्ति का प्रेम से गान करती रहें। (२८)

नायक—ठीक है महात्मा! ठीक। हम तुम्हारा अनुमोदन करते हैं। तुम सर्वथा अपने निश्चय पर अटल रहो। (शङ्खचूड को लक्ष्य करके) शङ्खचूड! तुम भी अब अपने घर जाओ।

शङ्खचूड—[आह खींचकर मुँह नीचे किये हुए खड़ा रहता है।]

नायक—[आह खींचकर माता की ओर देखता हुआ]—

तुम्हें गरुड़ की चोंच के अग्रभाग से फाड़ा हुआ समझती हुई तुम्हारी वह माता तुम्हारे दुःख से अवश्य दुःखी हो रही होगी। (२९)

वृद्धा—[आँसू बहाती हुई] वह माता धन्य है, जो गरुड़ के मुंह में पड़े हुए राजी-खुशी (लौटे) पुत्र का मुख देखेगी।

शङ्खचूड—माताजी! यह सत्य ही है, यदि कुमार (भी) राजीखुशी हो जाय।

नायक—[पीड़ा का अभिनय करता हुआ] हाय रे! परोपकार करने में अमृत के-जैसे आनन्द से विभोर होने के कारण अब तक पीड़ा मुझे मालुम नहीं हुई थी, किन्तु अब वह मर्म-स्थलों को छेदती हुई सताने लग गई है। [मृत्यु की हालत का अभिनय करता है।]

जीमूतकेतु—[घबराहट के साथ] हा पुत्र! ऐसा क्यों कर रहे हो?

वृद्धा—हाय! यह क्या हो रहा होगा? [छाती पीटती हुई] बचाओ, बचाओ! यह मेरा पुत्र मर रहा है।

मलयवती—हा नाथ! तुम हमें छोड़ना चाहते हुए-से दिखाई देते हो।

नायक—[अंजुलि बाँधना चाहता हुआ] शङ्खचूड! मेरे हाथों को मिला दे।

शङ्खचूड—[हाथों को मिलाता हुआ] हा कितने शोक की बात है कि संसार अनाथ बन गया है।

नायक—[आधी खुली हुई आँखों से पिता को देखता हुआ] पिताजी, माताजी, यह मेरा आखरी प्रणाम है।—

ये मेरे हाथ-पैर आदि अङ्ग चेतनता नहीं रखते; कान स्पष्ट अक्षरों और पं… वाली वाणी नहीं सुनता; दुःख है कि ये आँख भी एकाएक ही मूंद गई हैं; हा पिताजी, लाचार हुए मेरे ये प्राण जा रहे हैं। (३०)

अथवा ऐसा विलाप कर के क्या करूँगा ["संरक्षता पन्नगमेव पुण्यम्"—इत्यादि पढ़कर गिर पड़ता है।]

वृद्धा—हा पुत्र! हा बच्चे! हा माता-पिता के प्यारे! कहाँ हो! मुझे उत्तर दो!

जीमूतकेतु—हा पुत्र जीमूतवाहन! हा प्रेमी जनों के प्यारे! हा सब गुणों के खज़ाने! कहाँ हो? मुझे उत्तर दो। [हाथों को उठाकर] हाय हाय! मैं मर गया रे!

हे पुत्र! तुम्हारे परलोक सिधारने पर धैर्य विना आधार के हो गया है; नम्रता (अब) किसकी शरण जायगी? कौन इस जगत में क्षमा रख सकेगा? उदारता समाप्त हो गई है; सत्य सचमुच नष्ट हो गया है; बेचारी करुणा—दया—अब कहाँ जावे? संसार शून्य हो गया है। (३१)

मलयवती—हा नाथ! किस तरह छोड़ कर चले गये हो? अत्यंत निठुर मलयवती! तुझे अब क्या देखना है जो इस समय तक जीती है?

शङ्खचूड—हा कुमार! प्राणों से भी प्रिय इस जन को छोड़कर कहाँ चले गये हो? शङ्खचूड अवश्य ही तुम्हारे पीछे पीछे आ रहा है!

गरुड़—[उद्वेग के साथ] शोक की बात है कि यह महात्मा मर ही गया है। अब मैं क्या करूँ?

वृद्धा—[आँसू बहाती हुई ऊपर को देखकर] हे भगवान लोकपालों! किसी तरह अमृत सींचकर मेरे पुत्र को जिला दो।

गरुड़—[हर्ष के साथ मन ही मन] अरे अमृत का नाम लेने से मुझे ठीक याद आ गई है। ऐसा लग रहा है कि जैसे मेरा अपयश अब धुल गया है। तो अब इन्द्र से प्रार्थना करके उससे की गई अमृत-वर्षा से न केवल जीमूतवाहन को, बल्कि पहिले के खाये हुए, अस्थि-मात्र शेष रहे साँपों को

पुनरुज्जीवित कर देता हूँ। यदि वह अमृत नहीं देता तो मैं—

(पंखोंद्वारा) उत्पन्न किये गये अति सशक्त और वेगवाले वायुओं से तथा पंखों से समुद्र को ऊपर उछालता हुआ तथा आँखों की आग के दाह से व्याकुल हुए अग्नि-सहित बारहों सूर्यों को (अपने-अपने स्थानों पर से) गिराता हुआ मैं चोंच से इन्द्र के वज्र को, कुबेर की गदा को तथा यम के दण्ड को चूर-चूर करके युद्ध में देवताओं को जीतकर क्षणभर के लिए अमृत की वर्षा कर देता हूँ। (३२)

तो यह मैं चला।

[अक्कड़ के साथ इधर-उधर घूमकर चल पड़ा।]

जीमूतकेतु—पुत्र शङ्खचूड ! अब ठहरकर क्या करते हैं। लकड़ियाँ इकट्ठी करके मेरे पुत्र के लिए चिता तय्यार करो जिससे हम भी इसके साथ ही चल बसें।

वृद्धा—पुत्र शङ्खचूड, जल्दी-जल्दी तय्यार करो। दुःख है कि तुम्हारा भाई हमारे बिना खड़ा हो रहा होगा।

शङ्खचूड—जैसी आप लोगों की आज्ञा। इस बात में तो मैं आपसे भी आगे हूँ। (उठकर चिता बना करके) पिताजी, पिताजी, यह चिता तय्यार हो गई है।

जीमूतकेतु—महान् शोक की बात है।—

यह स्पष्ट दिखाई देनेवाली उष्णीष-रेखा मस्तक पर विराज रही है; भौंहों के बीच में यह बालों का भौंरा मौजूद है; आँखें कमल-जैसी हैं; छाती शेर से होड़ करती है; पैरों पर चक्र के चिन्ह हैं; तथापि हे पुत्र ! मेरे पापों से विद्याधरसम्राट् का पद प्राप्त किये बिना ही तुम किस तरह सदा के लिए विश्राम ले रहे हो? (३३)

रानी, और रोकर क्या करती हो? उठो, चितापर चढ़ें।

[सब के सब उठ खड़े होते हैं।]

मलयवती—[अंजुली बाँधे ऊपर देखती हुई] भगवती गौरी, तुमने आज्ञा दी थी कि विद्याधरों का चक्रवर्ती तुम्हारा पति बनेगा, तो मुझ अभागिन के लिए तुम भी झूठ बोलने वाली बन गई?

[तत्पश्चात् त्वरा के साथ गौरी का प्रवेश]

गौरी—महाराज जीमूतकेतु, नहीं, नहीं ऐसा साहस का काम नहीं करना चाहिए।

जीमूतकेतु—अये, ये तो गौरी देवी है, जिनका दर्शन कभी विफल नहीं जाता!

गौरी—[मलयवती को लक्ष्य करके] पुत्री, क्यों मैं झूठ बोलनेवाली बनूं?

[नायक के पास जाकर कमण्डलु का जल छिड़कती हुई]—

अपने प्राणों तक से भी जगत् का उपकार करने वाले तुमपर मैं प्रसन्न हूँ, इसलिए वत्स जीमूतवाहन, जी जाओ। (३४)

नायक—[खड़ा हो जाता है।]

जीमूतकेतु—[हर्ष के साथ] रानी, बधाई हो। पुत्र पुनर्जीवित हो गया है।

वृद्धा—भगवती गौरी की अनुकम्पा से।

[दोनों गौरी के चरणों पर पड़कर नायक को गले लगाते हैं।]

मलयवती—[हर्ष के साथ] सौभाग्य से प्राणनाथ पुनर्जीवित हो उठे। [गौरी के पैरों पर गिर पड़ती है।]

नायक—[गौरी को देखकर अंजुलि बाँधे] भगवती!—

हे इच्छा से भी अधिक वर दे डालने वाली! शरण में पड़े हुए लोगों की पीड़ा को हर लेनेवाली! शरणागतों का भला करनेवाली। विद्याधरों से पूजी जाने वाली, गौरी माता! तुम्हारे चरणों को मैं प्रणाम करता हूँ। (३६)

[गौरी के चरणों पर गिर पड़ता है।]

[सब ऊपर की ओर देखते हैं।]

जीमूतकेतु—अहो, बिना मेघों की वर्षा किस तरह? भगवती! यह क्या बात है?

गौरी—राजन् जीमूतकेतु! जीमूतवाहन तथा हड्डी-मात्र शेष रहे इन नाग-राज़ों को पुनर्जीवित करने के लिए पश्चात्ताप करने वाले गरुड़ ने स्वर्गलोक से यह अमृत-वर्षा की है। [अंगुली से दिखा करके] क्या आप नहीं देखते?—

(अपने पूर्ववर्ती) देह को ज्यों का त्यों प्राप्त किये हुए, स्पष्ट दिखाई देनेवाली फनों की मणियों से चमकते हुए शिरों से युक्त तथा जिह्वा के दोनों अग्रभागों से अमृतरस के स्वाद के लोभ के कारण पृथिवी को चाटते चाटते ये नागराज मलय-चल-की नदियों के वेग वाले जल-प्रवाहों की तरह टेढ़े-मेढ़े मार्गों से चलते हुए अब समुद्र में प्रवेश कर रहे हैं। (३६)

[नायक को लक्ष्य करके] पुत्र जीमूतवाहन! तुम जीवन-दान मात्र के ही योग्य नहीं हो; इसलिए तुम्हें यह और भी वरदान देती हूँ:—

हंसों से उपभुक्त स्वर्ण-कमलों की धूली के संसर्ग से होने वाले कीचड़ से रहित, मेरे मन रूपी मानसरोवर से उत्पन्न, महापवित्र, स्वेच्छा से बनाये गये

मणियों के घड़ों में रखे तथा स्वेच्छा से प्राप्त हुए जलों से अभिषेक करके यह

प्रसन्नता से तुम्हें क्षण-भर में विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा बनाती हूँ। (३७)

और भी।

यह सोने का चक्र सब से पहिले तुम्हारे सामने उपस्थित होवे, यह चार दाँतों वाला सफेद हाथी, काला घोड़ा, तथा मलयवती—इन रत्नों को भी, हे चक्रवर्ती, तुम (अपने सामने) देखो। (३८)

साथ ही यह भी देखो कि ये मतङ्ग-प्रभृति विद्याधरों के स्वामी शरत्कालीन चन्द्रमा की तरह स्वच्छ चँवरों को हाथों में रखे, मणियों की (रंग-बिरंगी) कान्तियों से (आकाश में) इन्द्रधनुषों को बनाये तथा भक्ति के साथ शिर नीचे झुकाये हुए तुम्हें प्रणाम कर रहे हैं। अब बोलो, इससे अधिक उपकार तुम्हारा क्या करूँ?

नायक—[घुटने टेक कर] इससे भी अधिक प्रिय बात क्या हो सकती है?—

यह शङ्खचूड गरुड़ के भय से बचा दिया है; गरुड़ को सीधा बना दिया है; उसने जो नागराज पहिले खा रखे थे—वे सब के सब जिला दिये हैं; मेरे प्राणों के पुनः प्राप्त हो जाने से माता-पिता ने प्राण नहीं त्यागे; चक्रवर्ती राज्य मिल गया है, और हे देवी! आपके दर्शन हो गये हैं; इससे अधिक प्रिय बात क्या है, जो अब माँगूँ? (३९)

तथापि यह हो जावे:—

[भरतवाक्य]

हर्ष-पूर्ण मयूरों का ताण्डवनृत्य रखे हुए बादल समय-समय पर वर्षा करते रहें तथा पृथिवी को उगे हुए निरन्तर हरे रंग के धान्यादिक की चादर ओढ़े बनाये रखें; द्वेष-रहित मन से पुण्यों का सम्पादन करते हुए, विपत्तियों से रहित तथा बन्धु-बान्धवों और मित्रजनों की मण्डलियों में आमोद-पूर्ण हो कर प्रजाजन निरन्तर आनन्द भोगते रहें। (४०)

और भी—

चराचरात्मक सकल विश्व का कल्याण हो, प्राणीवर्ग परोपकार में लगा रहे, बुराइयाँ दूर हो जायँ और सभी जगह लोग सुखी रहें। (४१)

समाप्त

परिशिष्ट (१)

नागानन्द-नाटक में आये हुए सर्वसाधारण तथ्य के प्रतिपादक वाक्य तथा सुभाषित

प्रथम अङ्क

१—"आयासः खलु राज्यमुज्झितगुरोस्तत्रास्ति कश्चिद्गुणः।"

नायक की विदूषक के प्रति उक्ति है—

माता-पिता की उपस्थिति में, उनकी सेवा में ही सब पदार्थ अच्छे लगते हैं। पिता की छत्रछाया हो, माता का अतुलित स्नेह हो—यही सब से अच्छी बात है। यदि जीवन में कष्ट भी हो, तो भी मनुष्य को कोई कष्ट प्रतीत नहीं होता, जीवन आनंद-मय ही रहता है, किन्तु माता-पिता के विना चाहे कितने ही सुख क्यों न हों, जीवन नीरस ही रहता है। उपभोग की विविध सामग्री बेकार-सी रहती है। राज्य भी मिल जाय, किन्तु यदि पुत्र के ऊपर माँ-बाप की छाया नहीं है, उनके आसीसों का गले पर हार नहीं, उनके वात्सल्य की सुरसरिता का घर में प्रवाह नहीं, तो राज्य भी सुखमय नहीं प्रतीत होता। माता-पिता को छोड़ कर मिले हुए राज्य का कुछ भी महत्त्व नहीं, वह एक नरक है।

२—"वन्द्याः खलु देवताः।"

विदूषक के साथ गौरीमन्दिर के पास घूमते हुए नायक की उक्ति—

देवताओं की अवश्य वन्दना करनी चाहिए। वे सभी के पूज्य हुआ करते हैं, वे परमात्मा के ही प्रतीक होते हैं, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के हों। देवताओं के प्रति श्रद्धा रखते हुए उनका आदर करने में ही श्रेय होता है और अपमान में अनर्थ।

३—"निर्दोषदर्शनाः कन्यका भवन्ति।"

नायक की विदूषक को उक्ति—

लड़कियों को देखने में कोई बुराई नहीं होती, क्योंकि उनका विवाह नहीं हुआ रहता है। जब लड़की ब्याह दी जाती है और जब उसपर किसी एक की

स्वत्व हो जाता है, तब उसकी तरफ देखना भी अधर्म है, अनैतिक कार्य है। शास्त्रों में तथा नैतिक दृष्टि में दूसरों की स्त्रियों को बुरी निगाह से देखना अपराध है। 'मातृवत् परदारेषु' ही हम भारतीयों का आदर्श है, किन्तु ये सब बातें कन्याओं पर लागू नहीं होतीं। उनको देखने में कोई निषेध नहीं, ना ही कोई अनैतिकता है।

४—"सर्वस्याभ्यागतो गुरुः।"

नायक के प्रति आदरभाव प्रकट करते हुए तापस द्वारा उद्धृत वाक्य—

जो मनुष्य घर में आया हुआ हो, अर्थात् जो हमारा अतिथि बना हुआ हो, वह आदर का पात्र होता है। 'अतिथिदेवो भव' यह हमारी संस्कृति का विशेष अङ्ग है। यह सभी के लिए समान बात है। वे अपने अतिथियों का—जितना हो सके—आदर-सन्मान करें। अतिथियों को गुरु की तरह पूज्य और मान्य समझना चाहिए। यदि शत्रु भी घर में आ जाय, तो हमारे आचार-शास्त्रानुसार वह भी हमारा उतना ही आदरणीय होता है जितना कि मित्र या अन्य पुरुष। यही भारतीय सभ्यता है।

द्वितीय अङ्क

१—"किं मधुमथनो वक्षःस्थलेन लक्ष्मीमनुद्वहन् निर्वृत्तो भवति?"

चेटी की नायिका के प्रति नायक के प्रेम का विश्वास दिलाते हुए उक्ति—

भगवान विष्णु हमेशा लक्ष्मी से ही प्रेम किया करते हैं। लक्ष्मी को अपने साथ न रखे विष्णु को क्या कभी चैन हो सकता है? कभी नहीं। लक्ष्मी तो भगवान की 'गलकण्ठी' है; इसे किस तरह छोड़ सकते हैं। इसी तरह नायक का भी तुम पर पूरा प्रेम है। विना तुम्हें प्राप्त किये चैन नहीं हो सकता, इसलिए उसके प्रेम की तरफ से तुम निश्चिन्त रहो। तुम उसी की हो और वह तुम्हारा ही है।

२—"किं सुजनः प्रियं वर्जयित्वा अन्यत् भणितुं जानाति?"

चेटी की बातों पर विश्वास करती हुई नायिका की उक्ति—

अच्छे लोग सदा प्रिय ही बोलना जानते हैं, अप्रिय नहीं। वे ऐसी कोई बात नहीं कहेंगे, जिससे हृदय पर चोट लगे। यदि कोई सच्ची बात हो, किन्तु हृदय को अप्रिय हो, तो वे उसे नहीं बोलेंगे। "न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्" हमारा नीति-शास्त्र है; इसलिए सुजन और मित्रलोग मीठा ही बोला करते हैं, कड़वा नहीं।

३ —" न शक्यते चित्तमन्यतः प्रवृत्तमन्यतः प्रवर्तयितुम् ।"

नायिका के भाई मित्रावसु के अपनी बहिन के सम्बन्ध में नायक के प्रति विवाह-प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए नायक की उक्ति—

मन की गति निराली ही है। वह जब किसी वस्तु पर लगा जाता है, तो उसका वहां से हटाना सरल काम नहीं होता; बार-बार वह वहीं पर जायगा और वहीं टिका रहेगा। विशेषतः प्रेम के सम्बन्ध में तो यह बात और भी पक्की है। मन जिसको प्रेम करने लग जाता है, फिर उसी पर प्रेम करता चला जाता है और उसके लिए सब कुछ बलिदान करने को तय्यार रहता है। घर-बार, माता-पिता, समाज तथा समाज की मर्यादा उसके अटल निश्चय को नहीं बदल सकते। कालिदास के शब्दों में—" क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेत् "। अर्थात् किसी चीज पर रमे हुए मन तथा नीचे की ओर बहते हुए जल को कौन उल्टा वापस ला सकता है ? इस उक्ति में एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की व्याख्या है।

४—"रत्नाकराद् ऋते कुतश्चन्द्रलेखायाः प्रसूतिः ? "

नायक की नायिका के सबन्ध में उक्ति—

समुद्र में रत्न हुआ करते हैं, वह रत्नाकर है। उससे ही रत्न पैदा होते हैं और जगह नहीं। चन्द्रमा भी एक रत्न है, रत्न-जैसी वस्तु है। वह समुद्र से ही पैदा हुआ है। जब देवताओं और असुरों ने मिलकर समुद्र का मन्थन किया था, तब समुद्र से चौदह रत्न निकले थे जिनमें एक चन्द्रमा भी था। रत्नों को पैदा करने के कारण ही समुद्र का रत्नाकर (रत्नों की खान) नाम पड़ा है। चन्द्रमा-जैसा दुनिया का रत्न भला रत्नाकर को छोड कर और कहाँ पैदा हो सकता है ?

चन्द्रमा की रत्नाकर से ही उत्पन्न होने की बात कह कर नायक अपनी प्रणयिनी का उच्च राजपरिवार से सम्बन्ध सिद्ध करता है, क्योंकि ऐसी परमसुन्दरी और गुणवती उच्च कुल को छोडकर अन्यत्र पैदा हो ही नहीं सकती ?

५—"अन्योन्यदर्शनकृतः समानरूपानुरागकुलवयसाम् ।
केषाञ्चिदेव मन्ये समागमो भवति पुण्यवताम् ॥"

अपना मलयवती के साथ विवाह निश्चय होने पर नायक की उक्ति—

संसार में विवाह तो होते रहते ही हैं, किन्तु सफल विवाह बहुत कम मिलते

हैं। कुछ जाति के बन्धन, समाज की मर्यादा, तथा माता-पिता अथवा अभिभावकों दायित्वों के कारण अधिकतर विवाह मन के अनुकूल नहीं होते हैं, जिससे प्रेम का पूर्ण उपभोग नहीं होने पाता है। ऐसे भाग्यशाली बहुत ही विरले मिलेंगे, जिनका विवाह सब तरह से निर्दोष हो। विवाह के लिए एक दूसरे का साक्षात्कार आवश्यक है—आँखें चार होने पर अङ्कुरित हुआ प्रेम ही स्थायी बन सकता है; साथ ही रूप, अनुराग, कुल और उम्र भी समान ही होने चाहिएँ। कहीं पति-पत्नी का परस्पर रूप ही नहीं मिलता, तो कहीं कुल और आयु ही नहीं मिलते और न परस्पर अनुराग ही रहता है। ऐसे विवाह जबर्दस्ती के विवाह हैं, स्वाभाविक नहीं।

तृतीय अङ्क

१—"कीदृशो नवमालिकया विना शेखरकः ?"

अपनी पत्नी नवमालिका की अनुपस्थिति में विट की उक्ति—

शेखरक शिरपर पहिरने का फूलों का मुकुट होता है। उसमें सभी प्रकार के फूल रहते हैं जिससे उसकी शोभा, साथ ही उसकी भी शोभा, जो इसे पहनता है, खूब झलकती है, किन्तु उस मुकुट में अन्य फूलों के साथ नवमालिका—वेला का फूल—चार चाँद लगाये रहता है। यदि नवमालिका न हो, तो शेखरक की कोई शोभा नहीं, क्योंकि नवमालिका ही सब फूलों की रानी होती है। उसकी सुगन्धि और रूपच्छटा ही निराली रहती है।

उपरोक्त वाक्य में शेखरक और नवमालिका के दो दो अर्थ हैं। शेखरक पुष्पमुकुट के साथ विट का भी नाम है, इसी तरह नवमालिका जहाँ वेला को कहते हैं, वहाँ यह विट की पत्नी का भी नाम है। बेचारे विट—शेखरक—की अपनी पत्नी—नवमालिका—के विना उसी प्रकार कोई शोभा नहीं होती जिस प्रकार कि नवमालिका—वेला—के विना शेखरक—पुष्पमुकुट—की।

२—"अत्यादरोऽनर्थीभूतः।"

विवाह में विदूषक पर पहनाये गये शेखरक—पुष्पमुकुट—की सुगन्धि के कारण भौंरों के टूट पड़ने पर विदूषक की उक्ति—

प्रत्येक बात अपनी सीमा के भीतर ही अच्छी रहती है, किन्तु यदि किसी बात का 'अतियोग' हो तो अच्छी होने पर भी उसका परिणाम बुरा होता है।

उदाहरण के तौर पर आदर-सन्मान ही ले लीजिए। सीमा के भीतर हुआ आदर अच्छा होता है, किन्तु यदि आदर बहुत ही अधिक किया जाय, तो समझ लो कि दाल में कुछ काला है; उस 'अतिआदर' के भीतर अवश्य कुछ अनर्थ है, इसलिए—'अति सर्वत्र वर्जयेत्' ही ठीक है।

विदूषक का नायक के विवाह के अवसर पर यह समझ कर कि वह नायक का मित्र है बहुत आदर-सन्मान किया गया, कल्पवृक्ष के फूलों का मुकुट उसे पहनाया गया, रेशमी कपड़े भेंट किये गये, किन्तु परिणाम यह हुआ कि बेचारे पर तरह तरह के 'मधुकर' टूट पड़े जिससे उसका जीवन ही मुसीबत में पड़ गया था।

३—"जाता वामतयैव मेऽद्य सुतरां प्रीत्यै नवोढा प्रिया।"

अपनी नवविवाहित पत्नी के पहले-पहल टेढ़े-मेढ़े रहने पर नायक की उक्ति—

नवविवाहित प्रिया जैसी भी हो, बहुत ही अच्छी लगती है। तुम उसे देखो, तो वह आँखें नहीं मिलायेगी, प्रत्युत दृष्टि नीचे कर लेगी; बोलो, तो जवाब तक नहीं देगी, मुँह फेरे खड़ी रहती है और फिर सामने से खिसक जाती है। ये सब बातें उल्टी-टेढ़ी हैं और साधारण अवस्था में अपराध अथवा धृष्टता हैं, किन्तु दाम्पत्य के राज्य में ये उपादेय होती हैं, और रोष के स्थान में पति को और भी अधिक आनन्द देनेवाली होती हैं।

४—"स्वाङ्गैरेव विभूषिताऽसि वहसि क्लेशाय किं मण्डनम्?"

अपनी परमसुन्दरी नायिका के शरीर पर पहने गहनों की ओर लक्ष्य करके नायक की उक्ति—

तुम अपने शरीर में सुन्दरता लाने के लिये गहने पहन रही हो, पर यह तो तुम्हारे लिए बेकार ही नहीं, बल्कि तुम्हें क्लेश भी दे रहे हैं। भूषण उन्हीं को चाहिए, जो अपने को सुन्दर दिखाना चाहती हैं, किन्तु जिनके अङ्ग-अङ्ग में सौन्दर्य निखर रहा है, जो स्वयं सौन्दर्य के भी सौन्दर्य हैं, उनके शरीर में भूषण होवें तो क्या, और न होवें तो क्या। उनका शरीर ही स्वयं सौन्दर्य की जीवित प्रतिमा है। गहनों-आदि से लाया हुआ सौन्दर्य नैसर्गिक सौन्दर्य की क्या बराबरी करे? इसलिए वास्तविक सुन्दरियों के लिए भूषणों की कोई आवश्यकता नहीं; वे केवल भार ही होते हैं।

५—"एकः श्लाघ्यो विवस्वान् परहितकरणायैव यस्य प्रयासः।"

परोपकार में लगे हुए सूर्य को देखकर नायक की उक्ति—

संसार में सैकड़ों जन्मते हैं और मरते हैं, किन्तु विरला ही लोगों की श्लाघा का पात्र बनता है। सूर्य भगवान् ही एकमात्र जो जगत् के श्रद्धा-भाजन बने हुए हैं, उसका कारण यही है कि अपने क्लेशों की पर्वाह न करते हुए वे दिनभर जगत् की भलाई में ही लगे रहते हैं। निद्रा में प्रसुप्त संसार को जगाकर अपने 'करों' से सब को प्रसन्न कर देते हैं और नित्य नया जीवन देते रहते हैं। तभी तो सारा संसार प्रातःकाल उठकर नित्यप्रति अंजुलि बाँधे सूर्य की स्तुति करता है। इस तरह संसार में सराहनीय जीवन उसी का है, जो परोपकार करता है, जिससे किसी का भला होता है और जो स्वार्थ की अपेक्षा परार्थ को ही महत्त्व देता है।

चतुर्थ अङ्क

**१—"सर्वाशुचिनिधानस्य कृतघ्नस्य विनाशिनः।
शरीरकस्यापि कृते मूढाः पापानि कुर्वते॥"**

गरुडद्वारा सैकड़ों नागों की हत्या देखकर खिन्न हुए नायक की उक्ति—

संसार में अज्ञानवश अधिकतर लोग शरीर को ही महत्त्व देते हुए पाये जाते हैं। "मेरा पेट भर जाय, बाकी जावें रसातल को" इस भावना को लेकर रातदिन अपने स्वार्थ में जुटे हुए आये दिन प्राणियों पर अत्याचार ढाये रहते हैं। वे महान् मूर्ख हैं। वे इतना भी नहीं समझते कि जिस शरीर के लिए हम इतना पाप कर रहे हैं वह मलमूत्रादि गन्दी-गन्दी वस्तुओं का पुतला है; यह कृतघ्नी है, क्योंकि इसको खलाओ-पिलाओ और बनाओ-ठनाओ, पर अंत में यह साथ नहीं जाता, जीव को छोड़ देता है; यह विनाशवान भी है; आज है तो कल नहीं। इस प्रकार गन्दे, धोकेबाज़ और क्षणभङ्गुर देह के लिए पाप करना कितनी मूर्खता की बात है। दो दिन टिकने वाले शरीर से समझदार लोग तो उपकार और पुण्यसंचयन किया करते हैं, किन्तु अज्ञानी लोग अपकार और पाप ही कमाते हैं—यह आश्चर्य की बात नहीं है तो क्या ?

नायक का गरुड़ की तरफ संकेत है कि वह अपने पेट के लिए नागों की हत्या करके पाप कमा रहा है।

२—" क्रोडीकरोति प्रथमं यदा जातमनित्यता।
धात्रीव जननी पश्चात् तदा शोकस्य कः क्रमः ?॥"

अपने को गरुड़ के लिए बलि देने को जाते हुए शङ्खचूड की अपनी माता को उक्ति-

जब प्राणी का जन्म होता है, तभी अनित्यता उसके पीछे लग जाती है क्योंकि जो जन्मता है वह अवश्य मरेगा ही, इसलिए जन्मते हुए प्राणी की मृत्यु जन्म के समय ही निश्चित हो जाती है। अनित्यता बच्चे को अपनी गोद में पहिले रखती है, माता तो दाई की तरह उसे पीछे गोद में लेती है। जब मरना निश्चित ही है, तो फिर मरने से क्या डर और क्या शोक ? प्रसन्नता के साथ ही मृत्यु का सामना करना चाहिए और ना ही मरने पर रोना-धोना चाहिए। मृत्यु तो एक प्राकृतिक तथ्य है। कालिदास भी कहते हैं—" मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्। " इसलिए इसकी चिन्ता करना मूर्खता है।

३—" जायन्ते च म्रियन्ते मादृशाः क्षुद्रजन्तवः।
परार्थे बद्धकक्षाणां त्वादृशामुद्भवः कुतः ?॥"

नायक को शङ्खचूड़ की उक्ति—

मेरे-जैसे क्षुद्र जीव संसार में जन्मते रहते हैं और मरते रहते हैं। संसार में जीवों की कमी नहीं है, किन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं, जो परोपकार के लिए कमर कसे रातदिन प्राणियों की भलाई करते रहते हैं। परमात्मा की यह विशेष कृपा ही समझिए कि कभी-कभी कोई महात्मा पृथिवी में अवतीर्ण होकर प्राणियों का कल्याण कर देते हैं, नहीं तो अधिकतर दुनिया पापियों की ही बस्ती है।

४—" परोपकाराय शरीरलाभः।"

शङ्खचूड के स्थान में गरुड़ को अपनी बलि देते हुए नायक की उक्ति—

संसार में शरीर-प्राप्ति का प्रयोजन लोग अपना भोग-विलास ही समझते हैं जोकि उनकी बड़ी भारी भूल है। हमें मानव जन्म मिला है इसलिए कि इससे कुछ भलाई कर सकें। क्षणभङ्गुर शरीर द्वारा कुछ ऐसी चीज कमाएँ जो हमारे शरीर के बाद भी संसार में टिक सके और ऐसी चीज़ है प्राणियों के उपकार द्वारा सञ्चित पुण्य। जिस शरीर ने केवल पेट ही भरा, किसी का कुछ भला नहीं किया, वह शरीर हुआ तो क्या और न हुआ तो क्या ?

पञ्चम अङ्क

१—" स्वगृहोद्यानगतेऽपि स्निग्धे पापं विशङ्क्यते स्नेहात् । "

नायक के घर से बाहर चले जाने पर अनिष्ट की शंका करते हुए घर के लोगों को लक्ष्य करके प्रतीहार की उक्ति—

जिस मनुष्य का जिस पर स्नेह रहता है वह उस की अनुपस्थिति में चिन्तित हो उठता है और उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की आशंकायें और भय करने लग जाता है । प्रिय जन का बाहर जाना तो क्या, यदि वह घर के ही उद्यान में या घरके ही आँगन में गया हुआ आँखों से परे हो जाय, तो मन में उसकी तरफ से चिन्ता हो जाती है कि पता नहीं उसपर क्या मुसीबत आ पड़ी है जो अभी तक वापस हमारे पास लौटकर नहीं आया । वास्तव में प्रेम है ही ऐसी वस्तु, जो बहुत कातर है, उसमें धीरज नहीं, समझ नहीं; केवल आकुलता और अनिष्ट-शंका ही घर किये बैठी रहती हैं । कालिदास ने भी स्नेह के इस स्वभाव को ऐसे ही जैसे शब्दों में यों प्रकट किया है—" अतिस्नेहः पापशङ्की । "

२—" आत्मीयः पर इत्ययं खलु कुतः सत्यं कृपायाः क्रमः । "

गरुड़ द्वारा खाये गए अपने पुत्र को देखकर नायक के पिता जीमूतकेतु की उक्ति—

वास्तव में जब दया करनी होती है, तो उस समय यह विचार अपने मन से एक दम हटा देना चाहिए कि अमुक व्यक्ति पर इसलिए पहिले दया करनी चाहिए कि वह मेरा कुछ लगता है और अमुक व्यक्ति पर इसलिए दया नहीं करनी चाहिए या दया पीछे करनी चाहिये कि वह मेरा कुछ भी नहीं लगता । दया के क्षेत्र में मेरा और पराया यह भेदभाव नहीं होना चाहिए; वह तो प्राणीमात्र के लिए समानरूप से होनी चाहिए । अपना समझ कर दया करना दया नहीं, प्रत्युत स्वार्थ-सम्पादन है; पराया समझ कर दया न करना द्वेषबुद्धि है । वास्तविक दया में स्वार्थ और द्वेष के लिए कोई स्थान नहीं । प्राणीमात्र के लिए एक जैसी दृष्टि से की जानेवाली दया ही सच्ची दया कहलाती है ।

३—" मेदोऽस्थिमांसमज्जाऽसृक्संघातेऽस्मिंस्त्वचाऽऽवृते ।
शरीरनाम्नि का शोभा सदा बीभत्सदर्शने ? ॥ "

पुत्र के आधे खाये हुए भद्दे शरीर को देख शोक करते हुए पिता के प्रति नायक की उक्ति—

लोग शरीर को अधिक महत्त्व देकर उसको सुन्दर बनाये रखने के लिए प्रयत्न-शील रहते हैं; ऐसा कोई काम नहीं करते, जिससे शरीर की शोभा बिगड़ जाय। किन्तु वास्तव में देखा जाय, तो शरीर में सौन्दर्य या शोभा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं। यदि शरीर का विश्लेषण किया जाय, तो उस में ऐसी कोई चीज नहीं मिलेगी जिसे हम सुन्दर कह सकें। उसमें चरबी, हड्डी, मांस और खून आदि गंदी वस्तुएँ ही भरी पड़ी हैं; सिर्फ बाहर से चमड़ी का आवरण पड़ा रहता है जिससे कि ये गन्दी चीजें ढकी-सी रहती हैं। इस तरह शरीर एक घृणित वस्तु है। इसे सुन्दर और शोभावाला कहना भूल है।

४—"शिवमस्तु सर्वजगतां परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः॥"

यह भरत-वाक्य—नाटक की अन्तिम प्रार्थना है—

संसार के सभी प्राणियों का कल्याण हो; किसी का भी किसी तरह अनिष्ट न होवे। प्राणी स्वार्थ को त्याग कर, परोपकार में ही जीवन को लगावे। हमारी बुराइयाँ दूर हों और हम दुर्लभ मानवजन्म पाकर गुणों का संचय करें जिससे कि जीवन सफल बने। संसार में कहीं भी किसी को दुःख न मिले, सब सदा सुखी रहें।

प्राणीमात्र के प्रति सद्भावना रखना; सब को सुखी देखना तथा सबका कल्याण चाहना—भारतीय सभ्यता की विशेषता है जो इस पद्य में बताई गई है।

परिशिष्ट (२)

नागानन्द में आये हुए पद्यों की वर्णक्रमानुसार सूची

पद्य	अंक	पद्य
१ अक्लिष्टबिम्बशोभा॰	२	८
२ अग्रेसरीभवतु	५	३८
३ अज्ञाननिद्राशयितो॰	५	२६
४ अनया जघनाभोग॰	१	२०
५ अनिहत्य तं सपत्नं	३	१४
६ अन्तःपुराणां विहित॰	४	१
७ अन्योन्यदर्शनकृत॰	२	१४
८ अभिलषिताधिकवरदे	५	३५
९ अमी गीतारम्भैः	३	८
१० अस्मिन् वध्यशिलातले	४	२३
११ अस्या विलोक्य मन्ये	४	१२
१२ आत्मीयः पर इत्ययम्	५	२१
१३ आदावुत्पीडपृथ्वीं	५	[illegible]
१४ आमोदानन्दितालिः	४	[illegible]

Pp. 1-224 Printed by V. P. Bhagwat at the Mouj Printing Bureau, Bombay 4 and Published by S. K. Jain, Managing Proprietor, Bharati, Publishers, at 20 Model Basti, Delhi.

Pp. 1-224 Printed by V. P. Bhagwat at the Mouj Printing Bureau, Bombay 4 and Published by S. K. Jain, Managing Proprietor, Bharati, Publishers, at 20 Model Basti, Delhi.